राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति

यादवेन्दु

मानसरोवर - कमल—३

राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति

दो भागों में

भूमिका-लेखक

श्री सम्पूर्णानन्द

लेखक

रामनारायण यादवेन्दु, बी० ए०, एल-एल० बी०

मुरादाबाद

मानसरोवर-साहित्य-निकेतन

प्रकाशक
मानसरोवर-साहित्य-निकेतन
मुरादाबाद

प्रथम-संस्करण
जुलाई १९३६

मूल्य सजिल्द साढ़े तीन रुपया

मुद्रक
श्री गुरुराम विश्वकर्मा 'साहित्यरत्न'
सरस्वती-प्रेस, बनारस कैंट
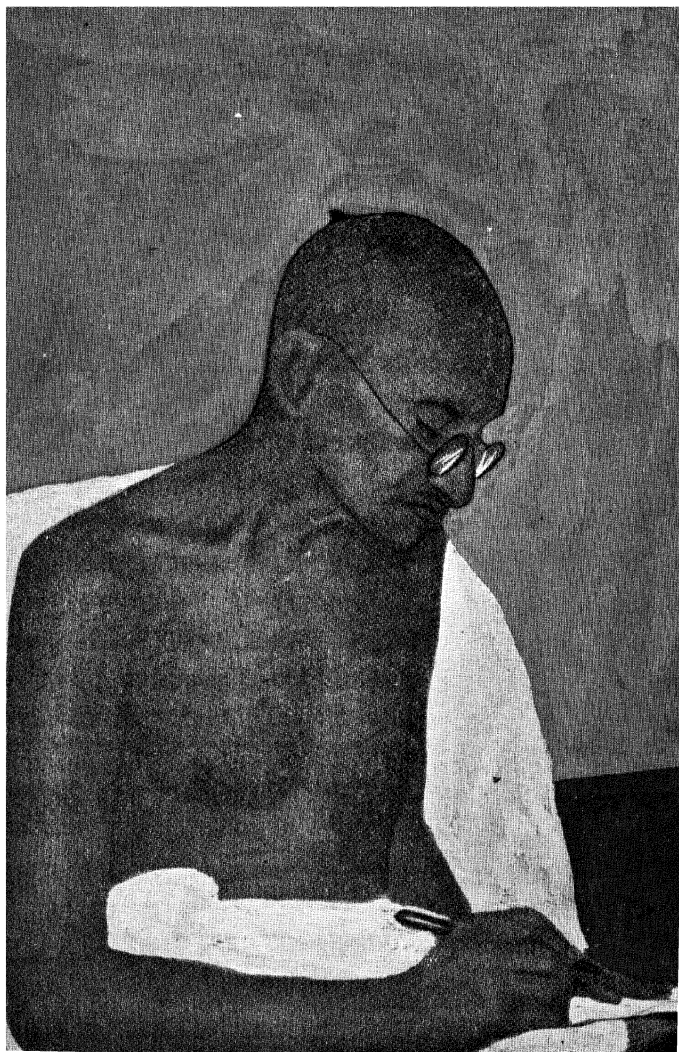
महात्मा गान्धी

प्रकाशक के शब्द

प्रिय पाठको,

'राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति' शीर्षक पुस्तक को आप लोगों के सामने रखते हुए हमें आज जितनी ज्यादा प्रसन्नता हो रही है, उसको हम लिखकर ठीक-ठीक प्रकट नहीं कर सकते। हमारे विचार में प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी भाषा का एक उज्ज्वल रत्न है और इसे लिखकर लेखक ने न केवल अपने व्यक्तित्व को हिन्दी के सच्चे सेवकों में अमर कर दिया है ; बल्कि हिन्दी-भाषा को एक अति उज्ज्वल गौरव प्रदान करके एक ऐसी भारी सेवा की है, जिसका समुचित आदर करना प्रमुख साहित्य-संस्थाओं का ख़ास फ़र्ज़ है। हिन्दी माँ के एक बड़े अभाव की पूर्ति आज हो गई है और इसके लिए आप लोगों का आनन्दित होना स्वाभाविक है।

समय कम था, परिस्थिति जटिल थी और कठिनाइयाँ ज़रा ज्यादा थीं, इस वजह से हमने जिस रूप में इस पुस्तक को निकालना चाहा था, उस रूप में नहीं निकाल सके। बहुत-सी खास-खास बातें इसमें

जोड़ने से रह गईं। जहाँ तक हो सका, वहाँ तक साधन एकत्र करके पुस्तक वर्तमान रूप में आपके सामने आई है, जिस समय पुस्तक प्रेस में गई थी, उस समय इटली-एबीसीनिया-युद्ध ज़ोरों में था। अतएवं पुस्तक को बिल्कुल अप-टु-डेट बनाने के उद्देश्य से हमने तत्सम्बन्धी एक अध्याय भी परिशिष्ट में जोड़ दिया। जहाँ तक हम समझते हैं, पुस्तक में गत यूरोपीय महा-समर से लेकर इटली-एबीसीनिया-युद्ध के आरम्भ होने तक की और राष्ट्र-संघ के इटली के विरुद्ध दण्डाज्ञाएँ जारी करने के फैसले तक की समस्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक परिस्थिति का विशद विवेचन है। उसके बाद की हुई घटनाएँ अभी हाल ही की हैं और विद्वान् पाठक उनसे अवश्य ही परिचित होंगे, ऐसी आशा है। इस प्रकार पाठक देखेंगे, कि प्रस्तुत पुस्तक एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक रचना है, जो हिन्दी प्रेमियों को अभी तक अप्राप्य ही थी।

अन्त में अपनी त्रुटियों और गलतियों के लिए आपसे क्षमा माँगते हुए, हम आशा करते हैं, कि आप इसे सच्चे दिल से अपनायेंगे और इसे उचित स्वागत प्रदान कर अपने मातृ भाषा-प्रेम का प्रमाण देंगे। समस्त हिन्दी-प्रेमियों, लेखकों, सम्पादकों और पत्रकारों से हमें पूर्ण आशा है, कि वे हमें अपना प्रेम-पूर्ण सहयोग देकर भविष्य में हमें और भी अधिक महत्त्वपूर्ण और ऊँचे स्टैण्डर्ड की पुस्तकें निकालने का प्रोत्साहन प्रदान करेंगे।

सेवक—

राजनारायण
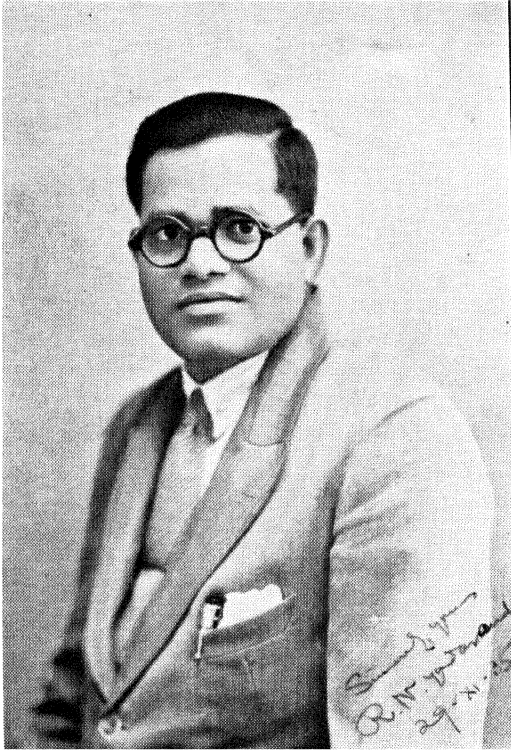
ग्रंथकार

आत्म-निवेदन

आज अन्तर्राष्ट्रीय का युग है। वह युग बीत गया, जब प्रत्येक देश आत्म-निर्भरता के सिद्धान्त का पालन बड़ी आसानी से कर सकता था। आज यदि संयुक्तप्रान्त के किसानों में कोई अशान्ति पैदा होती है, तो उसका प्रभाव भारत ही नहीं ; प्रत्युत सारे जगत् की राजनीति पर पड़े बिना नहीं रह सकता । आधुनिक विज्ञान और वैज्ञानिक आविष्कारों ने विश्व में एकता का प्रादुर्भाव करने के लिए बहुत-सी सुविधाएँ प्रदान कर दी हैं ; परन्तु दुर्भाग्य से यही वैज्ञानिक उत्कर्ष विश्व के पतन का एक बड़ा साधन सिद्ध हो रहा है। भारतवर्ष विश्व की राजनीति में एक प्रमुख स्थान रखता है ; इसलिए अब प्रत्येक भारतवासी का यह कर्तव्य है कि वह विश्व की राजनीति का सम्यक् ज्ञान रखे। संसार में जो नवीन सिद्धान्त, विचार और आन्दोलन समय-समय पर प्रादुर्भूत होते रहते हैं, उनका हम पर, हमारे सामाजिक जीवन पर, हमारी राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ता है—हमारे समाज-निर्माण और स्वाधीनता-प्राप्ति में उनसे कहाँ तक प्रेरणा और स्फूर्ति मिलती है—इन पर विचार करना प्रत्येक बुद्धिमान भारतीय नागरिक का कर्तव्य है।

इसी उद्देश्य को अपने सामने रखकर मैंने 'राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति' की रचना की है। इस पुस्तक की रचना में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, यह तो विद्वान् समालोचक बतलाएँगे ; पर इस

विषयक यह हिन्दी में प्रथम प्रयास है। मैंने पुस्तक को सब प्रकार से परिपूर्ण और सर्व-साधारण के लिए उपयोगी तथा ज्ञानवर्द्धक बनाने की चेष्टा की है। आशा है, विज्ञ पाठक मेरी इस रचना को स्वीकार करेंगे।

इस पुस्तक की रचना में जिन महानुभावों ने मुझे सहायता प्रदान की है, उनमें निम्न-लिखित सज्जनों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं— श्रीयुत निकोलस बटलर मरे, डायरेक्टर कारनेगी इन्डोमेन्ट न्यूयार्क (अमरीका) श्रीयुत ए० सी० चटर्जी, लीग आफ नेशन्स (जिनेवा) यूरोप, श्रीयुत मैक्सवैल गारनेट, मन्त्री राष्ट्र-संघ यूनियन (लन्दन) श्री० एम० वी० वेंकटास्वारन, ऑफिसर-इन्चार्ज राष्ट्र-संघ इण्डियन ब्यूरो, बम्बई। उपर्युक्त महानुभावों ने मुझे राष्ट्र-संघ-सम्बन्धी साहित्य और आवश्यकीय सूचनाएँ भेजकर बड़ी सहायता दी है; एतदर्थ मैं इस कृपा के लिए उपर्युक्त विद्वानों का अतीव कृतज्ञ हूँ। श्री० डाक्टर हेमचन्द्रजी जोशी व श्री इलाचन्द्रजी जोशी द्वारा सम्पादित मासिक 'विश्वमित्र' (कलकत्ता) तथा काशी के 'आज' दैनिक पत्र के अंकों से भी सहायता ली गई है; इसलिए मैं इन महानुभावों का हृदय से आभारी हूँ। प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वद्वर डॉ० भगवानदासजी D. Lit, M, L. A. ने भी अपनी उपयोगी सूचनाएँ देकर मुझे अनुगृहीत किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सुप्रसिद्ध पंडित श्री सम्पूर्णानन्दजी B. Sc. L-T. (काशी) ने मेरी इस सारहीन रचना की भूमिका लिखकर उसे जो महत्त्व प्रदान किया है, उसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

अन्त में मैं अपने प्रिय मित्र श्री० राजनारायणजी मेहरोत्रा, अध्यक्ष मानसरोवर-साहित्य-निकेतन, मुरादाबाद को हृदय से धन्यवाद देता हूँ कि जिन्होंने मेरी रचना को प्रकाशित कर हिन्दी-जगत् का बड़ा उपकार किया है।

विज्ञ पाठकों के अध्ययन में सहायता देने के लिए मैंने सहायक-पुस्तकों की सूची (Bibliography) पुस्तक के अन्त में दे दी है। जो पाठक विस्तार-पूर्वक अध्ययन करना चाहेंगे, उन्हें इससे सहायता मिलेगी। राजनीति के विशिष्ट शब्दों (Technical words) की सूची भी परिशिष्ट में दे दी गई है।

यद्यपि इटली-अबीसीनिया का युद्ध अभी जारी है, तथापि मैंने इस पर भी एक अध्याय लिखा है, जो परिशिष्ट में दिया गया है। इस अध्याय में नवम्बर १९३५ तक की घटनाओं पर ही विचार किया जा सका है।

'राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति' के कुछ अध्याय 'विश्वमित्र' (कलकत्ता), 'माधुरी' (लखनऊ), 'चाँद' (इलाहाबाद), 'सुधा' (लखनऊ) में छप चुके हैं।

मैं यह अनुभव करता हूँ कि मेरी इस रचना में अनेकों त्रुटियाँ रह गई होंगी और ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है। मेरा नम्र निवेदन है कि विज्ञ पाठक इन त्रुटियों का संशोधन स्वयं कर लें और मुझे भी सूचित करने की कृपा करें, जिससे आगामी संस्करण में संशोधन किया जा सके।

राजामंडी, आगरा
२९ जनवरी १९३६ ई०

रामनारायण 'यादवेन्दु'
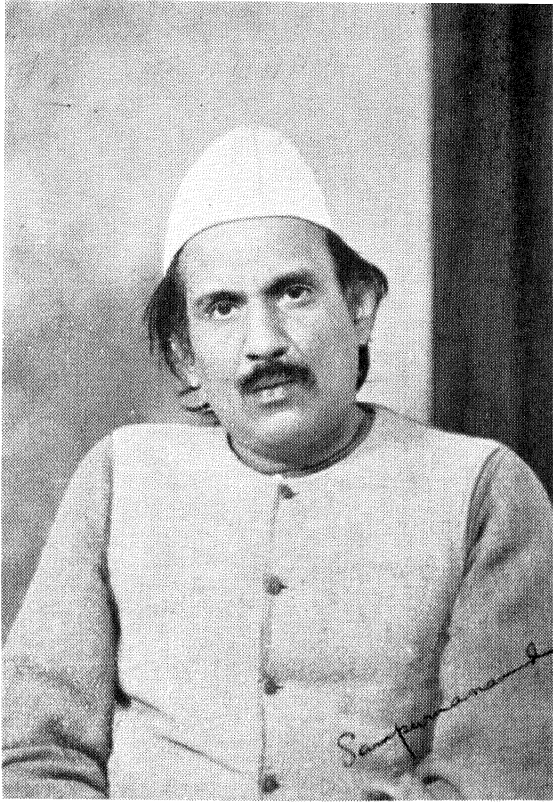
भूमिका-लेखक

भूमिका

मैं श्री यादवेन्दु की पुस्तक 'राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति' के लिए बड़े हर्ष के साथ प्राक्कथन लिख रहा हूँ। यद्यपि राष्ट्र-संघ को स्थापित हुए कई वर्ष हो गये और अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ तथा निःशस्त्रीकरण-सम्मेलन की कार्यवाही समय-समय पर समाचार पत्रों में प्रकाशित होती रहती है; पर जहाँ तक मैं जानता हूँ, यह हिन्दी में पहली पुस्तक है, जो इन और इनसे सम्बद्ध अन्य आवश्यक विषयों का वर्णन करती है। वर्णन भी बहुत विस्तृत है और मुझे विश्वास है कि पुस्तक का ऐतिहासिक और वर्णनात्मक अंश न केवल साधारण पाठकों वरन् पत्रकारों और राजनीति के विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी प्रतीत होगा। किसी विषय की पहली पुस्तक को पूर्ण और उपादेय बनाना लेखक के लिए तारीफ़ की बात है। श्री यादवेन्दु ने जो अवतरण दिये हैं और घटनाओं का जिस प्रकार पारस्परिक सम्बन्ध दिखलाया है; उसीसे उनके अध्ययन का विस्तार प्रकट होता है।

पुस्तक का दूसरा भाग जिसमें विश्व-शान्ति के प्रश्न पर विचार किया गया है, इससे भी अधिक महत्त्व रखता है। यों तो प्रथम भाग में ही लेखक ने राष्ट्र-संघ की कार्यशैली की जो आलोचना की है, उससे यह प्रकट हो जाता है कि वह उसके संगठन और उसकी पद्धति से सन्तुष्ट नहीं हैं। उन्होंने यह बहुत अच्छी तरह दिखला दिया है कि इस समय राष्ट्र-संघ विजयी महाशक्तियों का गुट है और मुख्यतः उनकी ही स्वार्थ-सिद्धि का उपकरण है। महायुद्ध के बाद वर्सेल्स की सन्धि जर्मनी के सिर पर जबरदस्ती लादकर उसे शताब्दियों तक के लिए दीन और दुर्बल

बनाने का उपक्रम किया गया। यही नीति आष्ट्रिया के साथ बरती गई। सन्धि-पत्र इस प्रतिहिंसा और स्वार्थ के मूर्ति स्वरूप हैं। विजित राष्ट्रों का कल्याण इनके बदलवाने में ही है, पर विजेता इसके लिए तैयार नहीं। आग्नेय यूरोप के छोटे राज तथा पोलेण्ड भी विजेताओं के साथ हैं और यह सब लोग सन्धि-पत्रों के शब्दों को पकड़े बैठे हैं। उस समय जो राजनीतिक परिस्थिति बलात् उत्पन्न कर दी गई, उससे वे रत्ती-भर भी हटना नहीं चाहते। राष्ट्र-संघ उनके हाथ में प्रबल शस्त्र है। उसके लिखित उद्देश्य बड़े ही सुन्दर होंगे; पर आज तक वह उनको पूरा न कर सका। न वह किसी महाशक्ति को दबा सका, न किसी दुर्बल की सहायता कर सका। इटली, जापान जब जिसने चाहा उसकी अवहेलना की। चीन और मन्चूको के मामले में ब्रिटेन और अमेरिका के स्वार्थ जापान के स्वार्थ से लड़ते थे इसलिए संघ ने जापान की भर्त्सना की; पर इससे जापान की कोई क्षति नहीं हुई। संघ के समय-पत्र की दण्डात्मक-धाराओं का महाशक्तियों की दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है।

आजकल के प्रबल राज या साम्राज्य प्राचीनकाल की महाशक्तियों से नितांत भिन्न हैं। उनके तह में मुख्यतः कुछ व्यक्तियों की अधिकार-लिप्सा होती थी। आजकल की प्रेरक-शक्ति जैसा श्री यादवेन्दुजी ने दिखलाया है, आर्थिक साम्राज्यवाद है। देशों की राजनीति की निकेल अब न तो नरेशों या सरदारों के हाथ में है, न मध्यवर्गीय राजनीतिज्ञों के। इस समय तो रूस को छोड़कर, प्रत्येक सम्पन्न राष्ट्र का संचालन वैश्य-वर्ग—पूँजीपति-समुदाय के हाथ में है; मन्त्रि-मण्डल इनके हाथों की कठ-पुतली हैं। मशीनों में नित्य उन्नति होती जा रही है! वस्तुओं की उपज बढ़ती जा रही है; पर खपत नहीं है। माल भरा पड़ा है; पर जिनको आवश्ययता है, उनके पास तक नहीं पहुँचता। अपने-अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए इन लोगों ने मुद्रा-नीति और विनिमय दरों की वह छीछालेदर की है कि सँभलना कठिन हो गया है। आज सभी

चाहते हैं कि हमको अन्यत्र बाजार मिले, जहाँ केवल हम ही अपना माल बेच सकें। इसके साथ ही सबको ऐसे स्थान चाहिए, जहाँ से केवल उनको ही कच्चा माल मिल सके। उसका परिणाम यह होता है कि सब में यह प्रयत्न होता है कि पृथ्वी के उन प्रदेशों पर जो अभी व्यवसाय में पीछे हैं, अपना आधिपत्य रक्खें। इसी प्रयत्न ने एशिया और अफ्रीका के बड़े भाग को गुलाम बना रक्खा है और क्रूरता, बर्बरता असहयोग, विद्रोह, हिंसा, प्रतिहिंसा—फलतः सतत अशान्ति का जनन है। दूसरी ओर इसी प्रतियोगिता के कारण पूँजीपतियों के गुट अपने-अपने देशों की सरकारों को लड़ा देते हैं। भयंकर युद्ध होते हैं—जैसा कि लेखक ने दिखलाया है, इस समय ऐसे प्रलयंकर युद्ध की तैयारी हो रही है, जिसके सामने लोग पिछले महायुद्ध को भूल जायेंगे—और दोनों ओर के निरपराध ग़रीब-जन का हार-जीत में किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं होता।

इतना ही नहीं, पूँजीवाद दूसरे प्रकार से भी अशान्ति पैदा करता है। राष्ट्रों के भीतर भी पूँजीपतियों के गुटों में संघर्ष चलता रहता है और तत्फल-स्वरूप सरकारें उलटा करती हैं। एक राष्ट्रपति और मंत्रि-मंडल आता है, दूसरा जाता है। लोग इस बात को तो देखते हैं, इसके ऊपरी आवरण, राजनीतिक मत-भेदों को भी देखते हैं; पर जो सूत्रधार यह नाटक रचते रहते हैं, वह परदे की आड़ में रहते हैं। अमेरिका में यह खेल हर चौथे वर्ष होता है। यहाँ भी इतिश्री नहीं होती। पूँजीपतियों ने श्रमिकों को गुलाम बना रक्खा है। जिसके अविरत परिश्रम से धन-राशि एकत्र होती है, वह उनमें से मुश्किल से पेट-भर अन्न पाने का अधिकारी है। जब तक पूँजीवाद रहेगा, तब तक पूँजीपतियों को और श्रमिकों का संघर्ष रहेगा। बे-रोजगारी, हड़ताल, कारखाना-बन्दी, लाठी गोली लूट-मार यह सब जारी रहेगा।

इसलिए विश्व-शान्ति का सबसे बड़ा और प्रबल वस्तुतः एक-मात्र

शत्रु पूँजीवाद है। इसके आगे राष्ट्र-संघ जैसी राजनीतिक संस्था, यदि यह नेकनीयत से काम करे, तब भी कुछ नहीं कर सकती।

विश्व-शान्ति तब ही होगी, जब मनुष्य-समाज का संगठन नये ढंग पर होगा। और जैसा कि श्री यादवेन्दुजी ने स्पष्टतया कहा है, यह नया ढंग साम्यवादी सिद्धान्तों पर ही अवलम्बित किया जा सकता है। साम्यवाद के प्रचार का अर्थ है अन्तर्राष्ट्रीयता की वृद्धि और उस घातक राष्ट्रीयता का ह्रास, जो अपने देश या अपने राज का अभ्युदय ही, चाहे इस अभ्युदय के साधन में दूसरे राष्ट्रों का सुख और स्वातंत्र्य का पूर्णतया संहार ही हो जाय, मनुष्य का परम कर्त्तव्य समझती है।

आज पूँजीवाद फ़ासिज़्म और नात्सीवाद के रूप में ताण्डव-नृत्य कर रहा है। उसने राष्ट्रीय स्वार्थ को ही न्याय मान रक्खा है। ऐसी परिस्थिति में शान्ति का कोमल पौदा नहीं पनप सकता।

श्री यादवेन्दुजी ने इन सब प्रश्नों पर मनन किया है, और उनके विचार इस समय की उन्नत विचार-धारा के अनुकूल हैं। मैं उनको इसके लिए बधाई देता हूँ। आज भारत भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है और जो राजनीतिक तथा आर्थिक-समस्याएँ अन्य देशों को सता रही हैं, वह हमारे सामने भी आ गई हैं; इसलिए प्रत्येक समझदार भारतीय का, जो अपने देश का हित चाहता है, और साथ ही यह भी चाहता है कि भारत विश्व-शान्ति का प्रबल सहायक बने, यह कर्त्तव्य है कि इन प्रश्नों पर विचार करे।

जालिपा देवी, काशी
१६ श्रावण १६६१

सम्पूर्णानन्द

विषय-सूची

प्रथम भाग

द्वितीय भाग

परिशिष्ट

सूचना

इस पुस्तक के अन्त के कुछ अध्यायों के शीर्षक छपने में भूल हो गई है। पृष्ठ २२४, में 'निःशस्त्रीकरण' के स्थान पर 'सुरक्षा (२)'; पृष्ठ २२९, में 'शान्ति का अग्रदूत भारत' के स्थान पर 'निःशस्त्रीकरण'; पृष्ठ २३९, में 'राष्ट्र-संघ का भविष्य' के स्थान पर 'शान्ति का अग्रदूत भारत' होना चाहिए। इसी प्रकार परिशिष्ट में पृष्ठ २५५, में 'इटली-अबीसीनिया-संघर्ष' के स्थान पर 'राष्ट्र-संघ का भविष्य' होना चाहिए। पाठकों से प्रार्थना है कि सुधार कर पढ़ें।

चित्र-सूची

सर एरिक ड्रमण्ड
विश्व-राष्ट्रसंघ के प्रधान सेक्रेटरी

प्रथम भाग

राष्ट्र-संघ
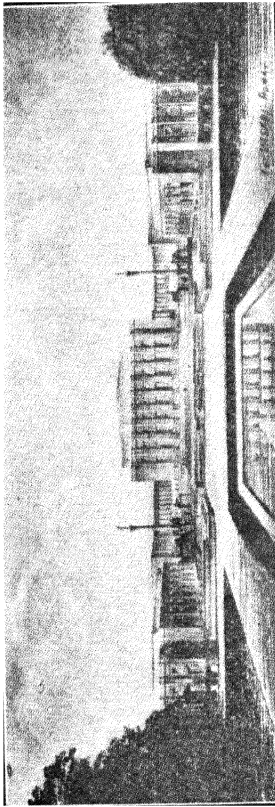
विश्व-राष्ट्रसंघ का नया भवन

पहला अध्याय

राष्ट्र-संघ का जन्म

मानव-समाज शताब्दियों से स्थान और समय पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता रहा है। वैज्ञानिकों के आश्चर्यजनक और अनुपम आविष्कार तथा मानव-सभ्यता में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन यह सिद्ध करते हैं कि मानव देश, समय और जाति के बन्धनों से मुक्ति पाकर मानवता के एक सूत्र में बँध जाना चाहता है। यह सत्य है कि संसार के गर्वोन्मत्त राष्ट्र अपनी यश-पताका फहराने के लिए अन्य देश और जातियों को पदाक्रान्त करते रहे हैं; परन्तु इसमें किंचित्-मात्र भी सन्देह नहीं कि ऐसे कीर्ति-लोलुप राष्ट्रों और शासकों को युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् घोर अशान्ति और असन्तोष की ज्वलन्त अग्नि में तपना पड़ा। नर-संहारी विकराल संग्रामों के बाद शान्ति-स्थापन के लिए राष्ट्रों का प्रयत्न हमारे उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है।

राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति

यद्यपि वैज्ञानिकों ने मानव-सृष्टि को एक सूत्र में बाँधकर मानवता के शासन की प्रतिष्ठा करने में अनवरत प्रयत्न किया है ; परन्तु यह अतीव दुःखप्रद घटना है। उनके आविष्कारों का राष्ट्रों के शासक-समुदाय ने अत्यन्त दुरुपयोग किया। इस प्रकार एक ओर वैज्ञानिकों के आविष्कार शान्ति और आनन्द की स्थापना के लिए अग्रसर रहे, तो दूसरी ओर उनके द्वारा युद्ध की भीषणता और नर-संहार में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई।

मानव-जगत् और संसार के राष्ट्रों में शान्ति-स्थापन के लिए आवश्यक है कि एक मनुष्य दूसरे, और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की मनोभावना को ठीक प्रकार समझे और जहाँ मत-भेद हो, वहाँ उसके निराकरण का उपाय किया जाय। प्राचीनकाल में मानव-एकता में सबसे बड़ी बाधा यह थी कि वे सुगमता से पारस्परिक भावनाओं को जानने और समझने में असमर्थ थे ; परन्तु आधुनिक युग में वैज्ञानिकों के प्रसाद से ये बाधाएँ दूर हो गई हैं ; अतः मानवों में संगठित जीवन की चेष्टा का उदय स्वाभाविक ही है। जन-समूह अपने को एक कुटुम्ब के रूप में देखने के लिए लालायित है, और संसार के राष्ट्र एकता के सूत्र में बँधकर एक विश्व-राज्य का स्वप्न देख रहे हैं। मनुष्य की स्वच्छंद प्रवृत्ति में परिवर्त्तन होने लगा है ; अब उसे यह अनुभव होने लगा है कि सभ्य-जगत् में एकान्त-जीवन संभव नहीं। यदि मानव-समाज को उन्नत होना है, तो परस्पर-निर्भरता का सहारा लेना होगा।

यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि संसार के राष्ट्र पारस्परिक विश्वास और शुभेच्छा को पूर्ण-रूपेण अनुभव करने लगे हैं ; तथापि अब राष्ट्रों में सहकारिता की भावना का उदय होने लगा है। जहाँ युद्ध की भावना में परिवर्त्तन हुआ है, वहाँ उसके प्रभाव में भी अधिक व्यापकता आ गई है। युद्ध अब केवल कुछेक व्यवसायी सैनिकों के

लिए ही प्राणघातक नहीं रहा है ; प्रत्युत अब उसका नर-संहारकारी प्रभाव विश्वव्यापी हो गया है। यहाँ तक कि तटस्थ राष्ट्र भी युद्ध के दुष्प्रभाव से अछूते नहीं रह सकते। ऐसी परिस्थिति में युद्ध के प्रति जन-समाज में घृणा होना स्वाभाविक है। संसार के अनन्य शान्तिवादी भारत ने अपने सम्राट् अशोक-द्वारा आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व जो संदेश दिया, वह इतिहास में एक अमर घटना है। कलिंग-विजय के पश्चात् सम्राट् अशोक को युद्ध की निस्सारता का ऐसा कटु अनुभव हुआ कि उसे देश-विजय से विरक्ति हो गई।

कलिंग-विजय के बाद अशोक ने देश-विजय की लिप्सा का परित्याग कर धर्म-विजय-द्वारा अपने साम्राज्य का विस्तार किया। सैन्य-शस्त्र-द्वारा देश-विजय को छोड़कर धर्म-द्वारा संसार के हृदय पर शासन किया। यह कितने आश्चर्य की बात है कि नर-संहारी युद्ध का विनाश कर उसके स्थान में शान्ति और प्रेम का राज्य स्थापित किया। अशोक न केवल भारतीय जनता को ; किन्तु सम्पूर्ण मानव-जाति को अपना पुत्र समझता था। विश्व-प्रेम का इससे अच्छा उदाहरण और कहाँ मिलेगा ? यह विश्व-शान्ति की भावना उस समय उदय हुई, जब पश्चिमी जगत् अपनी सभ्यता के शैशव-काल में था। महात्मा ईसा के दो शताब्दी पूर्व विश्व को शान्ति का संदेश दे रहा था।

यूरोप में हम शान्ति की भावना का क्रमशः विकास पाते हैं। यह प्राकृतिक नियम है कि संघर्ष के उपरान्त शान्ति का उदय होता आया है। यूरोप में तीस-वर्षीय युद्ध और लुई चतुर्दश के युद्धों के बाद अन्तर्राष्ट्रीय विधान की भावना तथा शक्ति-साम्य के सिद्धान्तों का विकास हुआ। इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में नेपोलियन के युद्धावसान के बाद पवित्र-संघ (Holy Alliance) का जन्म हुआ तथा यूरोपीय एकता के लिए प्रयत्न होने लगा। सन् १८६६ और १६०७

के हेग-सम्मेलनों में अन्तर्राष्ट्रीय-पंचायत (International arbitration) के संघटन की योजना तैयार की गई। अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सम्मेलनों के परिणाम-स्वरूप सन् १६०७ में अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य-विभाग की स्थापना हुई। पत्र-व्यवहार की सुविधा के लिए Universal Postal union की स्थापना की गई।

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय राष्ट्र-संघ की स्थापना के लिए यह अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ मार्ग प्रशस्त कर रहीं थीं; परन्तु लोकमत को जाग्रत् करने और विजयोन्मत्त राष्ट्रों की आँखें खोलने के लिए संसारव्यापी महायुद्ध की आवश्यकता थी।

२८ जुलाई सन् १६१४ ई० को महाभयंकर यूरोपीय महासमर का प्रारम्भ हुआ। ७० लाख मनुष्यों ने अपने प्राण होम किये और दो करोड़ व्यक्ति अपने शरीर को घायल कर ससार के लिए भार-स्वरूप बने और न जाने कितने अरबों की सम्पत्ति स्वाहा हुई। महासमर के फल-स्वरूप विश्व में हा-हाकार मच गया। सिक्के की दर गिर गई, बेकारी, दुर्भिक्ष और आर्थिक-चक्र से जनता तबाह हो गई। अनेकों नर-घातक महारोगों का प्रकोप हुआ। इस अपार जन-क्षति और सर्वनाश ने राष्ट्रों के उन्माद को तिरोहित कर दिया; उनमें युद्ध के प्रति घृणा के भाव पैदा हुए और शान्ति के लिए इच्छुक होने लगे।

राष्ट्र-सघ की योजना—राष्ट्र-संघ का 'विधान' (Covenant) तैयार करने में अमेरिका और इंगलैण्ड ने प्रमुख भाग लिया। राष्ट्र-संघ की योजना इन दोनों राष्ट्रों के सहयोग और कूटनीति का परिणाम है। विधान शान्ति-परिषद्-कमीशन की पन्द्रह बैठकों में तैयार किया गया। फरवरी के प्रारम्भ से अप्रैल १६१६ तक कमीशन की बैठकें पेरिस में हुईं। राष्ट्र-संघ का विधान जिन परिस्थितियों में तैयार किया गया, एवं जिस नीति से उसे वर्सेलीज की सन्धि का प्रथम भाग बनाया गया,

उससे यह स्पष्ट है कि राष्ट्र-संघ के विधान पर समर-मनोविज्ञान (war-psychology) का गहरा प्रभाव पड़ा। विधान ऐसे ढंग से रचा गया कि वर्सेलीज की सन्धि पर हस्ताक्षर करनेवाले मित्र-राष्ट्रों को लूट का पूरा-पूरा भाग मिल सके। राष्ट्र-संघ को जन्म देकर संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका उससे अलग हो गया और यूरोप की महाशक्तियाँ गुटबन्दी बनाकर छोटे-छोटे राष्ट्रों के रक्त-शोषण की नीति का व्यवहार करने लगीं। इस प्रकार की कूट-नीति से जनता में यह धारणा जड़ पकड़ गई कि राष्ट्र- संघ विजेता राष्ट्रों के लिए निर्बल राष्ट्रों की लूट को कायम रखने के लिए बनाया गया है।

शान्ति-संघ (League of peace)—सन् १६१५ के प्रारंभ काल में एक 'डच-युद्ध-विरोधिनी सभा' की स्थापना की गई। इस सभा ने अपने अप्रैल के हेग-सम्मेलन में Central organization for a durable peace की स्थापना की। इस संघ में पश्चिमी और मध्य यूरोप के अधिकांश देशों के प्रतिनिधि थे। इसी समय लन्दन में एक ब्रिटिश राष्ट्र-संघ-समाज स्थापित की गई। अमेरिका ने भी शान्ति-स्थापन के लिए प्रयत्न किया। भूतपूर्व राष्ट्रपति टाफ्ट ने World court Congress के सामने १२ मई सन् १६१९ को अपने भाषण में शान्ति-संघ के सम्बन्ध में अपने विचार रखे, जिनका सारांश इस प्रकार है—

१—एक न्यायालय स्थापित किया जाय, जो संघ के सदस्यों के विवादों का निर्णय करे।

२—सहयोग स्थापित करने के लिए तथा ऐसे झगड़ों को तय करने के लिए एक कमीशन बनाया जाय, जो Non-justifiable प्रश्नों से सम्बन्ध रखते हैं।

३—सम्मेलन बुलाये जायँ, जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय-विधान के सिद्धान्तों का निश्चय किया जाय।

४—शान्ति-संघ के सदस्य इस बात से सहमत होंगे कि यदि संघ का कोई सदस्य दूसरे सदस्य के विरुद्ध युद्ध ठानेगा, तो अन्य सब सदस्य सम्मिलित-रूप से उस सदस्य की रक्षा करेंगे।

राष्ट्र-संघ (League of Nations) के विधान में उपर्युक्त सब सिद्धान्त स्वीकार कर लिये गये हैं।

फिलीमोर-योजना—यह योजना ब्रिटिश इतिहासज्ञों, वकीलों और राजनीतिज्ञों की एक समिति की नौ बैठकों में तैयार की गई थी। इस समिति के अध्यक्ष लार्ड फिलीमोर थे। जब यह योजना बिलकुल तैयार हो गई, तब २० मार्च १९१८ ई० को ब्रिटिश सरकार को सौंप दी गई। इस योजना का आधार लार्ड रोबर्ट सीसल का एक आवेदन-पत्र है, जो उन्होंने राष्ट्र-संघ के विषय पर सितम्बर १९१६ में तैयार किया गया था। इस योजना के सम्बन्ध में डेविड हन्टर मिलर का यह कथन है—

'The historian will find in the Covenant a great deal of Phillimore Plan.'

फ्रान्स की योजना—८ जून १९१८ ई० को फ्रेञ्च-मंत्रिमण्डल-कमीशन ने राष्ट्र-संघ पर अपनी रिपोर्ट तैयार की। इसमें सिद्धान्तों का विवेचन है। रिपोर्ट ने गुट्टबन्दी (Alliance System) को अपनाया तथा विश्व-शान्ति-रक्षा के लिए एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सेना, सेनापति और स्थायी सेना के कर्मचारियों की आवश्यकता पर अधिक ज़ोर दिया; परन्तु ऐसा कार्य-क्रम राष्ट्र-संघ के मूल सिद्धान्त का विरोधी था, तब इसे राष्ट्र कैसे स्वीकार कर सकते थे?

राष्ट्रपति विल्सन की योजना—राष्ट्रपति विल्सन ने राष्ट्र-संघ के विधान की योजना कर्नल हाउस की योजना के आधार पर तैयार की। एक प्रकार से यह हाउस की योजना का नवीन संस्करण-मात्र था।

यह योजना १५ अगस्त १६१८ ई० को बनकर तैयार हुई। विल्सन ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को अपनी योजना में स्थान नहीं दिया, तथा विधान के प्रतिकूल कार्य करनेवाले राष्ट्र के विरुद्ध कार्य करने पर विशेष ज़ोर दिया। अपनी योजना में विल्सन ने लिखा—'आक्रमण-कारी राष्ट्र के विरुद्ध राष्ट्र-संघ के सदस्य मिलकर उसके विरुद्ध तटा-वरोध की नीति का अवलम्बन करेंगे, जिससे वह आक्रमणकारी राष्ट्र संसार के किसी देश से अपना व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्ध स्थापित न कर सके और इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए सम्मिलित-रूप से किसी भी शक्ति का प्रयोग कर सकेंगे।' विधान की भूमिका की रचना करने का श्रेय विल्सन को है।

विल्सन की यह प्रथम योजना जनता में प्रकाशित नहीं की गई; क्योंकि वह यह नहीं चाहता था कि उचित समय से पूर्व एक ऐसे नाजुक विषय पर विचार किया जाय—वाद-विवाद किया जाय। युद्धावसान के पाँच सप्ताह बाद राष्ट्र-संघ के संघटन के लिए जैन क्रिचियन स्मट्स (Smuts) ने अपनी योजना प्रस्तुत की।

स्मट्स-योजना—जनरल स्मट्स की योजना (Practical Suggestion) पहली योजना थी, जिसमें उस आदर्शवाद के लिए स्थान दिया गया, जिसके लिए यूरोपीय महासमर के बाद विश्व लाला-यित था। आदेश-युक्त शासन (Mandate System) के आवि-ष्कार का श्रेय जनरल स्मट्स को है। अब तक जितनी योजनाओं का उल्लेख किया गया है, उन सबमें स्मट्स की योजना राष्ट्र-संघ के विधान (Covenant) से बहुत-कुछ साम्य रखती है। राष्ट्र संघ के संगठन के विषय में, इस योजना ने जो सिद्धान्त प्रतिष्ठित किये, वे बहुत ही उपयुक्त और विचारणीय हैं। स्मट्स ने सबसे पूर्व कौंसिल के संगठन पर क्रियात्मक प्रस्ताव रखा। उसके विचार के अनुसार कौंसिल

राष्ट्र-संघ की कार्यकारिणी (Executive) होनी चाहिए ; क्योंकि जिस सभा में कम-से-कम सदस्य होते हैं, उसी में कठिन और प्रबंध सम्बन्धी समस्याओं पर भली भाँति विचार किया जा सकता है। इस कौंसिल के स्थायी सदस्य ब्रिटिश-साम्राज्य, फ्रान्स, इटली, अमेरिका, जापान हों तथा जिस समय जर्मनी में प्रजातन्त्र-शासन की स्थापना हो जाय, उस समय उसे भी कौंसिल में स्थान दे दिया जाय।

राष्ट्र-संघ की असेम्बली के सम्बन्ध में जनरल स्मट्स ने जो प्रस्ताव रखे, वे अधिक दूरदर्शिता-पूर्ण नहीं थे। मंत्रिमंडल-कार्यालय (Secretriate) के संबंध में उसके विचार इतने उन्नत और प्रभावशाली नहीं थे, जितने आज उसके शक्तिशाली संगठन में समाविष्ट हैं। उसने राष्ट्र-संघ के संगठन में केवल तीन संस्थाओं को समान स्थान दिया—कौंसिल, स्थायी न्यायालय और असेम्बली ; परन्तु मंत्रिमण्डल की उपेक्षा की। आज मंत्रि-मण्डल एक महत्त्वपूर्ण संस्था है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विशेष समितियों की स्थापना के सम्बन्ध में उसके प्रस्ताव सामयिक और ग्राह्य थे। जनरल स्मट्स की दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ राष्ट्र-संघ की एक उप-सभा से अधिक महत्त्व नहीं रखती।

परन्तु वर्सेलीज की सन्धि के अनुसार वह एक स्वतंत्र संस्था स्वीकार की गई।

सिसिल-योजना—यद्यपि लार्ड सिसिल की योजना विधान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है ; परन्तु राष्ट्र-संघ के विधान की तैयारी में लार्ड सिसिल का प्रभाव विशेष महत्त्व रखता है। यह योजना फिलीमोर की योजना से भिन्न नहीं है ; परन्तु नवीन परिस्थिति के अनुकूल इसमें परिवर्त्तन कर दिया गया है। इन समस्त योजनाओं में एक बात सामान्यतया पाई जाती है—वह है शक्तिशाली राष्ट्रों का राष्ट्र-संघ पर

पूर्ण नियन्त्रण। इसी बात को दृष्टि में रखकर Felix Morley ने लिखा है—

"In two basic respects a general accord was already achieved. Without exception the various drafts agreed upon the necessity of sanctions & **the desirability of control by the great powers**, meaning, at the outset anyway, control by the dominant Allies." *

राष्ट्र-संघ की स्थापना—२५ जनवरी १६१६ को शान्ति-परिषद् के द्वितीय अधिवेशन में सर्वसम्मति से राष्ट्र-संघ की स्थापना के सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकार किया गया—

'यह परिषद् राष्ट्र-संघ की स्थापना-सम्बन्धी प्रस्तावों पर विचार कर लेने के बाद, यह निश्चय करती है—

१—अन्तर्राष्ट्रीय-लिपि की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है, कि अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता की वृद्धि, अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेन्सन की स्वीकृति के साधनों तथा युद्धावरोध के साधनों के लिए एक राष्ट्र-संघ की स्थापना की जाय।

२—यह राष्ट्र-संघ सामान्य शान्ति-सन्धि (Peace-Treaty) का एक प्रमुख भाग होना चाहिए और इसमें प्रत्येक सभ्य राष्ट्र को सदस्य बनने का सुयोग मिले।

३—राष्ट्र-संघ के सदस्य समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के रूप में मिलें और राष्ट्र-संघ के कार्य का संचालन करने के निमित्त स्थायी संस्थाएँ एवं स्थायी मन्त्रि-मण्डल-कार्यालय स्थापित किये जायँ।

इसलिए यह परिषद् सम्मिलित सरकारों की प्रतिनिधि एक समिति नियुक्त करती है, जो विस्तृत रूप से राष्ट्र-संघ के विधान, संगठन और कार्य-क्रम पर विचार करेगी।'

* The Society of Nations by felix Morley. pp. 29.

राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति

राष्ट्र-पति विल्सन ने राष्ट्र-संघ को एक जीवित संस्था का रूप दिया। विल्सन की सुप्रसिद्धि और यश का श्रेय उसके सिद्धान्तों (राष्ट्र-संघ के सिद्धान्तों) को नहीं है; किन्तु उसकी विख्याति का एक-मात्र कारण यही है, कि उसने राष्ट्र-संघ को 'जीवित' रूप प्रदान किया। इसी कारण विल्सन को राष्ट्र-संघ का जन्मदाता कहा जाता है। विल्सन के कार्य में मन्त्री लैन्सिङ्ग ने उसका घोर विरोध किया; परन्तु ब्रिटिश राजनीतिज्ञ लार्ड रोबर्ट सिसिल के सहयोग से वह अपने कार्य में सफली-भूत हुआ। राष्ट्र-संघ के विधान को वर्सेलीज की सन्धि से संयुक्त कर देने का श्रेय इन दोनों राजनीतिज्ञों को ही है। विधान (Covenant) और शान्ति-सन्धि (Peace-Treaty) के संयोग के कारण, राष्ट्र-संघ को आलोचना का विषय बना।

विल्सन की द्वितीय योजना—१४ दिसम्बर १९१८ ई० को विल्सन ने अपनी दूसरी योजना तैयार की। विल्सन की यह योजना अत्यन्त अपूर्ण है। यही उसके परामर्श-दाताओं की भी सम्मति है। दो सप्ताह के भीतर इस योजना का अन्त हो गया और तृतीय योजना तैयार की गई। यह योजना उन सब दोषों से मुक्त कर दी गई, जो पहली योजनाओं में मौजूद थे। शान्ति-परिषद्-कमीशन की बैठक से दो दिन पहले विल्सन ने एक ड्राफ्ट (मशविदा) तैयार किया। इस मशविदे का विधान पर कोई प्रभाव न पड़ा।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की ओर से अनेकों योजनाएँ पेश की गईं तथा ब्रिटिश और अमेरिका के राजनीतिज्ञों ने संयुक्त-रूप में भी अनेकों मशविदे तैयार किये। इन सब प्रयत्नों के फल-स्वरूप राष्ट्र-संघ का विधान तैयार हुआ। कमीशन ने ३ फरवरी से ११ अप्रैल १९१९ तक अपने अधिवेशनों में विधान पर बहस आदि की—संशोधन और परिवर्तन भी किये गये। अन्त में २८ अप्रैल १९१९ को संशोधित विधान शान्ति-

परिषद् (Peace Conference) के अधिवेशन में रखा गया और वह सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया।

५ मई १६१६ को राष्ट्र-संघ नियमित रूप से स्थापित किया गया और प्रथम प्रधान-मंत्री (Secretary-general) सर एरिक ड्रामंड को यह आदेश दिया गया कि वह अपने कार्यालय - संबंधी कार्य का नियमित रूप से संचालन करे। संचालन-समिति-द्वारा निम्न-लिखित प्रस्ताव भी स्वीकृत किये गये—

१—कार्यकर्त्ता प्रधान-मंत्री को यह आदेश किया जाय कि वह राष्ट्र-संघ के संघटन की योजना तैयार करे और उसे समिति को सौंप दे।

२—जो राष्ट्र-समिति के सदस्य हैं, उनकी साख पर एक लाख पौंड ऋण दिया जाय।

३—प्रधान-मंत्री को यह अधिकार दिया जाय कि वह अस्थायी स्टाफ़ और अफ़सर नियुक्त करे और इस प्रबंध के लिए आवश्यक व्यय भी करे।

४—प्रधान मंत्री को ४००० पौंड वार्षिक वेतन और ६००० पौंड वार्षिक भत्ता दिया जाय। राष्ट्र-संघ के स्थायी केन्द्र से प्रधान-मंत्री के लिए एक भवन की व्यवस्था की जाय।

राष्ट्र-संघ का लक्ष्य—राष्ट्र-संघ की स्थापना जिस उद्देश्य से की गई है, उसका संघ के विधान की भूमिका में स्पष्ट उल्लेख है ; अतः हम यहाँ भूमिका को अविकल रूप से देते हैं। पाठक इस पर गंभीरता से विचार करें। भूमिका पर गम्भीरता से विचार करने पर यह प्रकट हो जायगा कि राष्ट्र-संघ का कार्य कितना व्यापक और गम्भीर है—

The high contracting parties,

In order to promote international co-operation and to achieve international peace & security.

By acceptance of obligations not to resort to war,

By prescriptions of open, just and honourable relations between nations,

By the firm establishment of the understandings of international law as the actual rule of conduct among governments,

And by the maintenance of justice and a scruplous respect for all treaty obligations in the dealings of organized peoples with one another,

Agree to this covenant of the league of nations.

प्रतिज्ञा करनेवाले बड़े राष्ट्र,

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की प्राप्ति के लिए, युद्ध न करने के बन्धन को स्वीकार कर, परस्पर राष्ट्रों में प्रकट रूप से, न्याय-संगत और सम्माननीय सम्पर्कों को बनाये रखकर विभिन्न राष्ट्रों के परस्पर व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय विधान को क्रियात्मक रूप देना तथा यह बात विश्वास-पूर्वक ध्यान में रखकर, सुसंगठित राष्ट्रों की पारस्परिक सन्धियों की प्रतिज्ञाओं का पूरा आदर करते हुए, न्याय की रक्षा करते हुए, राष्ट्र-संघ के इस विधान को स्वीकार करते हैं।

इस भूमिका के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र-संघ का प्रधान लक्ष्य (१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सुरक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निर्णय है। विवादों का निर्णय भी शान्ति रक्षा को दृष्टि में रखकर किया जाना ही उचित है। शान्ति की सुरक्षा के लिए युद्ध-अवरोध और निःशस्त्रीकरण मुख्य साधन हैं। राष्ट्र-संघ का (२) द्वितीय लक्ष्य है राष्ट्रों और जन-समाज में, मानवता की नैतिक और भौतिक उन्नति की दृष्टि से, सहकारिता की वृद्धि करना।

विधान में राजनीतिक सिद्धान्त—विधान में राष्ट्रीय-प्रभुत्व (National Sovereignty) के सिद्धान्त को पूर्णरूप से स्वीकार किया गया है। राष्ट्र-संघ की स्थापना राष्ट्रों के एक समूह के रूप में की गई थी। राष्ट्र-संघ के निर्माताओं का यह उद्देश्य कदापि नहीं था कि राष्ट्रीय प्रभुत्व का विनाश कर संसार के राष्ट्रों पर शासन करने-वाली विश्व-शासन (World Government) की स्थापना की जाय। राष्ट्र-संघ (League of Nations) न महाराज्य (Super State) ही है और न विश्व-शासन ही। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के अनिवार्य पंच-निर्णय (Arbitration) की प्रतिष्ठा का प्रयत्न विफल रहा। यह 'अनिवार्य पंच-निर्णय' का सिद्धान्त निर्बल राष्ट्रों ने स्वीकार किया; परन्तु ब्रिटिश और अमेरिका के विरोध के कारण यह सर्वसम्मति से स्वीकार न किया जा सका। इसी प्रकार अनिवार्य सेना (Military Service) का विनष्ट करने का प्रयत्न सफल न हो सका। विल्सन का यह प्रस्ताव कि युद्ध के शस्त्रास्त्र का व्यक्तिगत (निजी) निर्माण बन्द कर दिया जाय, राष्ट्रों की अनुमति प्राप्त न कर सका। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि इन सब प्रश्नों के साथ राष्ट्रीय प्रभुत्व का सीधा संबंध है और यह बिलकुल निश्चय है कि उपर्युक्त प्रस्तावों के स्वीकार करने से प्रभुत्व (Sovereignty) पर बड़ा आघात पहुँचता।

असेम्बली और कौंसिल के निर्णय सर्व-सम्मति से स्वीकार किये जायँ—यह नियम भी राष्ट्रीय प्रभुत्व की सुरक्षा के लिए स्वीकार किया गया। विधान के अनुसार राष्ट्र-संघ को, अन्तर्राष्ट्रीय प्रबंध-क्षेत्र में अनेकों नवीन कार्य सौंपे गये हैं। प्रथम कार्य है—राष्ट्रीय युद्धास्त्रों के कम करने की योजना; इसीलिए राष्ट्र-संघ अपने जन्म-काल से निःशस्त्रीकरण की समस्या का समाधान करने में लगा हुआ है। जो देश

आदेशयुक्त-शासन-प्रणाली के अधीन हैं, उनका राज्य-प्रबन्ध राष्ट्र-संघ का एक मुख्य कार्य है। वर्सेलीज की सन्धि के अनुसार राष्ट्र-संघ को सार और डेनजिंग का शासन-भार सौंपा गया है।

राष्ट्र-संघ के विधान का निर्माण करते समय आक्रमणकारी राष्ट्र के विरुद्ध बल-प्रयोग की आज्ञा (Sanctions) के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया; परन्तु इसका विधान में कहीं उल्लेख नहीं है। इस दोष को दूर करने के लिए पाँच वर्ष बाद जिनेवा प्रोटोकल (Geneva protocal) प्रस्तुत किया गया; परन्तु सदस्य राष्ट्रों ने उसे स्वीकार नहीं किया। यही कारण है कि राष्ट्र-संघ सफलता-पूर्वक आज्ञाओं (Sanctions) का प्रयोग न कर सका। इस दिशा में चीन-जापान-विवाद के संबंध में राष्ट्र-संघ ने जिस नीति का आश्रय लिया, वह Sanctions के प्रयोग की असफलता का ज्वलंत उदाहरण है। इस संबंध में दूसरी बड़ी बाधा है—अमेरिका की राष्ट्र-संघ से पृथक्ता।

विधान में सन्धियों के सम्बन्ध में जो धाराएँ उल्लिखित हैं, उनसे अन्तर्राष्ट्रीय-विधान में घोर परिवर्त्तन हुआ है। विधान की धारा १८, १६, २० सन्धियों के सम्बन्ध में हैं। उन समस्त सन्धियों का मन्त्रि-मंडल-कार्यालय में रजिस्ट्री कराना आवश्यक है, जो राष्ट्र-संघ के सदस्यों में हुई हों। सन्धियाँ विधान के प्रतिकूल नहीं होनी चाहिएँ। और यदि असेम्बली की दृष्टि में कोई सन्धि विधान के प्रतिकूल हो, तो वह उसे पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकती है। इस प्रकार जो सन्धियाँ पूर्व समय में कूट-नीतिज्ञों-द्वारा गुप्त रूप से होती थीं, उनका अब प्रकाश्य रूप में होना वैध माना गया है। राष्ट्र-संघ के निर्माताओं का मन्तव्य गुप्त-सन्धियों की प्रथा को नष्ट कर देना था; परन्तु इस उद्देश्य की पूर्त्ति में विशेष सफलता नहीं मिली। विशेष सन्धियों के लिए आज्ञा दे दी गई। फल-स्वरूप लोकार्नो सन्धियाँ हुईं। हाल में जर्मनी का अधि-

यूरोप के दो महान् अधिनायकों की भेंट
हर ओडाल्फ हिटलर (जर्मनी) और सिनोर मुसोलिनी (इटली)

नायक (Dictator) श्रोडाल्फ हिट्लर इटली के डिक्टेटर मुसोलिनी से मिला। उनकी भेंट गुप्त थी और उन्होंने गुप्त सन्धि की है, ऐसा समाचार जगत् में प्रसिद्ध है।

वास्तव में यह गुप्त-सन्धि (Alliance) की नीति युद्ध को जन्म देती है; इसलिए यह शान्ति के लिए खतरनाक है। Felix Morley ने इन शब्दों में इस नीति की निन्दा की है—

While this policy on the one hand led to constructive regional agreements such as locarno treaties, it has on the other hand facilitated post-war groupings primarily designed to keep the defeated nations in subjection and scarcely distinguishable in motive from the most mischievous of the pre-war alliances.

(Society of Nations pp. 221.)

दूसरा अध्याय

राष्ट्र-संघ-परिषद्

(League-Assembly)

राष्ट्र-संघ की प्रमुख संस्थाओं में परिषद् (Assembly) का स्थान महत्वपूर्ण है। संघ के विधान की रचना करते समय, निर्माताओं को यह स्वप्न में भी विचार न था कि भविष्य में असेम्बली एक शक्तिशाली संस्था का रूप ग्रहण कर लेगी। राजनीतिज्ञों का यह विचार था कि असेम्बली केवल-मात्र कूट-नीतिज्ञों का एक समुदाय-मात्र होगा, जो राष्ट्र-संघ के केन्द्र में सम्मिलित हुआ करेंगे। सामान्यतया असेम्बली को अपने अधिवेशनों की आवश्यकता न पड़ेगी। जिस समय विधान की रचना की गई, उस समय विधान से असेम्बली के अधिकारों में काट-छाँटकर उसे शक्तिहीन करने का उपाय सोचा गया। कार्य-समिति (Council) की अपेक्षा उसे बहुत कम अधिकार दिये गये। उसके

कार्य-कर्त्तव्यों का उचित रीति से निश्चय नहीं किया गया। परिषद् का सबसे प्रथम अधिवेशन १५ नवम्बर १६२० ई० को जिनेवा में बुलाया गया। उस समय कार्य-समिति पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी थी और उसका कार्य बड़ी तत्परता से चल रहा था।

राष्ट्र-संघ की सदस्यता—संसार में राष्ट्र-संघ ही एक ऐसी संस्था है, जिसमें विविध शासन-पद्धतियों-द्वारा शासित राष्ट्र समानता के सिद्धान्तानुसार अपना उचित स्थान पा सकते हैं। प्रत्येक स्वायत्त राज्य (Self-governing state), उपनिवेश या प्रदेश, जो राष्ट्र-संघ के सिद्धान्तों और विधान को स्वीकार करता है, राष्ट्र-संघ का सदस्य बन सकता है। परिषद् दो-तिहाई सम्मति से किसी भी नवीन राष्ट्र को संघ का सदस्य बना सकती है।

यह बात विचारणीय है कि राष्ट्र-संघ की सदस्यता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि सदस्यता के लिए इच्छुक राष्ट्र की शासन-प्रणाली किसी विशेष प्रकार की हो। कोई भी राष्ट्र जो संघ के विधान का पूर्णरीत्या पालन करने के लिए तैयार हो, उसका सदस्य बन सकता है। उसकी शासन-पद्धति चाहे पूँजीवादी हो या साम्यवादी; एकतंत्र हो, अथवा प्रजातंत्र; फासिस्ट हो या कम्यूनिस्ट—सभी के लिए द्वार खुला हुआ है।

जगत्-विख्यात दार्शनिक कैंट ने भावी राष्ट्र-समाज (Society of Nations) का स्वप्न देखा। उसने विचार कर यही निश्चय किया कि राष्ट्र-समाज में केवल लोकतंत्रवादी शासन ही सम्मिलित किये जायँ। महात्मा लैनिन का विचार था कि राष्ट्र-संघ की सफलता का साधन यही है कि उसमें केवल-मात्र साम्यवादी राष्ट्र सम्मिलित किये जायँ; क्योंकि राष्ट्र-संघ के ध्येय की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसके सब सदस्य-राष्ट्रों के मन्तव्य और ध्येय समान हों। विभिन्न शासन-

पद्धतिवाले राष्ट्रों के हितों में सामंजस्य नहीं हो सकेगा ; इसलिए वहाँ सम्मिलित रूप से कोई कार्य होना संभव नहीं।

परन्तु राष्ट्र-संघ ने इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। यदि इस आदर्शवादी सिद्धान्त पर राष्ट्र-संघ का भवन खड़ा किया जाता, तो आज हमें जिनेवा-मंदिर के दर्शन न होने पाते। ऐसे सुवर्ण-दिवस की कल्पना करना, जब संसार के समस्त राष्ट्र एक-सी शासन-पद्धति को अपनावेंगे, अभी केवल-मात्र स्वप्न है ; जिसका प्रत्यक्षीभूत होना वर्त्तमान परिस्थिति में संभव नहीं। आज राष्ट्र-संघ में मुसोलिनी की फासिस्ट इटली, हिट्-लर का नाज़ी शासन, राजा अलेकजेन्डर का यूगोस्लाविया और टर्की-जैसे राष्ट्र सम्मिलित हैं। दूसरी ओर ब्रिटेन, फ्रान्स आदि प्रजातंत्रवादी राष्ट्र भी उसके सदस्य हैं।

कुछ विद्वानों का यह विचार है कि राष्ट्र-संघ संसार में शान्ति-स्थापन के कार्य में उसी समय सफलीभूत हो सकता है, जब कि पूँजी-वादी शासन का अन्त हो जाय। उसके स्थान पर साम्यवादी शासन (Socialist Government) की स्थापना की जाय। यह कथन वास्तव में सत्य है। उसकी सत्यता में किसी शान्तिवादी मनीषी को संदेह होने का अवसर नहीं है। इसमें भी तिल-मात्र संदेह नहीं है कि वर्त्तमान समय में जितने भी युद्ध होते हैं, उनका एक-मात्र मूल उद्देश्य पूँजीवादियों के हितों की रक्षा करना है। जब तक पूँजीवाद अपनी क्रूरता का विनाश कर मानवता का आश्रय न देगा, तब तक संसार में शान्ति की स्थापना मृगमरीचिका बनी रहेगी।

परन्तु, जैसा कि हमने ऊपर लिखा है, अखिल जगत् में साम्यवादी शासन की स्थापना तक के लिए हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता नहीं है। हमें भविष्य की चिंता छोड़कर वर्त्तमान का पल्ला पकड़ना ही श्रेयस्कर है। क्या इस युग में यह उचित है कि हम

सदियों से अपने पूर्वजों-द्वारा पोषित संस्कृति को त्यागकर विश्व की उर्वरा भूमि को रक्त-रंजित करें, प्राणनाशक दरिद्रता, महारोग और क्रूरता का वह वीभत्स और प्रलयङ्कर दृश्य उपस्थित करें, जिसकी स्मृति से आज हमारा हृदय धड़कने लगता है ? मानव-प्रकृति की विविधता का समूल नष्ट कर देना मानवीय शक्ति से बाहर है ; परन्तु उसमें सामंजस्य (Harmony) को उत्पन्न कर देना ही हमारा लक्ष्य है ।

मानव-प्रकृति-विविधता का यह अर्थ नहीं है कि हम विश्व के मानव-समाज को एक संगठन में नहीं बाँध सकते ।

वर्तमान आर्थिक-संकट से त्रस्त सब राष्ट्र हा-हाकार कर रहे हैं ; इसलिए राष्ट्रों को सम्मिलित रूप से मिलकर एक ऐसी योजना के अनुसार काम करना है, जो संसार से युद्ध के भय को दूर कर शान्ति का राज्य स्थापित कर सके ।

यह हमें विश्वास है और हमारी ध्रुव धारणा है कि राष्ट्र-संघ के समस्त सदस्य प्रभुत्व के हितों (Interests of National sovereignty) को विश्व-शान्ति के ध्येय की पवित्र वेदी पर बलिदान करने के लिए सन्नद्ध हो जायं, तो शान्ति का युग बहुत जल्दी आ जाय । यदि राष्ट्रों में परस्पर भय, आशंका और अविश्वास बना रहेगा—वे सचाई और सद्भावना से अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के पालन में तत्पर न होंगे, तो शान्ति प्राप्त करना असम्भव है । इस शांति-महायज्ञ की सफलता के लिए प्रत्येक राष्ट्र की स्वाधीनता स्वीकार करना आवश्यक है । Viscount Cecil ने लिखा है—

A Government which persecutes the peace movement within its boarders, stifles freedom of meeting & of the press & punishes diversity of opinion, must inevita-

bly be regarded with anxiety by its partners in the league's Enterprise ; for such policies destroy the very foundations of understanding on which a peaceful world common-wealth could be evolved.*

संसार के ६६ राष्ट्रों में से ५७ राष्ट्र-संघ के सदस्य हैं। यह सदस्य-राष्ट्र पृथ्वी के तीन-चौथाई भाग में हैं और इनमें पृथ्वी की जन-संख्या का ४/५ भाग सम्मिलित है। यद्यपि यह अखिल विश्व की एक राजनीतिक संस्था है ; तथापि यह अपूर्ण है। संयुक्त राज्य अमेरिका (U. S. A) तथा सोवियट रूस-जैसे विशाल शक्तिशाली राष्ट्र आज पर्यन्त राष्ट्र-संघ के सदस्य नहीं बने। अफ़ग़ानिस्तान और मिश्र भी उसके सदस्य नहीं हैं। ब्राज़ील ने राष्ट्र-संघ से त्याग-पत्र दे दिया ; अतः वह अब सदस्य नहीं है। कोस्टारिका ने भी राष्ट्र-संघ से सम्बन्ध त्याग कर दिया है। २७ मार्च १९३३ ई० को जापान ने राष्ट्र-संघ से पृथक् होने की सूचना दे दी और १४ अक्टूबर १९३३ ई० को जर्मनी ने भी अपना त्याग-पत्र दे दिया।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि सन् १९३३ ई० के इन दो त्याग-पत्रों से राष्ट्र-संघ की प्रतिष्ठा को अमिट कलंक लगा है। राष्ट्र-संघ का जीवन अब भयंकर खतरे में है। उसका संगठन इतना अधिक अस्त-व्यस्त हो गया है कि वह अब विश्व के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकेगा।

सन् १९२० ई० में, राष्ट्र-संघ में जर्मनी को स्थान न देकर वास्तव में बड़ी भयंकर भूल की गई। इस नीति का यह प्रभाव हुआ कि यूरोप में ही नहीं, समस्त संसार में यह भावना दृढ़ होती गई कि राष्ट्र-संघ

---

* League—Road to Peace—(Intelligent Man's way to prevent War) 1933. pp. 289.

यूरोपीय महासमर में विजेता राष्ट्रों का एक गुट्ट है, जो संसार के दलित राष्ट्रों पर अपनी धाक जमाने के लिए 'संगठित पाखंड' (Organized hypocricy) का प्रदर्शन कर रहा है। यदि विजेता राष्ट्र सच्चाई और न्याय के आधार पर शान्ति-स्थापना के लिए प्रयत्न करते, तो उन्हें न्याय-पूर्वक जर्मनी को राष्ट्र-संघ में उचित स्थान देना पड़ता। इस कूट-नीति की प्रतिक्रिया के रूप में जर्मनी में घोर असंतोष और अशान्ति का जन्म हुआ। इस राष्ट्रीय-अशान्ति ने राष्ट्रीय-आन्दोलन को जन्म दिया। हिट्लर के शासन में (Nazi Movement) इस आन्दोलन का सबसे उग्र रूप है। अब नाज़ी-शासन ने अपने पर किये गये अन्यायों और अत्याचारों का बदला लेने की ठानी। सबसे पहले राष्ट्र-संघ से अपना संबंध तोड़ा। पाठकों को यह याद होगा कि लोकार्नो सन्धियों के बाद १९२६ ई० में जर्मनी को राष्ट्र-संघ में प्रवेश का अधिकार मिला था।

राष्ट्र-संघ में जर्मनी की अनुपस्थिति से यूरोप को जितनी हानि हुई है, उससे कहीं अधिक अमेरिका U. S. A. की पृथक्ता से अखिल संसार को हुई है। निःशस्त्रीकरण और युद्ध-अवरोध की जटिल समस्याएँ जर्मनी, जापान, अमेरिका और रूस के सहयोग के बिना हल नहीं हो सकतीं।

साम्यवादी रूस राष्ट्र-संघ से सदैव से पृथक् रहा है। रूस की पृथक्ता के अन्य कारणों में से एक प्रमुख कारण यह भी है कि वह पूँजीवादी राष्ट्रों से सहयोग करना नहीं चाहता। * रूस का दृष्टिकोण अन्य सब राष्ट्रों से भिन्न है। वह विश्व को साम्यवाद का अनुयायी

---

* अब उसकी इस प्रवृत्ति में परिवर्तन होता आता है। वह अपने उद्देश्य की सफलता के लिए पूँजीवादी राष्ट्रों से सहयोग करने की नीति को अपनाता जा रहा है।

बनाने का दम भरता है। साम्यवादी राष्ट्रों के संघ से ही संसार में स्थायी शान्ति की स्थापना हो सकती है, ऐसी उसकी धारणा है।

रूस को राष्ट्र-संघ की स्थापना के समय एक बड़ा भय यह था कि यदि वह संघ में सम्मिलित हो गया, तो विश्व में साम्यवाद और कम्यूनिज़्म की विजय संभव नहीं।*

रूस की पृथक्कता का कारण चाहे कुछ भी हो; परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उसकी अनुपस्थिति से राष्ट्र-संघ को अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

असेम्बली और कौन्सिल का सम्बन्ध—ऐतिहासिक दृष्टि से कौंसिल का जन्म असेम्बली से पूर्व हुआ है। कौंसिल के आठवें अधिवेशन में, जो ३० जुलाई से ५ अगस्त १६२० तक, सान सिवेस्टीन में हुआ, यह स्वीकार किया गया कि राष्ट्र-संघ की दोनों संस्थाएँ—कौंसिल और असेम्बली—समान अधिकार रखती हैं। विधान में उनके कार्यों और कर्त्तव्यों का स्पष्टतया विभाजन नहीं किया गया है; इसलिए

---

*For while the capitalist opinion was still looking forward confidently to the overthrow of communism in Russia, the Russian communists were still hoping for a rapid victory of the revolutionary forces all over Europe, and regarded their own revolution as only the first instalment of a world Revolution which was due speedily to arrive. In these circumstances their desire & aspirations were not to insure the maintenance of status quo, but to forward as rapidly as possible the triumph of the world revolutions & for this reason the league & Russia......were antagonistic.

—*Review of Europe To-day By G.D. H. Cole pp 751·2*

कभी-कभी उनके अधिकारों की सीमा के निर्णय में बड़ी उलझन खड़ी हो जाती है। Balfore Report में यह स्वीकार किया गया कि बहुत सें कार्य जो राष्ट्र-संघ को सौंपे गये हैं, वे कौंसिल या असेम्बली-द्वारा किये जा सकते हैं; परन्तु कुछ ऐसे निश्चित कार्य हैं, जो केवल असेम्बली की सम्मति से कौन्सिल ही कर सकती है। जहाँ किसी संस्था को कोई विशेषाधिकार नहीं दिया गया हो, वहाँ यह नियम व्यवहार में लाया जाय।

'If one of the organs of the league has dealt with a question coming within the sphere of their common activity, it is in, opportune for the other organ to take measures independently with regard to this question.'

असेम्बली के प्रथम अधिवेशन में प्रधान-मन्त्री (secretary general) ने एक आवेदन-पत्र पेश किया। उसमें यह स्पष्टतया उल्लेख किया गया कि असेम्बली और कौन्सिल के अधिकार और कार्य समान हैं। राष्ट्र-संघ के विधान में ऐसी कोई धारा नहीं है, जो दोनों के अधिकारों और कार्यों में भेद बतलाती हो।

असेम्बली की अपेक्षा कौंसिल अधिक चिरस्थायी संस्था है। असेम्बली का केवल एक ही अधिवेशन सितम्बर मास में होता है; परन्तु कौन्सिल के अधिवेशन कम-से-कम चार प्रतिवर्ष होते हैं। कौन्सिल समस्त वर्ष अपना कार्य समितियों और कमीशनों-द्वारा संचालन करती रहती है; इसीलिए वह राष्ट्र-संघ की कार्य-समिति (Executive Body) कहलाती है।

इटली के Signor Ferraris ने असेम्बली के प्रथम अधिवेशन में कार्य-संचालन-सम्बन्धी नियम पेश करते हुए कहा—

'हमारा प्रमुख सिद्धान्त यह है कि राष्ट्र-संघ के सदस्य समस्त संघ

(Organization) की शक्ति के स्रोत हैं ; असेम्बली राष्ट्र-संघ की सर्वश्रेष्ठ—सर्वोच्च संस्था है ; यद्यपि वह निरन्तर कार्य नहीं करती। कौन्सिल स्थायी शक्ति है और मंत्रि-मंडल-कार्यालय स्थायी कार्य-कर्त्री समिति है।

विधान की धारा ५ (२) के अनुसार असेम्बली को अपने कार्य के संचालन के लिए नियम बनाने का अधिकार है। सन् १६२० ई० में असेम्बली ने अपने कार्य-क्रम के संचालन के लिए जो नियम निर्द्धारित किये, वे असेम्बली की प्रभुत्व-शक्ति को स्वीकार कर ही बनाये गये हैं। इस प्रकार राष्ट्र-संघ के संगठन में असेम्बली का स्थान सर्वोच्च है। इसके उपरान्त असेम्बली के विकास का अध्ययन करने से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि असेम्बली अपने प्रभुत्व की शक्ति को उत्तरोत्तर बढ़ाने में सतत प्रयत्न करती रही है।

कार्य-प्रणाली के नियमों का महत्त्व—असेम्बली के प्रथम अधिवेशन में जो नियम स्वीकृत किये गये, उनमें बहुत कम संशोधन किया गया है। एक नियम है—'असेम्बली अपने सामान्य अधिवेशन में प्रतिवर्ष सम्मिलित होगी।' इस नियम की महत्ता पर Dr. Benjamin Gerig ने जो लिखा है, उसका सारांश यहाँ दिया जाता है—

'सर्व प्रथम इस नियम से अन्तर्राष्ट्रीय विषयों की व्यवस्था तथा नियमन में, छोटे राष्ट्रों की स्थिति, अधिकार और गौरव में वृद्धि हुई है। इस नियम से असेम्बली के प्रभुत्व की सुरक्षा हुई है ; क्योंकि इसके अधिवेशन प्रतिवर्ष होने से यह राष्ट्र-संघ की अन्य संस्थाओं पर भी नियन्त्रण कर सकती है। इसी कारण यह संघ के बजट पर भी नियन्त्रण करती है। इस नियम से असेम्बली के अधिवेशनों को एक नियमित रूप प्राप्त हुआ है, जिसके कारण वह समुचित समय पर अपना कार्य करने में समर्थ हो सकेगी। इस नियम ने असेम्बली को एक

व्यवस्थापिका (Legislative) का रूप दे दिया है। असेम्बली प्रतिवर्ष अपने अधिवेशन में राष्ट्र-संघ की नीति की रूपरेखा निश्चय करती है और उसके अनुसार ही राष्ट्र-संघ की अन्य संस्थाएँ अपना कार्य करती हैं।'*

वार्षिक अधिवेशनों-द्वारा असेम्बली को एक प्रकार से निरन्तरता (Continuity) प्राप्त हो गई है। कार्य-पद्धति-संबंधी नियमों के कारण असेम्बली राष्ट्र-संघ के सम्पूर्ण बजट पर अधिकार रखने में सफल हुई है। विधान की संशोधित धारा ६ (५) में स्पष्ट उल्लेख है कि—'राष्ट्र-संघ से व्यय का भार संघ के सदस्य पर उस अनुपात से होगा, जिसे असेम्बली निश्चित करेगी।'

आर्थिक नियन्त्रण—कार्य-संचालन के लिए असेम्बली के प्रथम अधिवेशन में जो नियम बनाये गये, उनके अनुसार यह निश्चय किया गया कि राष्ट्र-संघ के अर्थ (Finance) पर कौंसिल और असेम्बली दोनों का समान अधिकार होगा। 'असेम्बली के वार्षिक अधिवेशन के कार्य-क्रम में आगामी वर्ष के लिए बजट शामिल होगा तथा विगत वर्ष के आय-व्यय की रिपोर्ट सम्मिलित होगी।'

आय-व्यय के निरीक्षण के सम्बन्ध में कौंसिल ने मई १९२० ई० में यह नियम बनाया कि—'आर्थिक वर्ष के अन्त में कौंसिल अपने दो सदस्य हिसाब जाँच करने के लिए नियुक्त करेगी और वे स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किये जाने से पूर्व एक रिपोर्ट तैयार करेंगे।'

सात मास बाद असेम्बली ने इस नियम में इस प्रकार परिवर्त्तन

---

* Vide. The Assembly & the League of Nations; Its organization, character & competence. Vol. I No. 6 (September 1930)
Geneva Research centre.

कर दिया—'प्रत्येक वर्ष के आरम्भ में किसी सरकार के निरीक्षकों को आय-व्यय के निरीक्षण के कार्य में लगावेगी, जो राष्ट्र-संघ के सदस्यों में से कौंसिल-द्वारा चुने जावेंगे ।'

Supervisory Commission की स्थापना के बाद निरीक्षक, नियमित रूप से कौंसिल-द्वारा चुने जावेंगे । वे केवल ५ वर्ष तक ही अपने पद पर रहेंगे । यथार्थ में यह निरीक्षक कमीशन-द्वारा ही नियुक्त होते हैं और वे उसी के प्रति उत्तरदायी भी होते हैं । इस कमीशन के सदस्य असेम्बली-द्वारा चुने जाते हैं । असेम्बली का राष्ट्र-संघ के अर्थ पर कितना जबरदस्त नियन्त्रण है—इसका बहुत अच्छा वर्णन Sir George Foster ने किया है—

'In the first place, all expenditure are to be authorized by the Assembly. The Assembly in this case holds the purse-strings, as the representative of the Governments whose delegates the Assembly are. No Expenditures, therefore, can be undertaken except on the authorized vote of the Assembly or according to the instructions given by the Assembly' †

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ के व्यय का भार राष्ट्र-संघ पर ही है; अतः श्रमिक-संघ के लिए व्यय असेम्बली की स्वीकृति से ही होता है । श्रमिक-संघ स्वतंत्र संस्था होते हुए भी अपने आर्थिक प्रबन्ध के लिए असेम्बली पर आश्रित है ।

यहाँ तक हमने असेम्बली का आर्थिक प्रभुत्व प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है । हम 'आर्थिक-प्रबन्ध-सम्बन्धी नियमों' की ओर निर्देश कर देना चाहते हैं, जिससे हमारा कथन और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा ।

† Records first Assembly Plenary Meetings P. 677.

नियमों की धारा ३८ इस प्रकार है—

'असेम्बली अन्तिम रूप से आय और व्यय के विवरण को स्वीकृत करेगी। वह किसी भी मद्द को रद्द कर सकती है, जो उसके विचार से अनुचित है। असेम्बली उसमें संशोधन के लिए आदेश कर सकती है। यह संशोधित हिसाब असेम्बली-द्वारा स्वीकार किया जायगा।'

इससे यह प्रकट होता है कि असेम्बली न केवल आय-व्यय के विवरण को प्रस्तुत करने का अधिकार रखती है; प्रत्युत अन्तिम स्वीकृति देने का भी उसे अधिकार प्राप्य है।

एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि अर्थ-संबंधी नियमों में परिवर्तन करने का अधिकार असेम्बली के सिवा और किसी को नहीं है। Supervisory Commissions असेम्बली की एक स्थायी-समिति बन गई है, जिसकी नियुक्ति असेम्बली-द्वारा होती है।

असेम्बली—अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापिका—असेम्बली का अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापिका के रूप में अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके संगठन, कार्यक्रम और राजनीतिक विशेषताओं पर प्रकाश डालें। असेम्बली के प्रथम दश वार्षिक अधिवेशन जिनेवा के एक विशाल संगीत-भवन में होते रहे हैं। राष्ट्र-संघ का नवीन भवन अभी बनाया जा रहा है। २५,००,००० की लागत का एक असेम्बली-हॉल बनाया जा रहा है।

हॉल के एक सिरे पर अध्यक्ष का मंच है, जिसमें प्रधान, प्रधान-मन्त्री, सहायक तथा दुभाषियों के लिए स्थान नियुक्त हैं। शेष भवन में विविध प्रतिनिधि-मण्डलों की सीट लगी हुई हैं। उनका प्रबन्ध फ्रेन्च नाम से वर्णमाला के क्रमानुसार है।

अधिवेशन का उद्घाटन—अधिवेशन के प्रथम दिवस कार्य-क्रम की रूप-रेखा विस्तृत रूप से निश्चित की जाती है। प्रारंभ में

कौंसिल का प्रधान सभापति का आसन ग्रहण करता है। वह नियमित रूप से असेम्बली-अधिवेशन का उद्घाटन घोषित करता है।

सबसे प्रथम Credentials Committee का चुनाव किया जाता है। प्रधान आठ प्रतिनिधियों के नाम पढ़कर सुनाता है, जो मन्त्रि-मण्डल-कार्यालय-द्वारा पहले से निश्चित कर लिये जाते हैं। कोई विरोध न होने पर चुनाव हो जाता है।

तदुपरान्त कौन्सिल का प्रधान अपना प्रारम्भिक भाषण पढ़ता है। जिसमें उन महत्वपूर्ण घटनाओं और कार्यों का विवेचन होता है, जो विगत वर्ष में राष्ट्र-संघ ने सम्पादित किये हैं। यह भाषण भी कार्यालय-द्वारा तैयार किया जाता है। जब प्रधान अपना भाषण पढ़ रहा होता है, तो Credentials Committee प्रतिनिधि-मण्डलों की वास्तविकता की जाँच करती है और बाद में अपनी रिपोर्ट पेश करती है। जब रिपोर्ट स्वीकार हो जाती है, तब असेम्बली अपने प्रधान का चुनाव करती है।

असेम्बली के कार्य का समुचित रीति से संचालन करने के लिए लोक-प्रिय, न्याय-प्रिय-विधान के विशेषज्ञ की आवश्यकता है; इसलिए मन्त्रि-मंडल-कार्यालय प्रतिनिधियों के सहयोग एवं परामर्श से प्रधान के लिए प्रस्ताव करता है।

इसके बाद कौंसिल का प्रधान अपना आसन निर्वाचित असेम्बली के प्रधान को दे देता है। प्रधान के निर्वाचन के बाद प्रथम दिवस का कार्य समाप्त होता है।

प्रधान के चुनाव के बाद ६ उपप्रधानों का चुनाव होता है। सामान्यतया उप-प्रधान प्रमुख प्रतिनिधि ही होते हैं, जो कौंसिल के स्थायी सदस्य हुआ करते हैं। यही उपप्रधान असेम्बली की छः समितियों के सभापति होते हैं। यह छः समितियाँ असेम्बली का सारा काम करती

हैं। समस्त कार्य-क्रम इन छः समितियों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक राष्ट्र को तीन सरकारी प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है; परन्तु विशेषज्ञ (Specialists) भेजने के लिए कोई संख्या का बन्धन नहीं है।

असेम्बली की समितियाँ—एक सप्ताह के बाद समितियाँ अपने प्रोग्राम के अनुसार कार्य करना आरम्भ करती हैं। वे अपनी रिपोर्ट और प्रस्ताव तैयार करती हैं। सामान्य अधिवेशन (General Meeting) स्थगित कर दिया जाता है और समितियाँ अपना-अपना काम करने में संलग्न हो जाती हैं। कार्य-क्रम इस प्रकार विभाजित किया जाता है—

प्रथम समिति—विधान-सम्बन्धी प्रश्न

द्वितीय समिति—विशेषज्ञ-समितियों का कार्य

तृतीय समिति—निःशस्त्रीकरण

चतुर्थ समिति—आर्थिक प्रश्न

पंचम समिति—सामाजिक तथा मानवोपयोगी प्रश्न

षष्ठम समिति—आदेश युक्त शासन, अल्प-संख्यक समस्या, राजनीतिक प्रश्न।

प्रत्येक समिति अपना सभापति चुनती है। सामान्यतया सभापति पूर्व या वर्तमान मन्त्रि-मण्डल (National Ministry) का सदस्य होता है। जैसे ही समितियों का काम समाप्त हो जाता है, असेम्बली का साधारण अधिवेशन शुरू होता है और उसमें वे प्रस्ताव तथा रिपोर्ट पेश की जाती हैं, जिन्हें समितियाँ तैयार करती हैं।

अधिवेशन—यह असेम्बली का चतुर्थ कार्य है। इस विशाल अधिवेशन में प्रत्येक समिति के रिपोर्टर (Rapporteur)-द्वारा असेम्बली के सामने रिपोर्ट तथा प्रस्ताव पढ़े जाते हैं। अधिकतर यह प्रस्ताव असेम्बली-द्वारा, किसी विचार-विनिमय के बिना, स्वीकार कर

लिये जाते हैं। यदि किसी समिति में कोई बाधा उपस्थित हो गई, जिसके कारण वह किसी निश्चय पर न पहुँच सकी, तो प्रतिवादियों को असेम्बली के सामने अपने विचार प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाता है।

सर्वसम्मति के नियमानुसार समिति-द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट व प्रस्ताव अस्वीकार भी किये जा सकते हैं; परन्तु यह निश्चय है कि यदि समिति में कोई प्रस्ताव नगण्य अल्प-मत के विरोध से स्वीकृत हुआ है, तो वह असेम्बली में अवश्यमेव सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया जायगा।

असेम्बली निर्वाचन का काम भी करती है। कौंसिल के ९ अस्थायी सदस्यों में से तीन का चुनाव असेम्बली के सदस्यों द्वारा होता है। प्रति नौ वर्ष बाद कौंसिल के साथ असेम्बली भी स्थायी न्यायालय के न्यायाधीशों का चुनाव करती है।

राष्ट्र-संघ के विधान की धारा २६ के अनुसार असेम्बली को विधान में संशोधन करने का अधिकार है; परन्तु यह संशोधन बहुमत से स्वीकृत होना चाहिए। अब तक धारा ४, ६, १२, १३, १५ में संशोधन हो चुके हैं।

स्वीकृति (Ratification)—राष्ट्र-संघ का विधान (Constitution)-सम्बन्धी विकास बड़ी शीघ्रता से हो रहा है। अब प्रस्तावों की भाषा में भी परिवर्तन होता जा रहा है। पहले जो प्रस्ताव सरकारों के कार्यान्वित करने के लिए पास किये जाते थे, उनमें ऐसे शब्दों का व्यवहार किया जाता था, जिससे 'प्रार्थना' या 'शिफ़ारिस' का आशय प्रकट हो। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञा (International Convention) एक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था (Legislation) ही है। यदि असेम्बली में इतनी शक्ति है कि वह अपने सदस्यों पर प्रतिज्ञा व समझौतों को राष्ट्रों-द्वारा स्वीकृत करा लेने के लिए प्रभाव डाल सकती

है, तो हम उसे व्यवस्थापक-सभा कह सकते हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय-प्रतिज्ञा के नियमों की शक्ति लोकमत-द्वारा प्राप्त हुई है; पर राष्ट्रीय व्यवस्थापक-सभाओं के नियम और कानून के पीछे (Executive) की शक्ति छिपी रहती है। दसवीं असेम्बली में २४ सितम्बर १९२४ ई० को इस आशय का एक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया कि कौंसिल से यह प्रार्थना की जाय कि वह मन्त्रि-मण्डल-कार्यालय की सहायता से एक समिति नियुक्त करे, जो उन कारणों की जाँच करे, जिनसे प्रतिज्ञाओं की राष्ट्रों-द्वारा स्वीकृति में देर लग जाती है, तथा ऐसे साधन निश्चय किये जायँ, जिनसे समझौतों पर हस्ताक्षर-कर्त्ताओं और राष्ट्रों-द्वारा स्वीकृतियों की संख्या में वृद्धि हो सके।

जाँच-समिति नियुक्त की गई और ८ मई १९२० ई० को इसने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट को पेश करते समय Rapporteur M. Giannini ने ३ अक्टूबर १९३० ई० को जो भाषण दिया, उसका यह अंश विचारणीय है—

'The Committee is more over of opinion that the Solution of the problem of ratification depends largely on the through preparation of Conferences. It is hardly possible to insist on the ratification of conventions which being neither well-prepared nor satisfactory, do not merit ratification, or which is very difficult to accept.'

(League Document A. 83, 1930 V)

इस अवतरण से यही निष्कर्ष निकलता है कि Conventions की राष्ट्रों-द्वारा स्वीकृति प्राप्त करने के लिए असेम्बली यथेष्ट प्रभाव

डाल सकती है ; परन्तु वे समझौते (Conventions) भली-भाँति तैयार किये होने चाहिए ।

सर्व-सम्मति का नियम—राष्ट्र-संघ की पाँचवीं धारा में सर्व-सम्मति के नियम का उल्लेख है—

'असेम्बली या कौंसिल के किसी अधिवेशन में किसी निर्णय के लिए अधिवेशन में उपस्थित राष्ट्र-संघ के समस्त सदस्यों की सम्मति आवश्यक है ; परन्तु यह नियम वहाँ प्रयोग में नहीं लाया जायगा, जहाँ विधान में या शान्ति-संधि में कोई दूसरा नियम प्रति-वादित होगा ।'

राष्ट्र-संघ राज्य-प्रभुत्व (State sovereignty) की भावना पर आश्रित है । यह बात विधान की धाराओं से स्पष्ट विदित हो जाती है । विधान के सर्व-सम्मति के नियम को स्वीकार कर प्रभुत्व की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है ।

इस नियम के समर्थकों का विचार है कि सर्व-सम्मति का नियम इसलिए स्वीकार किया गया है कि संघ के प्रबंध-सम्बन्धी तथा विविध राष्ट्रों के सहयोग के सम्बन्ध में कोई प्रश्न हो, तो उसका निर्णय सर्वमान्य हो सके ।

इस प्रकार राज्य के प्रभुत्व की भी रक्षा हो सकेगी । यदि सर्व-सम्मति के नियम को विधान में स्थान न दिया जाता, तो राष्ट्र-संघ एक सर्वोच्च राज्य (Super State) बन गया होता और उस दशा में प्रतिकूल सम्मति देनेवाले राष्ट्र के प्रभुत्व पर प्रभाव पड़ता । यह राष्ट्र-संघ के मौलिक सिद्धान्त के प्रतिकूल होता* ।

---

* तुलना कीजिए—

The adoption of the principle of unanimity was nece-

परन्तु हमारी सम्मति में सर्व-सम्मति का नियम राष्ट्र-संघ की शक्ति का नहीं—शक्ति-हीनता का प्रमाण है। हम कुछ उदाहरण देकर इस कथन की सत्यता सिद्ध करेंगे। विधान की धारा १५ के अनुसार राष्ट्र-संघ का कोई भी सदस्य किसी विवाद को कौंसिल के सामने उपस्थित कर सकता है। जब कोई विवाद इस प्रकार कौंसिल को सौंप दिया जाता है, तो कौंसिल का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह शान्तिमय समझौता कराने के लिए प्रयत्न करे; पर यदि ऐसा समझौता सम्भव न हो, तो कौंसिल को विवाद की जाँच कर एक रिपोर्ट तैयार करनी चाहिए, जिसमें विवाद की समस्त घटनाओं का पूर्ण वृत्तान्त हो और उसके निर्णय के लिए सिफारिशें भी हों। इस रिपोर्ट को कौंसिल सर्व-सम्मति या बहु सम्मति से स्वीकार कर सकती है। यदि रिपोर्ट सर्व-सम्मति से स्वीकार नहीं की जाती (विग्रही पक्षों को छोड़कर) तो राष्ट्र-संघ के सदस्यों पर उन सिफारिशों को कार्य-रूप में परिणत करने का उत्तरदायित्व नहीं रहता।

इस दशा में सदस्य अपनी इच्छानुसार काम करने में पूरे स्वतन्त्र रहते हैं। यदि रिपोर्ट सर्व-सम्मति से स्वीकृत की गई, तो सर्व सदस्यों पर

---

ssary for the preservation of the Sovereign rights of Member states. The Alternative would have been to make the Leagne a super state able to override the will of a single member.

—The Covenant Explained.

By. Frederick whelen

Pp. 29.

उसके अनुसार कार्य करने का उत्तरदायित्व रहता है। ऐसी दशा में उनका कर्त्तव्य यही है कि वे उस विग्रही पक्ष से लड़ाई नहीं छेड़ेंगे, जो रिपोर्ट की शर्तों का पालन करता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि राष्ट्र-संघ के सदस्य उस राष्ट्र के विरुद्ध कोई कार्य करने के लिए बाध्य नहीं हैं, जो उनकी सर्व-सम्मति रिपोर्ट को ठुकराकर रण-भूमि में युद्ध-नाद की ध्वनि करता है।

कौंसिल स्वयं अपने कंधों पर कोई उत्तरदायित्व ग्रहण न कर यह कार्य असेम्बली को सौंप सकती है। यदि इस प्रकार यह विवाद असेम्बली को सौंप दिया गया, तो रिपोर्ट तथा निर्णय देने का काम उसके अधीन आ जाता है; अतः ऐसी परिस्थिति में, असेम्बली की विशालता के कारण सर्व-सम्मति नियम का पालन अति कठिन ही नहीं, असंभव है; असेम्बली अपना निर्णय बहुमत से दे सकती है, और इस प्रकार का निर्णय राष्ट्र-संघ के सदस्यों को मान्य होगा; परन्तु ऐसा होने के पहले एक शर्त्त का पूरा होना आवश्यक है। शर्त यह है कि असेम्बली की रिपोर्ट तथा सिफारिशों पर असेम्बली के उन सदस्यों की सर्व-सम्मति होनी चाहिए, जिनके प्रतिनिधि कौंसिल में भी हैं। उन सदस्यों की सम्मति नहीं ली जायगी, जो विवाद में सीधा संबंध रखते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सदस्यों का स्पष्ट बहुमत भी होना चाहिए। इस प्रकार विधान की धारा १५ के अन्तर्गत प्रत्येक सबल राष्ट्र को Right of Veto प्राप्य है।

यदि हम मंचूरिया के विवाद का सिंहावलोकन करें, और राष्ट्र-संघ-द्वारा विधान-धारा १५ के अन्तर्गत किये गये कार्य का विश्लेषण करें, तो यह प्रकट हो जायगा कि इस सर्व-सम्मति के नियम ने राष्ट्र-संघ के गौरव को हतप्रभ करने में कहाँ तक योग दिया है। राष्ट्र-संघ जापान के विरुद्ध कोई काम न कर सका; क्योंकि सबल राष्ट्र जापान से बैर लेना नहीं चाहते थे।

हमारे इस विवेचन का सारांश यही है कि जब तक राष्ट्र-संघ परम्परागत राज्य-प्रभुत्व की भावना में क्रान्तिकारी परिवर्तन न करेगा, तब तक वह अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का अन्त करने में सफल नहीं हो सकता। राष्ट्र की निरपेक्ष स्वाधीनता और राज्य-प्रभुत्व (State Sovereignty) का स्वीकार राष्ट्र-संघ की मौलिक दुर्बलता है।*

---

* Compare—Review of Europe To-day. By G.D.H. Cole. pp. 759

तीसरा अध्याय

राष्ट्र-संघ की कौंसिल

(League Council)

कौंसिल का जन्म—फिलीमोर - योजना तथा राष्ट्रपति विल्सन की प्रथम योजना में कहीं भी कौंसिल का उल्लेख नहीं है। विल्सन का विचार था कि एक प्रतिनिधि-संस्था की स्थापना की जाय, जिसमें कूट-नीतिज्ञ सम्मिलित होकर सम्मेलन कर सकें। विशाल असेम्बली की शक्तिशाली प्रभुता का संतुलन करने के लिए तथा महान् राष्ट्रों के हितों की रक्षा के लिए सर्वप्रथम जनरल स्मट्स ने अपनी क्रियात्मक योजना में एक कार्य समिति की स्थापना का विचार प्रकट किया। तत्पश्चात् रोबर्ट सीसिल ने इसका समर्थन किया। महान् राष्ट्रों के हितों के समर्थकों का यह विचार था कि कार्य-समिति (Council) में केवल महान्-राष्ट्र (Great powers) ही सदस्य बनाये जायँ। छोटे राष्ट्रों को उसमें प्रतिनिधित्व न दिया जाय ; परन्तु शान्ति-परिषद् में, छोटे राष्ट्रों

की दृढ़ता और आग्रह के कारण उनकी विजय हुई और उन्हें कौंसिल में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्राप्त हो गया।

वर्सैलीज की सन्धि की भूमिका में संयुक्त-राज्य अमेरिका, ब्रिटिश साम्राज्य, फ्रान्स, इटली और जापान को कौंसिल में स्थायी प्रतिनिधित्व दिया गया और चार छोटे राष्ट्रों के प्रतिनिधि लिये गये। इन प्रतिनिधियों का चुनाव असेम्बली के हाथों में सौंप दिया गया।

प्रारम्भ में कौंसिल की रचना जिस नीति और प्रणाली से की गई, उससे यह प्रकट होता है कि महान् राष्ट्र महासमर की गुट्टबन्दी को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील थे। नवम्बर १९२० ई० में जब असेम्बली का प्रथम अधिवेशन हुआ, तो राष्ट्र-संघ के ४२ सदस्य-राष्ट्रों में से १३ सदस्य-राष्ट्र ऐसे थे, जो महासमर में तटस्थ रहे थे। इसके बाद तटस्थ सदस्यों की वृद्धि होती गई; परन्तु कौंसिल के ८ सदस्यों में केवल एक तटस्थ राष्ट्र को स्थान मिला। जब १९२२ में कौंसिल के अस्थायी सदस्य चार से बढ़ाकर छः कर दिये गये, तब एक तटस्थ राष्ट्र और बढ़ा दिया गया।

राष्ट्र-संघ के सदस्यता के सम्बन्ध में विजित राष्ट्रों के प्रति जैसा व्यवहार किया, उससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि राष्ट्र संघ अपने क्रियात्मक क्षेत्र में अपने आदर्शवाद से पतित हो गया था। उसने विजेता और विजित के भेद-भाव की नीति के आधार पर विश्व-शान्ति का पाखण्ड रचा। सबल राष्ट्रों को यह भय था कि कहीं पराजित राष्ट्र मौका पाकर फिर उनसे लड़ाई न कर बैठें। यही कारण है कि जर्मनी को प्रारम्भ में राष्ट्र-संघ में स्थान नहीं दिया गया। ८ सितम्बर १९२६ ई० को जर्मनी राष्ट्र-संघ का सदस्य माना गया।

Felix Morley ने लिखा है कि—

Behind all this, however, was the fact that the council

as at first constituted had no place for any but victorious powers.

(*Society of Nations P. 343*)

कौन्सिल की रचना और कार्य-प्रणाली से यह भली-भाँति स्पष्ट है कि उसकी रचना गुट्टबन्दी के आधार पर हुई है।

राष्ट्र-संघ की कार्य-समिति (Council) में ब्रिटिश-साम्राज्य—राष्ट्र-संघ की कौन्सिल में ब्रिटिश-साम्राज्य को स्थायी प्रतिनिधित्व दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रिटिश-साम्राज्य को कौंसिल में एक स्थायी स्थान मिलने पर उसके विविध भाग अपने-अपने पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग पेश नहीं कर सकते। ब्रिटिश-साम्राज्यवादी की इस नीति से ब्रिटिश-उपनिवेशों में घोर असंतोष और अशान्ति फैल गई; क्योंकि इस नीति के अवलम्बन से वे कौंसिल में अपना प्रतिनिधि भेजने के अधिकार से वंचित हो जाते; अतः विधान की धारा ४ में राज्य (State) शब्द के स्थान में राष्ट्र-संघ के सदस्य (Member of the League) शब्द के व्यवहार पर उपनिवेशों के प्रतिनिधियों ने अधिक आग्रह किया। अन्त में यह संशोधन स्वीकार कर लिया गया।

राष्ट्र-संघ के साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञों का यह कथन है कि भारत अभी स्वायत्त-शासन (Self-Governing) नहीं है; इसलिए उसे कौंसिल में स्थान देना न्यायोचित नहीं है। राष्ट्र-संघ पर एक अधिकारी लेखक ने लिखा है—

'Whatever may be said of the dominion case for council Membership, such claim in the case of India must first meet the contention that this country does not yet fulfill the pre-requisiti for League Membership laid-

down by Article 1. of the covenant which limits eligibility therefore to 'any fully self governing state, Dominion or colony.'

यह बिलकुल स्पष्ट है कि भारत राष्ट्र-संघ का प्रारम्भिक सदस्य है ; क्योंकि वर्सेलीज के सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करनेवालों में भारत के प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे। भारत असेम्बली का सदस्य है और असेम्बली के सदस्यों के लिए ऐसा कोई बन्धन नहीं है कि वे उसी समय कौंसिल-सदस्यता के योग्य समझे जावेंगे, जबकि वे किसी स्वायत्त-शासन (Self-governing State) के प्रतिनिधि हों। फिर भारत के सम्बन्ध में इस प्रकार का विधान (Covenant) के विरुद्ध तर्क देना कहाँ तक न्यायसंगत और युक्तिपूर्ण कहा जा सकता है।

राष्ट्र-संघ के विधान की धारा १ के प्रथम व द्वितीय पैराग्राफ पर गम्भीरता से विचार किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि मौलिक सदस्य Original Member) के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह पूर्ण स्वायत्त राष्ट्र व उपनिवेश का प्रतिनिधि हो। यदि ऐसा नियम होता, तो मौलिक सदस्य और असेम्बली की $\frac{2}{3}$ की सम्मति से निर्वाचित सदस्य में कोई भेद न माना जाता और तब भारत को राष्ट्र-संघ में प्रवेश का अधिकार ही न मिलता। भारत को राष्ट्र-संघ में स्थान मिलने का कारण यह है कि भारत के प्रतिनिधियों ने स्वतंत्र रूप से वर्सेलीज के सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे। राष्ट्र-संघ का विधान वर्सेलीज की सन्धि का एक प्रमुख भाग है ; इसलिए न्यायतः भारत को कौंसिल में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त है। Prof. C.A.W. Manning का यह कथन अतीव विचारपूर्ण है—

'India was among the 'original members' ; and the

covenant's phrases, 'se governe librement' and 'fully 'self-governing', whatever they mean, apply techinically to future applicants only and not to those who got in on the ground floor.'*

सारांश यह है कि विधान में प्रयुक्त 'स्वायत्त-शासन' का अर्थ चाहे कुछ हो ; परन्तु उसका प्रयोग केवल उन राष्ट्रों के सम्बन्ध में ही होना चाहिए, जो वर्सेलीज की संधि के बाद राष्ट्र-संघ के सदस्य बनने के इच्छुक हैं। जिन सदस्यों ने उक्त लिखित संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किये, उनके लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे 'स्वायत्त-शासन' के प्रतिनिधि हों।

भारत ही वह राष्ट्र है, जिसने सबसे प्रथम कौंसिल-सदस्यता के लिए (ब्रिटिश कामनवेल्थ की द्वितीय सीट के लिए) प्रयत्न किया। जब १६२२ ई० में असेम्बली ने कौंसिल के अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ाकर छः कर दी, उस समय राष्ट्र-संघ के दो प्रतिनिधि-मण्डलों ने कौंसिल की उम्मेदवारी के लिए भारत को सलाह दी। सन् १६२३ ई० में भारत कौंसिल की उम्मेदवारी के लिए खड़ा हुआ। उसके पक्ष में केवल दो सम्मतियाँ आईं तथा कनाड़ा को एक सम्मति मिली। सन् १६२४—२५ ई० में भारत ने पुनः प्रयत्न किया ; परन्तु सफलता नहीं मिली।

निस्सन्देह भारत को कौंसिल में सदस्यता प्राप्त करने की योग्यता उपलब्ध है। कौंसिल-प्रवेश से भारत की गौरव-वृद्धि होगी तथा वह शान्ति-स्थापन के कार्य में कुछ सीमा तक प्रभावकारी काम कर सकेगा ; परन्तु ब्रिटिश-साम्राज्य एक पराधीन राष्ट्र को समानता का पद कैसे दे सकता है ? Morley ने यह ठीक ही लिखा है कि—

---

* India Analysed Vol I. International
Article—*India & the League p. 31-32*

'But the significance of the matter did not lie in the position of India at the bottom of the pall for council seats. Much more important was the mere fact of the candidacy of a British dependency for the body on which British Empire was permanently represented'.

निर्वाचित सदस्य—सन् १६२६ ई० में अस्थायी (निर्वाचित) सदस्यों की संख्या ६ से बढ़ाकर ६ कर दी गई। जब से सदस्यों में वृद्धि हुई है, तब से कौंसिल में दो ब्रिटिश सदस्यों के लिए स्थान सुरक्षित हो गया है। एक स्थायी और दूसरा अस्थायी। यह दूसरा अस्थायी सदस्य ब्रिटिश उपनिवेशों में से चुना जाता है; ६ स्थायी सदस्यों में ३ सदस्य लेटिन अमेरिका के राष्ट्रों से लिये जाते हैं; २ स्पेन और पोलेण्ड के लिए सुरक्षित हैं तथा शेष ३ सीट क्रमानुसार Little Entente, स्केन्डीनिवियन देश तथा एशिया (जापान को छोड़कर) के देशों के लिए हैं। इस प्रकार आस्ट्रिया, बलगेरिया, ग्रीस, हंगरी और पुर्तगाल के लिए कौंसिल-प्रवेश का कोई सुअवसर नहीं रहता।

जनवरी १६३२ ई० तक कौंसिल के ६६ अधिवेशन हो चुके हैं। इस समय तक राष्ट्र-संघ के आधे से अधिक सदस्य कौंसिल में सदस्य रह चुके हैं। २७ राष्ट्रों को कौंसिल-प्रवेश का अवसर अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है।

इन २७ राष्ट्रों में से अनेकों राष्ट्र ऐसे हैं, जो आर्थिक, राजनीतिक, व्यापारिक तथा औद्योगिक दृष्टि से विश्व में अपना विशेष स्थान रखते हैं; परन्तु उनको अभी तक यह पद प्रदान नहीं किया गया है।

कौंसिल की कार्य-प्रणाली—कौंसिल का कार्य-क्षेत्र अति विशाल और व्यापक है। विधान की धारा ४ (४) में लिखा है—कौंसिल अपने अधिवेशनों में प्रत्येक कार्य को कर सकती है, जो राष्ट्र-संघ की

कार्य-सीमा के अन्तर्गत है तथा जिसका विश्व की शान्ति पर प्रभाव पड़ता है।

कौंसिल के साधारण अधिवेशन के कार्य-क्रम की सूची में ३० विषयों का उल्लेख रहता है। प्रत्येक विषय एक नियुक्त सदस्य द्वारा 'रप्परटोर' (Rapporteur) की हैसियत से प्रस्तुत किया जाता है। यथार्थ में किसी विशेष विषय की रिपोर्ट मन्त्रि-मण्डल-कार्यालय के विशेष विभाग-द्वारा तैयार की जाती है।

कौंसिल-अधिवेशन के प्रारम्भ में और यदा-कदा अधिवेशन के बीच में दो या तीन बार गुप्त सभाएँ (Private Meetings) बुलाई जाती हैं। ऐसी सभाओं में निम्न-प्रकार के विषयों का निश्चय किया जाता है—

कार्य-क्रम की प्रणाली, किसी विवाद के निर्णायकों की नियुक्ति, विशेष कमीशन तथा समितियों के सदस्यों की नियुक्ति, मंत्रि-मंडल-कार्यालय के कर्मचारियों में परिवर्तन, गंभीर समस्याओं पर मंत्रि-मंडल-कार्यालय-द्वारा विचारों पर निश्चय, अन्तर्राष्ट्रीय संकट आदि। इस तैयारी और विचार-विनिमय का परिणाम यह होता है कि कौंसिल के सार्वजनिक अधिवेशन विशेष महत्त्व नहीं रखते। एक नवीन दर्शक के लिए उनमें अवश्यमेव आकर्षण और प्रभावशालिता रहती है; पर सदस्यों के लिए वह विशेष महत्त्व के नहीं होते, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। कौंसिल का प्रधान 'रप्परटोर' को अपने विषय की रिपोर्ट पढ़कर सुनाने का आदेश करता है। रिपोर्ट पर एक ड्राफ़्ट प्रस्ताव बनाया जाता है। इसे भी मंत्रि-मण्डल-कार्यालय तैयार करता है। सामान्यतया यह प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता है। इसके बाद दूसरा कार्य किया जाता है। यदि कोई ऐसा विषय है, जिसका राष्ट्र-संघ के किसी सदस्य से सम्पर्क है और वह कौंसिल का सदस्य नहीं है, तो उसके

राष्ट्र का एक प्रतिनिधि अधिवेशन में आमन्त्रित कर लिया जायगा। यह प्रतिनिधि अपनी सरकार के विचार तथा दृष्टिकोण को अधिवेशन के सामने रखता है। यदि ऐसा प्रतीत हो कि किसी विषय पर समझौता होना असम्भव है, तो वह विषय स्थगित कर दिया जायगा। मंत्रि-मंडल-कार्यालय आगामी अधिवेशन से पूर्व विरोधी पक्ष से समझौता कराने का प्रयत्न करेगा।

कौंसिल में अन्तरंग मण्डल का विकास—राष्ट्र-संघ की उत्पत्ति के समय एवं राष्ट्र-संघ के विधान की रचना करते समय संघ के निर्माता और समर्थक राष्ट्र (Great powers) जिस नीति का व्यवहार कर रहे थे तथा जिस प्रवृत्ति के शिकार बनकर वे कौंसिल को महाराष्ट्रों का संघ बनाना चाहते थे, उससे यह स्पष्ट भाव झलकता है, कि कौंसिल जनसत्तावादात्मक न रहकर एक गुप्त समिति का रूप धारण कर लेगी। जैसे-जैसे असेम्बली की सत्ता और प्रभुत्व में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई, वैसे-वैसे महाराष्ट्रों में छोटे राष्ट्रों की ओर से भय और अविश्वास के भाव जाग्रत् होने लगे। महाराष्ट्रों को यह भय बना रहा कि यदि असेम्बली सर्वेसर्वा बन गई, तो कौंसिल का मूल्य घट जायगा। और फलतः हमारा प्रभाव और आतंक भी घट जायगा; क्योंकि असेम्बली में छोटे-छोटे राष्ट्रों का बहुमत है। इस भय और अविश्वास ने कौंसिल के संगठन में विचित्र परिवर्तन कर दिया और एक नवीन प्रवृत्ति को जन्म दिया। सबल राष्ट्रों ने कौंसिल के भीतर एक अन्तरंग-मण्डल (Cabal of Great powers) रचने का प्रयत्न किया। इस प्रवृत्ति में सहायक शक्तियाँ और परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हो गईं। यूरोप की राजनीति में कूटनीति और गुट्टबन्दी का सबसे अधिक महत्त्व रहा है। बड़े-बड़े जगत्-विख्यात कूटनीतिज्ञ गुट्टबन्दी को राजनीति का सफल साधन मानते हैं। उनकी दृष्टि में राष्ट्रीयता की

रक्षा का यह सर्व-श्रेष्ठ साधन है। दूसरी बात जिससे इस दुष्प्रवृति को प्रोत्साहन मिला है—यह है कि कौंसिल के स्थायी सदस्य अधिकांश में पर-राष्ट्र-सचिव ही होते हैं, और अन्य अस्थायी सदस्य राष्ट्रीय सरकारों के राजदूत (Diplomat) होते हैं। इससे महाशक्तियों को एक अन्तरंग-मंडल बनाने का सुयोग मिल जाता है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि यह दुष्प्रवृत्ति राष्ट्र-संघ के गौरव एवं उत्कर्ष के लिए घातक और विनाशकारी है।

आलोचना—इस प्रवृत्ति का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसकी सत्ता के प्रभाव से कौंसिल का गौरव और प्रभाव कम हो जाता है। जिस कार्य के लिए कौंसिल के अधिवेशन बुलाये जाते हैं, उसे पहले से ही बड़े राष्ट्र गुप्त-मंत्रणा-द्वारा निश्चय कर लेते हैं ; अतः कौंसिल एक अभिनय अथवा प्रहसन का स्थान ले लेती है। यह प्रवृत्ति राष्ट्र-संघ के लिए आत्मघाती है। चीन-जापान युद्ध के समय इस प्रवृति की भयंकरता का कटु अनुभव संसार कर चुका है। यह चीन-जापान-विवाद कोई ऐसा सामान्य प्रसंग नहीं था, जिसका निर्णय केवल बड़े-बड़े राष्ट्र ही अकेले में कर सकते थे। न यह विवाद गुप्तसभाओं और मंत्रणाओं से ही तय हो सकता था। दूसरी ओर जापान भी कोई दुर्बल शक्तिहीन राष्ट्र नहीं था, जो शान्ति-पूर्वक अपने 'बन्धुओं' के निर्णय को शिरोधार्य कर लेता। चीन-जापान-विवाद राष्ट्र-संघ की शक्ति और प्रभुत्व का परीक्षण था। कौंसिल के अन्तरंग-मंडल ने जापान पर प्रभाव डालने के लिए संयुक्त-राज्य अमेरिका के सहयोग के लिए बहुत प्रयत्न किया ; परन्तु जब अमेरिका ने सहयोग देना स्वीकार न किया, तब कौंसिल को विधान के कानूनी प्रतिबन्धों का बहाना करना पड़ा।

उस समय कौंसिल के अस्थायी सदस्य थे—आयरिश स्वतन्त्र राज्य,

जुगोस्लाविया, नारवे, पनामा, पेरू, चीन, पोलेण्ड और स्पेन। इन सब राष्ट्रों ने शान्ति-स्थापना और समझौते के लिए प्रयत्न किया; परन्तु सफलता नहीं मिली; क्योंकि 'अन्तरंग-मंडल' (Cabal of Great powers) ने एक सदस्य—जापान से चीन का झगड़ा था। ऐसी स्थिति में मंडल को किसी उचित निर्णय पर पहुँचना संभव न था। अन्तरंग-मंडल अस्त-व्यस्त हो गया, उसके फल-स्वरूप कौंसिल का भवन हिल गया। 'राष्ट्र-संघ' पर अधिकारी विद्वान् लेखक मोर्ले का कथन कितना विचार-पूर्ण और उचित है—

'A council based on the absolute necessity of accord between the Great powers logically lends itself to a cabal of these great powers & Just as logically proves to be powerless when accord within the cabal is unobtainable.'

—*The Society of Nations pp. 388.*

कौंसिल और असेम्बली—कौंसिल और असेम्बली दोनों राष्ट्र-संघ की संस्थाएँ हैं और दोनों का कार्य-क्षेत्र भी सामान्यतया समान ही है; परन्तु असेम्बली के अधिकार कौंसिल की अपेक्षा अधिक हैं। दोनों संस्थाएँ एक दूसरे की सहायक और पूरक हैं। वे एक दूसरे की विरोधी संस्था नहीं हैं। यहाँ हम संक्षेप में असेम्बली और कौंसिल के विशेषाधिकारों का तुलनात्मक विवेचन करेंगे।

असेम्बली के विशेषाधिकार

१. **राष्ट्र-संघ का वजट**—असेम्बली राष्ट्र-संघ के वजट का निर्णय करती है और अपनी स्वीकृति देती है। प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को संघ के लिए किस अनुपात से धन देना चाहिए—इसका निश्चय भी

उसके अधीन है। Supervisory Commission की नियुक्ति भी असेम्बली-द्वारा होती है।

२. विधान में संशोधन—अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय तथा राष्ट्र-संघ के विधान में संशोधन करने का अधिकार असेम्बली को है ; परन्तु संशोधन उस समय तक व्यवहार में नहीं लाये जाते, जब तक कि उन सब सदस्यों-द्वारा वे स्वीकृत नहीं कर लिये जाते, जिनके प्रतिनिधि कौंसिल में हैं तथा असेम्बली के सदस्य बहुमत से स्वीकार करें।

३. नवीन सदस्य का प्रवेश—असेम्बली $\frac{2}{3}$ की बहुसम्मति से राष्ट्र को राष्ट्र-संघ का सदस्य बना सकती है।

४. कौंसिल के लिए निर्वाचन—असेम्बली कौंसिल के अस्थायी सदस्यों का चुनाव भी करती है। असेम्बली कौंसिल के स्थायी एवं अस्थायी सदस्यों की वृद्धि के लिए स्वीकृति दे सकती है। कौंसिल के अस्थायी सदस्यों के निर्वाचन-नियमों की रचना भी असेम्बली करती है।

५. प्रधान-मंत्री (Secretary General) की नियुक्ति—प्रधान-मन्त्री की नियुक्ति कौंसिल करती है ; परन्तु असेम्बली की बहु-सम्मति से स्वीकृति आवश्यक है।

६. परस्पर राष्ट्रों के विवाद—जो जाँच के लिए कौंसिल को सौंपे जाते हैं, उनकी जाँच व निर्णय असेम्बली-द्वारा भी किया जा सकता है।

७. संधियों की जाँच—राष्ट्र-संघ के सदस्य जो संधियाँ करते हैं, वे असेम्बली के पास पुनर्विचार के लिए भेजी जाती हैं।

८. असेम्बली और न्यायालय—असेम्बली कौंसिल के सहयोग से अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन करती है। असेम्बली किसी विवाद तथा प्रश्न पर न्यायालय से मत ले सकती है।

६. परामर्श-समितियाँ—असेम्बली कौंसिल से यह सिफारिश कर सकती है कि वह Advisory Committee नियुक्त करे।

कौंसिल के विशेषाधिकार

१. **वर्सेलीज की सन्धि के अन्तर्गत अधिकार**—इस सन्धि-पत्र में ऐसी अनेकों धाराएँ हैं, जिनमें कौंसिल को कुछ विशेष मामलों में निर्णय करने के अधिकार दिये गये हैं।

२. **अल्पमत की सुरक्षा**—यूरोप में अल्प-संख्यक जातियों की भाषा, संस्कृति, धर्म, साहित्य तथा जाति की सुरक्षा।

३. **प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्य**—(I) कौंसिल को कुछ प्रबन्ध-संबंधी काम भी करने पड़ते हैं। डेनजिंग के स्वतंत्र नगर तथा सार-प्रदेश का शासन-प्रबन्धादि।

(II) कौंसिल निर्णायक, पंच, तथा कमिश्नरों की नियुक्ति करती है।

Rapporteur System (**विशेषज्ञ-पद्धति**)—जैसे-जैसे कौंसिल राष्ट्र-संघ की कार्य-समिति (Executive body) का रूप धारण करती गई, वैसे-वैसे उसे विशेषज्ञों की आवश्यकता अनुभव होने लगी। कौंसिल के विकास के साथ विशेषज्ञ-पद्धति का जन्म हुआ। कार्य-क्रम की सूची में प्रत्येक विषय का समुचित रीति से अध्ययन करने के लिए किसी विशेषज्ञ को उसे सौंप दिया जाता है। जिस सदस्य को यह कार्य सौंपा जाता है, उसे फ्रेञ्च-भाषा में रप्परटोर (Rapporteur) कहते हैं। ऐसा सदस्य यथासंभव उसी देश का चुना जाता है, जिसका उस पर सौंपे हुए विषय से कोई संबंध न हो। वह मंत्रि-मंडल-कार्यालय की सहायता से अपने विषय की तैयारी करता है और अपनी रिपोर्ट सहित उसे कौंसिल के सामने विचारार्थ पेश करता है। सन्

१९३१—३२ ई० में निम्न-लिखित विषयों के विशेषज्ञ निम्न प्रकार नियुक्त किये गये—

राजस्व-समस्या (Financial)—नार्वे।
आर्थिक-समस्या (Economic)—जर्मनी।
आवागमन (Transit)—पोलैण्ड।
स्वास्थ्य (Health)—ऑयरिश स्वतंत्र राज्य।
अन्तर्राष्ट्रीय विधान (International law)—इटली।
राष्ट्र-संघ का राजस्व (Finance of League)—गोटेमाल्य
अन्तर्राष्ट्रीय ब्यूरोज़ (Bureaus)—चीन।
आदेश-युक्त शासन—जुगोस्लाविया।
अल्पमत-प्रश्न (Minorities)—जापान।
अस्त्र-शस्त्र (Armaments)—स्पेन।
सार का प्रबंध (Administration of saor)—इटली।
डेनजिंग का प्रबंध (Danzing)—ग्रेटब्रिटेन।
मानसिक सहयोग (Mentat Co-operation)—फ्रान्स।
विषैले पदार्थों का आवागमन—जुगोस्लाविया।
नारी-बालक-विक्रय—पनामा।
मानवोपयोगी संस्थाएँ—पेरू।
शिशु-संरक्षण—आयरिश स्वतंत्र राज्य।
Refugees question—पेरू।

विशेषज्ञ-पद्धति का अभी पूर्ण विकास नहीं हुआ है। इसके विकास के मार्ग में अनेकों बाधाएँ हैं। कौंसिल के अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन इस पद्धति में बड़ी बाधा उपस्थित करता है। स्थायी सदस्य इसके विकास में पूरा सहयोग दे सकते हैं; परन्तु वे इस ओर विशेष रुचि नहीं रखते। कौंसिल के कुछेक सदस्यों ने बड़ी योग्यता से विशेषज्ञ के

कार्यों का सम्पादन किया है ; परन्तु अधिकांश सदस्यों को विषय सौंपने का कार्य विचार-पूर्वक नहीं किया गया है। फल-स्वरूप वे अपने उत्तर-दायित्व का पूर्णतः पालन करने में असमर्थ रहे हैं। कुछ लोगों का विचार यह है कि कौंसिल के सदस्यों में वृद्धि के कारण इस कार्य में बाधा आती है। आजकल कौंसिल के Rapporteur ऐसे नियुक्त होने लगे हैं, जो अपने विषय से अनभिज्ञ होने के साथ-साथ उस विषय में कोई रुचि भी नहीं रखते। मंत्रि-मंडल-कार्यालय उसकी रिपोर्ट तथा प्रस्तावों के मसविदे तैयार कर देता है। विशेषज्ञ को कौंसिल में रिपोर्ट के पढ़ने का भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता। हाँ, कोई विवाद-ग्रस्त विषय उपस्थित होने पर वह रिपोर्ट पढ़कर सुनाता है। इस प्रकार जो कार्य कौंसिल का था, वह अब इस विशेषज्ञ-पद्धति के कारण मंत्रि-मंडल-कार्यालय का बन गया है। कौंसिल के स्थायी सदस्य प्रायः पर-राष्ट्र-सचिव (Foreign Ministers) ही होते हैं। वे अपने राष्ट्रीय-शासन के कार्यों में इतने व्यस्त होते हैं कि राष्ट्र-संघ की कौंसिल के कार्यों का ठीक प्रकार संचालन करने का यथेष्ट अवसर नहीं मिलता। वे अपनी राष्ट्रीय राजनीति के वातावरण में ऐसे ओत-प्रोत होते हैं कि हम उनसे यह आशा कदापि नहीं कर सकते कि वे निष्पक्ष, न्यायपूर्वक किसी विवाद-ग्रस्त अन्तर्राष्ट्रीय समस्या पर विचार-विनिमय कर सकेंगे।*

---

* The foreign ministers of great powers lend prestige to the Council, and casual visitors to its session are invariably thrilled by seeing men whose names are known to every news-paper reader setting like ordinary human beings around the famous horse-shoe table. But events have shown that statesmen of this prominence are often too burdened to be good rapporteur on

कौंसिल के सदस्यों की इस स्वार्थ-पूर्ण नीति के कारण उसका पतन होता जा रहा है और वह समय दूर नहीं है, जब कौंसिल British Privy Council की तरह एक नाम-मात्र की संस्था बन जायगी। कार्य-समिति (Council) के अधिकार शनैः-शनैः मंत्रि-मंडल-कार्यालय की सीमा में आते जा रहे हैं। कौंसिल के प्रधान का प्रभुत्व भी क्षीण होता जाता है; परन्तु राष्ट्र-संघ के सर्वेसर्वा प्रधान-मन्त्री (Secretary General) शक्ति का स्रोत बनता जा रहा है। हम आगामी अध्याय में इसी पर विचार करेंगे।

---

important technical questions & sometimes too entangled in the complex meshes of their respective national policies to be above suspicion where controversial issues are at stake.

—*The Society of Nations pp. 44-12.*

चौथा अध्याय

स्थायी मन्त्रि-मंडल-कार्यालय

The Secretriate, in the face of all obstacles, dis-couragements, & handicaps has in the brief space of its existence accomplished a work of international organi-zation which stands out unique in history.

— *Felix Morley (Society of Nations)*

विधान में कार्यालय का स्थान—राष्ट्र-संघ के विधान की धारा २, ६, ७, ११, १५, १८ और २४ में कार्यालय के कर्तव्य एवं अधि-कारों का प्रतिपादन किया गया है। धारा २ के अनुसार कार्यालय को स्थायी संस्था माना गया है, जो संघ की कौंसिल और असेम्बली के सहयोग से राष्ट्र-संघ के निर्णय को कार्य-रूप में परिणत करने का कार्य करेगा। धारा ६ में यह प्रतिपादन किया गया है कि राष्ट्र-संघ के

केन्द्र-स्थान में स्थायी मंत्रि-मंडल-कार्यालय स्थापित किया जायगा। कार्यालय के मन्त्री तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति कौंसिल की स्वीकारी से प्रधान-मन्त्री द्वारा होगी और प्रधान-मन्त्री की नियुक्ति असेम्बली के बहुमत से कौंसिल-द्वारा होगी। धारा ७ के अनुसार यह स्वीकार किया गया है कि कार्यालय तथा राष्ट्र-संघ के सब पद (Offices) नर-नारी दोनों को समान रूप से प्राप्य होंगे। राष्ट्र-संघ के सदस्य जब उसके कार्य में सन्नद्ध रहेंगे, उस समय तथा मन्त्रि-मण्डल-कार्यालय के समस्त सदस्य राजदूत (Ambassador) के अधिकारों का उपभोग कर सकेंगे। कोई युद्ध या युद्ध की धमकी, चाहे उसका राष्ट्र-संघ के सदस्य से सीधा सम्बन्ध हो या न हो, वह राष्ट्र-संघ की कार्य-सीमा के अन्तर्गत समझा जायगा और वह अपने निवारण के लिए प्रयत्नशील रहेगा।

धारा ११ के अनुसार प्रधान-मन्त्री को यह अधिकार दिया गया है कि वह ऐसी आवश्यकता के समय राष्ट्र-संघ के किसी सदस्य की प्रार्थना पर तुरन्त कौंसिल का अधिवेशन आमंत्रित करे।

यदि राष्ट्र-संघ के सदस्यों में कोई विवाद उपस्थित हो जाय तथा जिससे आगे चलकर भयंकर युद्ध की संभावना हो, एवं जो निर्णय अथवा न्यायालय के विचारार्थ उपस्थित न किया गया हो, तो राष्ट्र-संघ के सदस्य उस विवाद को कौंसिल को सौंपने का निश्चय कर सकते हैं।

धारा १५ के अनुसार विवाद से सम्बन्धित कोई भी सदस्य सूचना-द्वारा उसे कौंसिल को सौंप सकता है। प्रधान-मन्त्री उस विवाद की पूर्ण जाँच-पड़ताल तथा विचार के लिए प्रबंध करेगा।

धारा १८ के अनुसार राष्ट्र-संघ के किसी सदस्य-द्वारा स्वीकार की गई प्रत्येक सन्धि व अन्तर्राष्ट्रीय समझौता (Convention) तुरन्त ही कार्यालय में रजिस्टर्ड की जायगी। जब तक कोई सन्धि आदि इस

प्रकार रजिस्टर्ड न की जायगी, वह बाध्य (Binding) न समझी जायगी।

कार्यालय के विभाग—जिस प्रकार किसी राष्ट्रीय-शासन के संचालन के लिए सिविल-सर्विस की आवश्यकता होती है ; उसी प्रकार राष्ट्र-संघ के कार्य-संचालन के लिए स्थायी कार्यालय अनिवार्य है। स्थायी-मंत्रि-मंडल-कार्यालय (Secretriate) विभागों (Sections) में विभक्त है। यह विभाग राष्ट्र-संघ के यन्त्र का परिचालन करते हैं। २८ अप्रैल १६१६ ई० को राष्ट्र-संघ का विधान शान्ति-परिषद् ने स्वीकार किया। ५ मई १६१६ ई० को Sir Eric Drommond ने प्रधान-मंत्री की हैसियत से लन्दन में अस्थायी कार्यालय स्थापित किया।

आजकल स्थायी-कार्यालय में १२ विभाग हैं, जो इस प्रकार हैं—

१—प्रबन्ध-सम्बन्धी कमीशन और अल्पमत-विभाग ।

२—आवागमन तथा पत्राचार।

३—निःशस्त्रीकरण।

४—आर्थिक-सम्बन्ध (Economic Relations)।

५—राजस्व (Financial)।

६—स्वास्थ्य ।

७—अन्तर्राष्ट्रीय व्यूरो और बौद्धिक सहयोग ।

८—आदेश-युक्त शासन (Mandates)।

९—सामाजिक प्रश्न ।

१०—सूचना-विभाग ।

११—कानूनी-विभाग ।

१२—राजनीतिक-विभाग ।

यह समस्त विभाग दो बड़े भागों में श्रेणीबद्ध किये जा सकते

हैं। प्रथम नौ विभाग राष्ट्र-संघ की किसी परामर्श-समिति, विशेष-समिति अथवा प्रबन्ध-समिति से सम्बन्धित होते हैं। उनका कार्य अपने विशेष-कार्य का सम्पादन करना है।

किन्तु पिछले तीन विभाग किसी विशेष समिति से सम्पर्क नहीं रखते। वे समस्त राष्ट्र-संघ की उपयोगिता को दृष्टि में रखकर बनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त एक तेरहवाँ विभाग है, जो राष्ट्र-संघ के आन्तरिक प्रबन्ध के लिए नियुक्त है। इस विभाग में निम्न-लिखित कार्यों का सम्पादन होता है—

(१) अनुवाद-विभाग।
(२) प्रकाशन-मुद्रण-विभाग।
(३) केन्द्रिय सर्विस-विभाग।
(४) आन्तरिक नियन्त्रण-कार्यालय।
(५) कर्मचारी-कार्यालय (Personal office)।
(६) आय-व्यय-लेखा-विभाग।
(७) रजिस्ट्री-विभाग।
(८) वाचनालय।

सहायक-मन्त्री की समस्या—जिनेवा-स्थायी मन्त्रि-मण्डल-कार्यालय (Secretriate) में सन् १९३१ ई० में ६७७ वैतनिक-कर्मचारी तथा अफसर थे। इनके अतिरिक्त ४२ कर्मचारी विदेशों में राष्ट्र-संघ की ओर से कार्य कर रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालय (International Labour office) में ३८१ कर्मचारी और ४३ कर्मचारी बाहर श्रमिक संघ की ओर से कार्य कर रहे थे। यह समस्त कर्मचारी प्रधान-मंत्री के अधीन काम करते हैं। प्रधान-मंत्री की सहायता के लिए एक उपप्रधान-मंत्री (Deputy S. G.) और तीन सहायक प्रधान-मंत्री (Under

Secretary General) नियुक्त हैं। इस सम्बन्ध में एक बात अत्यन्त विचारणीय है और वह यह है—यह पाँच राष्ट्र-संघ के सबसे महान् पद सबल राष्ट्रों के राजनीतिज्ञों की मोनोप्ली बन गये हैं। सन् १६३२ में प्रधान-मंत्री, उपप्रधान-मंत्री तथा सहायक मंत्री इस प्रकार थे—

१. प्रधान-मंत्री—सर ऐरिक ड्रमण्ड (ब्रिटिश)

२. डिप्टी प्रधान-मंत्री—जोसेफ़ अवेनोल (फ्रेंच)

३. सहायक प्रधान-मंत्री—मारक्विस् पोलूसी (इटली नागरिक)

४. ,, ,, ,, —यातोरो सुगीमुरा (जापानी)

५. ,, ,, ,, —अलबर्ट डीफोर फेरोन्स (जर्मन)

इन पदों पर इन पाँच सबल राष्ट्रों का एकाधिकार हो जाने से कार्यालय तथा असेम्बली में घोर असन्तोष और प्रतिस्पर्द्धा पैदा हो गई है।

विभाग के अधिष्ठाता—मंत्रि-मण्डल-कार्यालय में सहायक प्रधान-मंत्री के बाद विभाग के डायरेक्टर और अध्यक्ष (Chief) का क्रमशः स्थान है, तथा सहकारी प्रधान-मंत्री भी विभागों के डायरेक्टर का कार्य करते हैं। विभाग के सदस्य का स्थान अध्यक्ष के बाद आता है। राष्ट्र-संघ के मंत्रि-मंडल-कार्यालय के विभागों में १२० सदस्य हैं। जिनमें ६ स्त्रियाँ भी सम्मिलित हैं। यह १२० सदस्य ही वास्तव में राष्ट्र-संघ की सिविल सर्विस के सदस्य हैं। इनके परिश्रम और प्रयत्न पर ही राष्ट्र-संघ की नीति का व्यवहार में प्रयोग निर्भर है। सन् १६३२ ई० में विविध विभागों में निम्न-लिखित सदस्य थे—

	सदस्य संख्या
१—प्रधान-मंत्री, उपप्रधान-मंत्री आदि के विभाग में ...	८
२—अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्ध	५
३—कमीशन व अल्प-जाति समस्या	७
४—आवागमन और पत्राचार	५

५—निःशस्त्रीकरण	४
६—आर्थिक-सम्बन्ध (Economic)	४
७—राजस्व-सम्बन्ध (Financial)	१६
८—स्वास्थ्य-विभाग	१६
९—अन्तर्राष्ट्रीय व्यूरो, मानसिक सहयोग-विभाग ...	४
१०—आदेशयुक्त शासन ...	४
११—सामाजिक प्रश्न	६
१२—कानूनी-विभाग	६
१३—सूचना-विभाग	२१
१४—राजनीतिक-विभाग	५
१५—Latin American Liason Bureau ...	१
	१२०

विभाग का सदस्य नियुक्त होने से पूर्व परीक्षा-समिति के सामने उम्मेदवार को प्रमाण-पत्र उपस्थित करने के अतिरिक्त व्यक्तिगत इन्टरव्यू देनी पड़ती है। कतिपय देशों के निवासी सदस्य नहीं बन सकते। यथा ब्रिटिश, फ्रेंच, बेलजियम तथा जापानी आदेशयुक्त शासक के नागरिक होने के कारण Mandates Section के सदस्य नहीं बन सकते। राजनीतिक विभाग में समस्त सबल राष्ट्र के सदस्य लिये जायेंगे, ऐसा नियम है।

वेतन १९३२
(स्विस फ्रेन्क में)

पद	वार्षिक वेतन			अवधि	विशेष
	कम-से-कम	वृद्धि	अधिक		
१—प्रधान-मन्त्री	१००,०००	...	१००,०००	अनिश्चित काल	८८,००० भवन तथा वार्षिक भत्ता
२—उपप्रधान-मंत्री	७५,०००	...	७५,०००	३ वर्ष के लिए	२५,००० वार्षिक भत्ता
३—सहायक प्रधान-मंत्री	७५,०००	...	७५,०००	३ वर्ष के लिए	१२,५०० वार्षिक भत्ता
४—डायरेक्टर	४१,०००	२५००	५३,०००	७ वर्ष के लिए	
५—अध्यक्ष (Chief of Service)	२८,०००	१०००	३३,०००	अनिश्चित समय	
६—विभाग-सदस्य	१२,०००	८००	२८,०००	अनिश्चित समय	
७—मध्यम श्रेणी के कर्मचारी	१०,०००	५००	१६,२५०	७ वर्ष के लिए	
८—प्राइवेट मंत्री	१०,०००	४००	१४,४००	व्यक्तिगत प्रतिज्ञा से निश्चय	

मुद्रा-विनिमय के अनुसार S I = 5.18 स्विस फ्रेन्क

सन् १६३२ में राष्ट्र-संघ का समस्त वजट (इसमें अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ और स्थायी न्यायालय के वजट भी सम्मलित हैं) ३३,६८७,६६४ स्वर्ण फ्रेन्क थे, जो ६५ लाख डालर के बराबर होते हैं। यह धन आजकल एक क्रूजर (Cruiser) के बनवाने में जितना व्यय होता है, उसके अर्द्धांश से भी कम है। इस समस्त वजट के 1/5 से भी कम (६, ४६८, २३७) सोने के फ्रैंक मंत्रि-मण्डल-कार्यालय के वेतन, भत्ता आदि में व्यय हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण-परिषद् में ३,५००,००० व्यय हुआ। इस प्रकार कार्यालय के लिए जो व्यय हुआ है, उसे ५५ राष्ट्रों में विभाजित किया जाय, तो बहुत कम प्रत्येक के हिस्से में आवेगा।

१ जनवरी १६३१ को पेन्शन-पद्धति का प्रारम्भ हुआ। इस पेन्शन-पद्धति के कारण ३० लाख सोने के फ्रेन्क अधिक बढ़ गये; परन्तु यह बात आश्चर्य-जनक है कि यह पेन्शन की योजना अनेकों वर्षों के प्रयत्नों के बाद सन् १६३१ ई० में स्वीकार हुई, जब संसार विश्व-व्यापी आर्थिक-संकट से पीड़ित था।

वेतन का अर्द्ध प्रतिशतक पेंशन दिया जाता है। यह पेन्शन उन सब कर्मचारियों को दिया जाता है, जो कम-से-कम ७ वर्ष तक राष्ट्र-संघ में कार्य कर चुके हों और जिनकी आयु ६० वर्ष की हो चुकी हो; अथवा जिन्होंने २५ वर्ष पर्यन्त राष्ट्र-संघ में किसी पद पर कार्य किया हो। जो कर्मचारी किसी कारण शारीरिक अवस्था की दृष्टि से अयोग्य हो जाते हैं; अथवा जिनकी मृत्यु राष्ट्र-संघ की नौकरी करते समय हो जाती है, तो उसके बालकों, पत्नी या पति को पेन्शन दी जाती है।

कार्यालय के समस्त कर्मचारियों को राष्ट्र-संघ का कार्य करते समय राजदूत के समस्त विशेषाधिकारों (Diplomatic privileges) का उपयोग करने की सुविधा उपलब्ध है। उन पर स्विटज़रलैण्ड के

न्यायालय में फौजदारी व दीवानी में दावा नहीं किया जा सकता। उनके वेतन-भत्ते पर स्विटज़रलैण्ड की सरकार-द्वारा किसी प्रकार का आय-कर नहीं लगाया जा सकता। यदि वे जिनेवा में, विदेश से अपने सेवन के लिए कोई पदार्थ मँगावें, तो उस पर आयात-कर नहीं लगाया जाता।

प्राइवेट मंत्री की श्रेणी तक एक वर्ष में २८ दिन का अवकाश लेने का अधिकार है। घर जाने-आने में जो समय लगेगा, वह इसमें सम्मिलित नहीं। इस श्रेणी के ऊपर के कर्मचारियों को ३६ दिन का अवकाश ग्रहण करने का अधिकार है।

मंत्रि-मण्डल-कार्यालय के कर्मचारियों को अनेकों विशेषाधिकार प्राप्त हैं और आनन्द-पूर्वक जीवन बिताने के लिए यथेष्ट से अत्यधिक वेतन मिलता है। यह राष्ट्र-संघ के कर्मचारी के लिए बहुत बड़ा आकर्षण है। इसके अतिरिक्त जिनेवा की झील के प्राकृतिक सौन्दर्य का रसास्वादन करने का सौभाग्य भी उनको प्राप्त है।

कर्मचारियों में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना—मंत्रि-मण्डल-कार्यालय के कर्मचारी अन्तर्राष्ट्रीय हैं। वे किसी राष्ट्र - विशेष की शासनाज्ञा का पालन नहीं करते। राष्ट्र-संघ ही उनका एकमात्र शासक है। श्रद्धा तथा सचाई से उसके सिद्धान्तों का पूर्णरीत्या पालन ही अन्तर्राष्ट्रीय राजभक्ति है। स्टाफ़-नियमावली के प्रारम्भ में लिखा है—

'राष्ट्र-संघ के मंत्रि-मंडल-कार्यालय के अफसर एवं कर्मचारी अन्तर्राष्ट्रीय हैं; उनके कर्तव्य राष्ट्रीय नहीं हैं। कार्यालय में नियुक्ति स्वीकार कर वे उसके कार्यों का संचालन करने की प्रतिज्ञा करते हैं और राष्ट्र-संघ के हितों को दृष्टि में रखकर अपने व्यवहार और आचरण का नियमन करते हैं। यह समस्त कर्मचारी प्रधान-मंत्री के नियन्त्रण में काम करते हैं और अपने कार्य के लिए प्रधान-मंत्री के प्रति उत्तरदायी हैं। उनको

राष्ट्र-संघ के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति या शासक से परामर्श या आदेश प्राप्त न करना चाहिए।'

नियुक्ति के अवसर पर प्रत्येक कर्मचारी को एक घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। यह घोषणा जिनेवा में राष्ट्र-संघ की शपथ के नाम से प्रसिद्ध है। घोषणा इस प्रकार है—

'मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं राष्ट्र-संघ के कार्यालय के कर्मचारी की हैसियत से Staff Regulation के प्रथम नियमानुसार अपने कार्यों को पूर्ण श्रद्धा-भक्ति, विचार-पूर्वक तथा ज्ञान-पूर्वक करूँगा।'

महान् राज्यों का एकाधिकार—जैसा कि हमने पिछले पृष्ठों में अनेक स्थलों पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सबल राज्यों ने राष्ट्र-संघ पर अपना एकाधिकार जमाने के लिए भरसक चेष्टा की है और उसमें वे सफलीभूत भी हुए हैं। यह राष्ट्र-संघ की असफलता का मूल कारण है। जब प्रथम प्रधान-मंत्री की नियुक्ति का प्रश्न शान्ति-परिषद् के सामने पेश हुआ, तो यूरोपीय युद्ध-कालीन यूनान के प्रधान-सचिव का नाम उस पद के लिए रखा गया; परन्तु यह नाम सबल राष्ट्रों की मनोकामना के खिलाफ़ था; इसलिए यह अस्वीकार किया गया और उसके स्थान पर ब्रिटिश नागरिक Sir Eric Drummond का नाम पेश हुआ, जो स्वीकार कर लिया गया।

जब सन् १६३३ ई० में प्रथम प्रधान-मंत्री Sir Eric Drummond ने कार्यालय से त्याग-पत्र दे दिया, तो उसका पद रिक्त हो गया। असेम्बली के बारहवें अधिवेशन में यह निश्चय किया गया कि ड्रमण्ड के उत्तराधिकारी की नियुक्ति के बाद एक वर्ष की अवधि के भीतर उप-प्रधान-मंत्री तथा सहायक प्रधान-मंत्री की पुनर्नियुक्ति होनी चाहिए।

यदि नवीन प्रधान-मन्त्री छोटे राष्ट्रों में से नियुक्त कर लिया जाय, तो उस संघर्ष का अन्त हो जायगा, जो विगत वर्षों में छोटे राष्ट्रों और

बड़े राष्ट्रों में सहायक प्रधान-मन्त्री के पदों के लिए होता आया है। यदि नवीन प्रधान-मन्त्री बड़े राष्ट्रों में से चुना गया, तो विद्रोह की ज्वाला बड़ी तेजी से भड़क उठेगी ; परन्तु घटना-चक्र इस भावना के बिलकुल विपरीत चला। फ्रान्सीसी नागरिक प्रधान-मन्त्री नियुक्त कर दिये गये।

यह महान् राष्ट्रों की संकुचित और दूषित राष्ट्रीयता का परिणाम है। कार्यालय का नियम तो यह है कि उसके समस्त कर्मचारी अन्तर्राष्ट्रीय होंगे—राष्ट्रीयता के भावों से प्रेरित होकर उनकी नियुक्ति नहीं की जायगी; परन्तु व्यवहार में राष्ट्रीयता की गूँज से जिनेवा का मन्दिर ऐसा गुंजायमान हो रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीयता का सर्वनाश हो गया है। जिस प्रकार कौंसिल में सबल राष्ट्रों ने एकाधिकार प्राप्त कर लिया है, उसी प्रकार स्थायी कार्यालय पर भी उन्होंने अपना आतङ्क जमा रखा है। विभाग-डायरेक्टर की नियुक्ति में भी इसी दुर्नीति से काम लिया जाता है। १२ विभागों के डायरेक्टरों में ७ सबल राष्ट्रों के हैं।

मन्त्रि-मण्डल-कार्यालय के कार्य—राष्ट्र-संघ में प्रधान-मन्त्री (Secretary-General) का पद सर्वाधिक शक्तिशाली और सर्वोच्च है। वह स्थायी कर्मचारी नहीं है। इस कारण उसके पद का गौरव और उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। किसी राष्ट्र के शासन की सिविल सर्विस में प्रधान-मन्त्री के पद की समता का कोई स्थान नहीं मिल सकता। यह पद सर्वथा अनुपम है ; परन्तु इस पद के लिए 'मन्त्री' शब्द का प्रयोग उसके अधिनायकवत् अधिकारों को व्यक्त नहीं करता। 'मन्त्री' शब्द स्वतंत्र और शक्तिशाली पद का सूचक नहीं। प्रधान-मन्त्री केवल असेम्बली और कौंसिल के प्रति उत्तरदायी है। उसे प्रत्येक कार्य करने का अधिकार है ; परन्तु वह राष्ट्र-संघ की सीमा के अन्तर्गत होना चाहिए। प्रधान-मन्त्री के सिविल सर्विस-सम्बन्धी

अधिकारों के विषय में हम पिछले पृष्ठों में प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ हम उसकी नीति-निर्द्धारण-सम्बन्धी अधिकारों पर ही विचार करेंगे। विधान की धारा ११ (१) के अनुसार प्रधान-मन्त्री को यह अधिकार है कि यदि किसी विवाद या संघर्ष से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के भंग होने की आशंका हो, तो वह राष्ट्र-संघ के सदस्य की प्रार्थना पर कौन्सिल का अधिवेशन आमन्त्रित करेगा।

इस नियम के अनुसार प्रधान-मंत्री को कौंसिल का अधिवेशन तुरन्त ही बुलाना चाहिए; परन्तु जब विवाद किसी स्थायी सदस्य से सम्पर्क रखे, तो यह आशा नहीं की जा सकती कि कौंसिल में प्रतिनिधि-राष्ट्र एवं विशेषरूपेण सबल राष्ट्र कौंसिल अधिवेशन बुलाना चाहेगा। यदि विवाद में कोई छोटा राष्ट्र ही सम्पर्क रखता है, तो प्रधान-मंत्री अवश्य ही विवाद को कौंसिल के सामने पेश कर देगा। इस नियम के अनुसार मंत्रि-मण्डल-कार्यालय ही नहीं, प्रत्युत समस्त राष्ट्र-संघ प्रधान-मंत्री के नियंत्रण में आ जाता है।

इसी प्रकार धारा १५ (१) भी प्रधान-मंत्री को विशेषाधिकार प्रदान करता है। यदि राष्ट्र-संघ के सदस्यों में कोई ऐसा विवाद पैदा हो जाय, जो भविष्य में युद्ध का रूप धारण कर सके, तो कोई भी विग्रही पक्ष प्रधान-मंत्री को इसकी सूचना भेज सकता है। सूचना मिलने पर प्रधान-मंत्री उसकी पूरी जाँच-पड़ताल और विचार के लिए आवश्यक प्रबन्ध करेगा। यह अधिकार भी पहले अधिकार से कुछ कम महत्त्व का नहीं है। जब जापान ने शंघाई पर अधिकार जमा लिया, तब चीन ने इसकी सूचना प्रधान-मंत्री के पास भेजी। प्रधान मंत्री ने स्वयं एक जाँच-कमीशन नियुक्त किया, जिसने शंघाई में जाकर जाँच की। प्रधान-मंत्री का यह कार्य कौंसिल-द्वारा स्वीकृत किया गया।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि प्रधान-मंत्री का पद

कौंसिल व असेम्बली के अध्यक्ष (President) - पद से भी बड़ा है। इन संस्थाओं के प्रधान स्थायी नहीं होते। उनका चुनाव प्रति वर्ष होता है। और विचित्र बात तो यह है कि यह प्रधान (President) प्रधान-मंत्री की सिफारिश से उसके द्वारा मनोनीत व्यक्ति ही चुने जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि प्रधान-मंत्री का पद अत्यन्त गौरवपूर्ण है।

विद्वान् लेखक Felix Morley ने बड़ी सुन्दरता से प्रधान-मंत्री के अधिकारों का विवेचन किया है। यहाँ हम उसका एक अवतरण देते हैं—

Representatives on the council & delegates to the Assembly change as their domestic government change. The national spokesmen on the league committees & commissions can be altered at will of their respective capitals, whether expressed directly or indirectly conveyed to the council.

In case of serious misconduct any official of the Secretriate may be dismissed by the Secretary General, subject only to a later appeal to the council. But the Secretary-general himself is subject to neither recall, impeachment, nor dismissal...He has in theory, at least, almost dictatorial powers. He could ofcourse be ousted by a unanimous vote of the council, approved by the Assembly, but such a proceeding would probably shake the League to its foundation.

—*The Society of Nations p. 313-14.*

प्रधान-मंत्री के सभापतित्व में डायरेक्टर तथा प्रबन्ध-विभाग के प्रमुखों की साप्ताहिक मीटिंग होती है। इनमें कार्यालय की उन्नति पर

विचार किया जाता है। इनकी कार्यवाही बहुत गुप्त रखी जाती है। इन मीटिंगों में नीति निर्द्धारित की जाती है। इन सभाओं में ही प्रधान-मंत्री अपने सहायकों और सहयोगियों से परामर्श लेता है और अपने विचार उनके सामने रखता है।

Treaty of Versailles के १३ भाग की ३६८ धारा के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ का मंत्रि-मण्डल-कार्यालय राष्ट्र-संघ के प्रधान-मंत्री की सहायता प्राप्त करने का अधिकारी है। सहायता किस प्रकार की दी जायगी, इसका निश्चय भी प्रधान-मंत्री ही कर सकेगा। ३६६ धारा के अनुसार श्रमिक-संघ तथा उसके कार्यालय के व्यय के लिए धन प्रधान-मंत्री श्रमिक-संघ-कार्यालय के डायरेक्टर को देगा तथा समस्त धन को समुचित रीति से प्रयोग करने के लिए डायरेक्टर प्रधान-मंत्री के प्रति उत्तरदायी होगा।

यदि किसी समझौते (Conventions) के पालन न करने की शिकायत का श्रमिक-संघ-द्वारा कोई निर्णय नहीं हुआ, तो राष्ट्र-संघ के प्रधान-मंत्री को यह अधिकार है कि वह श्रमिक-संघ की कार्य-समिति-द्वारा नियुक्त पेनल से एक जाँच-कमीशन नियुक्त करे। यदि शिकायत से सम्बन्ध रखनेवाली कोई सरकार कमीशन की सिफारिशों को नहीं मानेगी, तो उसकी सूचना प्रधान मंत्री के पास भेज दी जायगी। उस दशा में यह प्रश्न विश्व-न्यायालय-द्वारा तय होगा और वह निर्णय अन्तिम माना जायगा।

पाँचवाँ अध्याय

विशेषज्ञ-समितियाँ

(The Technical Committees)

सबसे पूर्व तीन विशेष कार्यों के लिए विशेषज्ञों की समितियाँ बनाई गईं—

(१) आर्थिक व राजस्व-समिति (Economic & Financial Committee)।

(२) आवागमन तथा पत्राचार-समिति (Transit)।

(३) स्वास्थ्य-समिति (Health)।

यह विशेषज्ञ-समितियाँ राष्ट्र-संघ के आदर्श को लक्ष्य में रखकर बनाई गई हैं; क्योंकि इन विशेषज्ञ-संघों की स्थायी समिति राष्ट्र-संघ की कौंसिल, सरकारों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन, असेम्बली और इनका कार्यालय मन्त्रि-मण्डल-कार्यालय के विभाग से मिलता है। यह संघ

या समितियाँ अपने-अपने क्षेत्र में विशिष्ट कार्य सम्पादन करती हैं।

आर्थिक और राजस्व-समितियों के सदस्य विशेषज्ञ होते हैं, जिनकी नियुक्ति व्यक्तिगत हैसियत से कौंसिल-द्वारा होती है। इन समितियों के सदस्य विविध सरकारों के सरकारी प्रतिनिधि नहीं होते। आवागमन तथा पत्राचार-समिति के सदस्य विविध शासनों के सरकारी प्रतिनिधि होते हैं। इस समिति में कौंसिल के प्रत्येक स्थायी सदस्य की सरकार को एक प्रतिनिधि नियुक्त करने का अधिकार है। १२ प्रतिनिधि अन्य १२ सरकारों-द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

स्वास्थ्य-संघ की विशेषज्ञ-समिति में १० सदस्य Office International d' Hygiene Publique (अन्तर्राष्ट्रीय सार्वजनिक स्वास्थ्य-कार्यालय) की समिति-द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और ६ कौंसिल-द्वारा नियुक्त होते हैं। राष्ट्र-संघ का इन समितियों पर नियन्त्रण है—यह १६ मई १९२० के कौंसिल के निम्न-लिखित प्रस्ताव से अभिव्यक्त होता है।

'राष्ट्र-संघ के विशेषज्ञ-संघ (Technical Organizations) जिनकी आजकल स्थापना की जा रही है, असेम्बली और कौंसिल के कार्य को सुविधा-जनक बनाने के अभिप्राय से स्थापित किये गये हैं। एक ओर विशेषज्ञ-विभाग स्थापित करने से एवं दूसरी ओर राष्ट्र-संघ के सदस्य की सहायता कर उनके विशेषज्ञ प्रतिनिधियों में सीधा सम्बन्ध से वे अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों को उचित रीति से कर सकेंगे।

'राष्ट्र-संघ के सदस्यों के लिए वे दोनों उद्देश्य सफल और उपयोगी बन सकें, इसलिए वे यथेष्ट स्वतन्त्र और सुविधा-जनक होनी चाहिए; किन्तु उनको राष्ट्र-संघ के नियन्त्रण में कार्य करनेवाली उत्तरदायित्व-पूर्ण संस्थाओं के अन्तर्गत कार्य करना होगा।......

'(अ) विविध संघों का आन्तरिक कार्य स्वतंत्र हो। वे अपना

कार्य-क्रम स्वयं तैयार करेंगी। और उस पर वाद-विवाद अथवा विचार करने से पूर्व उसकी सूचना राष्ट्र-संघ की कौन्सिल को देंगी।...'

अन्य सहायक संघ (Auxiliary Organization)—विशेषज्ञ-संघों के उपरान्त राष्ट्र-संघ के स्थायी परामर्श-कमीशन का स्थान है। यथार्थ में इन दोनों संस्थाओं में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता। निःशस्त्रीकरण, मानसिक सहयोग, नवयुवक व बालकों का संरक्षण, आदेश-युक्त शासन, विषैले पदार्थों का अनियमित क्रय-विक्रय आदि विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले स्थायी परामर्श-कमीशन स्थापित हो चुके हैं।

विशेषज्ञ-संघ (Technical Organizations) और सहायक-संघ (Auxiliary Organization) के सदस्यों की नियुक्ति और कार्य-पद्धति में अन्तर है। प्राचीनता की दृष्टि से स्थायी परामर्श-कमीशन विशेषज्ञ-संघों के बाद स्थापित हुए हैं। विशेषज्ञ-संघ अन्तर्राष्ट्रीय-सम्मेलनों के द्वारा स्थापित हुए हैं। इनके सदस्य राष्ट्र-संघ के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य राष्ट्र भी हैं। यथा—अमेरिका, रूस आदि; परन्तु स्थायी परामर्श-कमीशन विधान की कतिपय धाराओं के अनुसार प्रतिष्ठित किये गये हैं।

इसके बाद स्थायी परामर्श-कमीशनों का स्थान है। यह कमीशन असेम्बली की प्रार्थना पर कौन्सिल-द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। यह कमीशन सामयिक महत्त्व के विषयों के लिए स्थापित किये जाते हैं; और अपना कार्य समाप्त कर लेने के बाद उनका अस्तित्व नहीं रहता। यथा—Preparatory Commission for Disarmament Conference.

राज्य-प्रबन्ध-सम्बन्धी-कार्य—इन समितियों और कमीशनों के अतिरिक्त शान्ति-सन्धि के अनुसार कुछ ऐसे कार्य भी राष्ट्र-संघ को

सौंपे गये हैं, जिनका सम्पर्क राज्य-शासन से है। सार-प्रदेश वर्सेलीज की सन्धि के अनुसार जर्मनी से ले लिया गया और १५ वर्ष के लिए उसका शासन-प्रबन्ध राष्ट्र-संघ को सौंप दिया गया। इस सन्धि के अनुसार सार-प्रदेश का शासन राष्ट्र-संघ की कौंसिल-द्वारा नियुक्त कमीशन-द्वारा होता है, जिसमें ५ सदस्य होते हैं। शान्ति-सन्धि के अनुसार कमीशन के सदस्य इस प्रकार हैं—

१. फ्रेन्च नागरिक (जन्म से)।

२. सार-प्रदेश का नागरिक (जो फ्रेन्च न हो)।

३. अन्य (जो जर्मन या फ्रेन्च नागरिक न हों)।

यह कमीशन केवल राष्ट्र-संघ के लिए उत्तरदायी है। कमीशन के सदस्य केवल एक वर्ष के लिए नियुक्त किये जाते हैं। एक बार नियुक्त हो जाने के बाद भी वह सदस्य पुनः नियुक्त किया जा सकता है।

इस कमीशन को सार-प्रदेश में शासन के वह समस्त अधिकार प्राप्त हैं, जो पहले जर्मन-साम्राज्य को उपलब्ध थे। यह कमीशन त्रैमासिक रिपोर्ट सार-शासन के संबन्ध में तैयार करता है।

डेनजिंग के स्वतंत्र नगर की शासन-प्रबन्ध-पद्धति सार-प्रदेश की शासन-प्रणाली से भिन्न है। डेनजिंग में स्वायत्त शासन है; परन्तु वह राष्ट्र-संघ के संरक्षण में है। राष्ट्र-संघ के संरक्षण का आशय यह है कि डेनजिंग के शासन-प्रबन्ध में अन्य कोई राष्ट्र हस्तक्षेप न करे। राष्ट्र-संघ की कौंसिल स्वतंत्र नगर के लिए एक हाई कमिश्नर नियुक्त करती है। राष्ट्र-संघ ने आस्ट्रिया, हंगेरी, बलगेरिया और एसटोनिया के आर्थिक स्थिरीकरण (Financial Stabilization) में शासन-प्रबन्ध-संबन्धी नियंत्रण किया है।

मंत्रि-मण्डल-कार्यालय और समितियाँ (Committees)— मन्त्रि-मण्डल-कार्यालय (Secretriate) की रचना तथा सङ्गठन
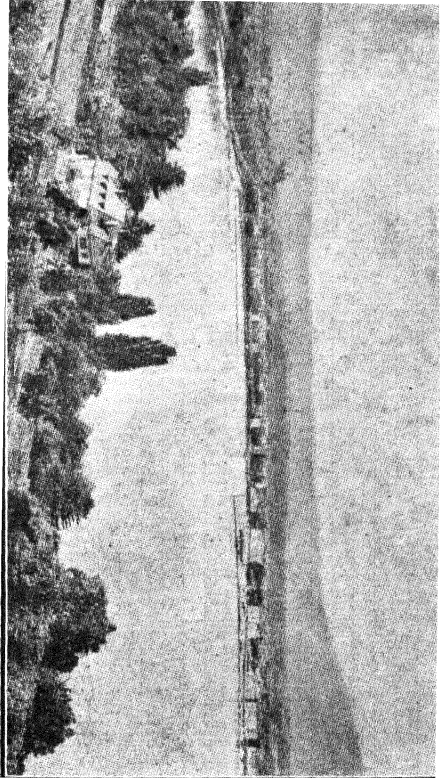
जिनेवा-ह्रद का दृश्य
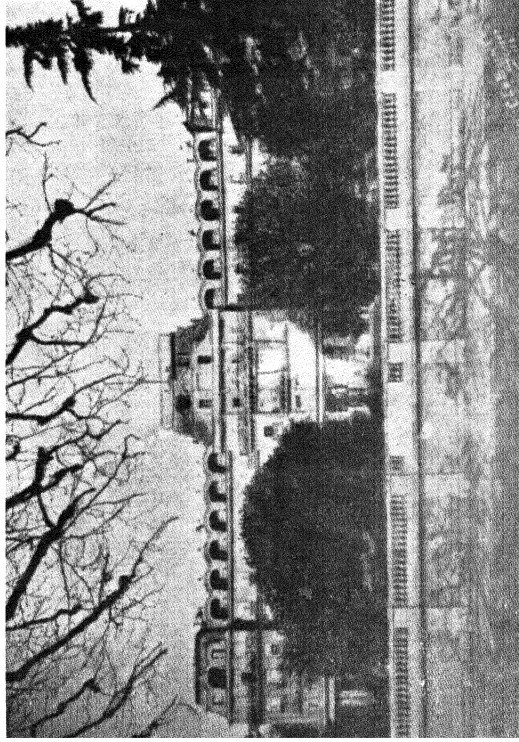
विश्व-राष्ट्र-संघ का कार्यालय (दफ़्तर)

पर हम विचार कर चुके हैं। उसका कार्य कितना ठोस और महत्त्वपूर्ण है, यह आपको ज्ञात हो गया होगा। यदि कार्यालय को हम राष्ट्र-संघ की प्रेरक शक्ति कहें, तो अतिशयोक्ति न होगी। ऐसे शक्तिशाली कार्यालय की सहायता, सहयोग और परामर्श के बिना यह कमीशन और विशेषज्ञ-समितियाँ कुछ भी कार्य नहीं कर सकतीं। यथार्थ में इस स्थायी कार्यालय के प्रताप से यह समितियाँ और कमीशन बड़ी तत्परता और उत्तमता से अपना कार्य सम्पादन कर रहे हैं। कार्यालय का एक विभाग इनमें से किसी-न-किसी समिति से सम्बन्धित है। राष्ट्र-संघ के कार्यालय का विभाग (Section) समिति के कार्यक्रम (Agenda) की तैयारी, पत्र-व्यवहार, कार्यालय की सामग्री का वर्गीकरण, संग्रह तथा निर्णय में परिवर्तनादि का काम करता है। सुयोग्य और कार्य-कुशल डायरेक्टर अपनी समिति को पथ दर्शाता है; परन्तु अयोग्य डायरेक्टर समिति का अनुसरण करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझता है।

डायरेक्टर समिति को मार्ग-प्रदर्शन करेगा अथवा स्वयं उसके निर्णय का अनुसरण करेगा। यह बात अधिकांश में समिति की विशेषज्ञ (Technical) या राजनीतिक (Political) प्रकृति पर निर्भर है। राष्ट्र-संघ की कौंसिल बड़े-बड़े राज्यों के राजनीतिक हितों की रक्षा के लिए है; इसलिए कौंसिल स्थायी आदेशयुक्त शासन-कमीशन के कार्य की देख-रेख स्वास्थ्य विभाग के कार्य की देख-भाल की अपेक्षा अधिक तत्परता और सतर्कता से करती है।

यही कारण है कि आदेशयुक्त-शासन-विभाग (Mandates Section) का डायरेक्टर स्वास्थ्य-विभाग के डायरेक्टर की अपेक्षा बहुत कम नीति-निर्द्धारण का काम करता है।

समितियों की विधान-सम्बन्धी विशेषताएँ—प्रत्येक राष्ट्रीय व्यवस्थापक-सभाएँ स्थायी या अर्द्ध-स्थायी (Standing Commi-

ttees) होती हैं। इन समितियों को क़ानून के ड्राफ़्ट तैयार करने के लिए दिये जाते हैं। यह विशेष विषयों पर क़ानून के ड्राफ्ट तैयार करती हैं। वे अपने इस कार्य के सम्पादन के लिए देश में भ्रमण करती हैं, गवाहियाँ लेती हैं, विशेषज्ञों की गवाहियाँ लेती हैं; लोकमत (Public opinion) जानने की चेष्टा करती हैं। इनकी रिपोर्ट के आधार पर क़ानून तैयार किया जाता है और फिर अन्त में वह व्यवस्थापक-सभा में स्वीकृति के निमित्त उपस्थित किया जाता है।

इसी प्रकार राष्ट्र-संघ की उपर्युक्त समितियाँ भी पूर्व-व्यवस्थापिका हैं। इनके निश्चय एवं निर्णय असेम्बली तथा कौंसिल-द्वारा स्वीकृत होने के उपरान्त ही मान्य होते हैं; परन्तु राष्ट्र-संघ की समितियों और राष्ट्रीय व्यवस्थापक-सभा की स्थायी समितियों में विशाल अन्तर है। राष्ट्र-संघ की समितियों के सदस्य उसकी असेम्बली और कौन्सिल के सदस्य नहीं होते। वे अपना कार्य-संचालन असेम्बली या कौन्सिल के अधिवेशन न होने पर भी करती रहती हैं।

राष्ट्र-संघ की इन समितियों का असेम्बली और कौंसिल से अधिक घनिष्ट सम्पर्क नहीं होता। समितियों का सच्चा सम्पर्क भी सरकारों के विभागों (Governmetal Department) से होता है।

सर एरिक ड्रमंड ने सन् १९२७ ई० की राष्ट्र-संघ की वार्षिक विवरण-पुस्तक (League of Nations from year to year) में जो भूमिका लिखी है, उसका निम्न-लिखित अंश बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इससे हमें राष्ट्र-संघ की व्यापक कर्त्तृत्व-शक्ति एवं संगठन का पूरा पता लग जाता है—

'इस वार्षिक विवरण के पाठकों में से जिन्होंने संघ के कार्यों का प्रारम्भ से ही अभ्यास नहीं किया है, उनको यह देखकर बड़ा आश्चर्य होगा कि संघ के अन्तर्गत कितनी विभिन्न संस्थाएँ हैं और वे बराबर

अपना कार्य कर रही हैं। उनके सामने किसी एक ऐसी संस्था का चित्र खिंच जावेगा, जिसकी मूल शक्ति की कोई सीमा नहीं। यह संस्था निरन्तर इतनी साधन-सामग्री से सुसज्जित रहती है, जिससे यह अपनी स्थायी संस्थाओं के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय महान् समस्याओं को हल कर सकती है, अथवा पूर्व-वर्णित कार्य-प्रणाली को काम में लाकर अपनी स्थायी संस्थाओं की सीमा के बाहर के प्रश्नों को भी हल कर सकती है।'

छठा अध्याय

चीन-जापान-संघर्ष

चीन-जापान का विगत युद्ध राष्ट्र-संघ के जीवन के इतिहास में सबसे बड़ा घातक संकट था। जबसे राष्ट्र-संघ का जन्म हुआ, तबसे ही ऐसा अनुमान किया जाता था कि राष्ट्र-संघ के सामने कोई ऐसी आपत्ति आनेवाली है, जिससे उसके गौरव और उत्कर्ष को बड़ा धक्का लगेगा। चीन-जापान का युद्ध, वास्तव में राष्ट्र-संघ की सफलता के लिए अग्नि-परीक्षा थी। राष्ट्र-संघ की सफलता या विफलता की परख के लिए यह युद्ध कसौटी बना।

१८ सितम्बर १९३१ ई० की रात्रि में जापानी सेना ने चीन के मुकदेन नगर पर आक्रमण किया और उसे अपने अधीन कर लिया। जिस समय जापान चीन पर अपने सैनिक-बल का प्रभुत्व जमाने के लिए आक्रमण कर रहा था, उस समय जिनेवा में असेम्बली और

कौंसिल के अधिवेशन हो रहे थे। १६ सितम्बर १६३१ को कौंसिल का ६५ वाँ अधिवेशन हो रहा था। चीन उसी अधिवेशन में कौंसिल का अस्थायी सदस्य चुना गया। ऐसी स्थिति में राष्ट्र-संघ निकट-पूर्व में शान्ति-स्थापन करने में बड़ी तत्परता और सुविधा-पूर्वक कार्य कर सकता था।

चीन-जापान-युद्ध का वृत्तान्त सबसे पूर्व जापानी प्रतिनिधि योशीजवा-द्वारा ता० १६ सितम्बर को कौंसिल-अधिवेशन में उपस्थित किया गया। इसके बाद चीन के प्रतिनिधि डॉ० स्जे (Dr. Sze) ने भी एक वक्तव्य दिया। इस दुर्घटना के दो दिन बाद चीन सरकार ने राष्ट्र-संघ से यह प्रार्थना की कि वह विधान की धारा ११ के अनुसार अपने कर्त्तव्य का पालन करे। इस धारा के अनुसार—'राष्ट्र-संघ के प्रत्येक सदस्य का यह मित्रवत् अधिकार विघोषित किया गया है कि वह असेम्बली या कौंसिल को ऐसी परिस्थितियों की ओर आकर्षित करे, जिनका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से सम्पर्क है और जो अन्तर्राष्ट्रीय को भङ्ग करती हैं अथवा भङ्ग करने की प्रेरणा करती हैं।'

डॉ० स्ज़े ने २१ सितम्बर १६३१ ई० को चीन-सरकार की आज्ञा से विधान की धारा ११ के अनुसार राष्ट्र-संघ के प्रधान-मंत्री के पास वर्तमान् चीन-जापान-युद्ध के सम्बन्ध में कौंसिल का अधिवेशन आमंत्रित करने के लिए प्रार्थना की।

प्रधान-मंत्री ने राष्ट्र-संघ के सदस्यों को सूचना भेज दी कि ता० २२ सितम्बर को चीन-जापान-विवाद पर विचार करने के लिए कौंसिल का एक विशेष अधिवेशन होगा। इस विशेषाधिवेशन में चीन और जापान के सदस्यों ने अपने विभिन्न मत प्रकट किये। योशीजवा (जापानी-सदस्य) ने कहा कि जापानी सरकार चीन-जापान के सीधे समझौते-द्वारा निर्णय को उचित समझती है।

परन्तु डॉ० स्जे (चीनी सदस्य) ने उत्तर दिया कि चीन की सरकार निर्णय के इस ढंग को उस समय तक नहीं मान सकती, जब तक कि उस प्रदेश से जापानी सेना न हटा ली जाय ; पर अन्त में लार्ड सीसल के प्रस्तावानुसार यह निश्चय किया गया कि इस विवाद का निपटारा करने के लिए कौंसिल की एक समिति बना दी जाय, जिसमें जर्मनी, ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रान्स और इटली के प्रतिनिधि सदस्य हों तथा कौंसिल के प्रधान उसके सभापति हों। कौंसिल इस विवाद के संबन्ध में क्या कार्य करेगी, यह निम्न-लिखित प्रस्ताव से प्रकट होता है। इस योजना को कौंसिल के सदस्यों ने सर्व-सम्मति से स्वीकार किया। चीन-जापान के प्रतिनिधि भी इससे सहमत थे ; परन्तु छोटे राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने कौंसिल के इस कूटनीति-पूर्ण कार्य की कड़ी आलोचना की। कौंसिल के प्रधान लेरोक्स (Lerroux) (स्पेन) ने चीन और जापान की सरकारों को ता० २२ सितम्बर की रात्रि को निम्न-लिखित प्रस्ताव भेजा—

'मैं आपको यह सूचित कर देना चाहता हूँ कि कौंसिल की आज की मीटिंग में, जो चीन सरकार की विधान-धारा ११ के अन्तर्गत की गई अपील पर विचार करने के लिए हुई थी, मुझे राष्ट्र-संघ की कौंसिल से यह अधिकार मिला है कि—

(१) मैं चीन-जापान की सरकारों से यह अपील करूँ कि वे ऐसे काम न करें, जिनसे स्थिति अधिक नाजुक बन जाय अथवा जिनसे इस समस्या का शान्तिमय समाधान न हो सके।

(२) मैं चीन-जापान के प्रतिनिधियों के सहयोग से ऐसे साधन खोजने का प्रयास करूँ, जिनके द्वारा दोनों देश अपनी-अपनी सेनाओं को किसी भी देश के नागरिकों को क्षति पहुँचाये बिना वापस कर लें।

(३) कौंसिल ने यह भी निश्चय किया है कि इस अधिवेशन की समस्त कार्यवाही तथा पत्रादि संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के लिए भेज दिये जायँ।

मेरी यह निश्चित धारणा है कि मेरी अपील के उत्तर में, जिसके करने के लिए कौंसिल ने मुझे यह अधिकार दिया है, आपकी सरकार इस विवाद को न बढ़ने देने के लिए समस्त साधनों का प्रयोग करेगी। मैं पैराग्राफ २ के अनुसार जापान और चीन के प्रतिनिधियों से परामर्श करना शीघ्र आरम्भ करूँगा। इसके लिए मुझे जर्मनी, ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस और इटली के प्रतिनिधियों से सहायता मिली है।'

वाशिंगटन ने शान्ति-स्थापन की इस नीति को स्वीकार किया और संयुक्तराज्य अमेरिका के सचिव Stimson ने कौंसिल के प्रधान के लिए लिखा—

'मैं आपको यह विश्वास दिलाता हूँ कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की सरकार राष्ट्र-संघ की उस नीति से हार्दिक सहानुभूति रखती है, जो कौंसिल के प्रस्ताव में प्रकट की गई है।'

राष्ट्र-संघ की असेम्बली ने कौंसिल के कार्य को स्वीकार किया; परन्तु २४ से २६ सितम्बर की अवधि में स्थिति अधिक नाज़ुक हो गई। कौंसिल के अन्तरंग के प्राइवेट अधिवेशनों में चीन के प्रतिनिधि ने जाँच-कमीशन (Enquiry Commission) नियुक्त करने के लिए विशेष आग्रह किया। जापानी प्रतिनिधि जाँच-कमीशन की नियुक्ति के विरुद्ध था; परन्तु २४ सितम्बर की घटना से स्थिति में परिवर्त्तन हो गया। अमेरिका की मनोवृत्ति बदल गई।

ता० २४ सितम्बर को जिनेवा में यह समाचार मिला कि Stimson ने वाशिंगटन में जापानी राजदूत से यह कह दिया है कि वह चीन-जापान में सीधे समझौते (Direct Conciliation) को पसन्द करता है। प्रस्तावित जाँच-कमीशन में अमेरिका भाग लेने के पक्ष में नहीं है। इस कारण असेम्बली और कौंसिल कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकती थी, जो अमेरिका की इच्छा के प्रतिकूल होता। लार्ड

सीसल भी यह कहने लगे कि कौंसिल को इस मामले में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। दोनों देशों को परस्पर समझौता कर लेना ही उचित है। चीन के प्रतिनिधि के उत्तर में विधान-धारा १५ की ओर संकेत करते हुए कहा कि राष्ट्र-संघ को अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए। अन्त में ३० सितम्बर को कौंसिल ने निम्न-लिखित प्रस्ताव स्वीकार किया।*

अक्टूबर के प्रारम्भिक भाग में जापान के सैनिक आक्रमण उत्तरोत्तर बढ़ते गये। मन्चूरिया में मुकदेन से २०० मील दूरी पर स्थित चिनकौ पर बम बरसाये गये। यह घटना ८ अक्टूबर की है। ६ अक्टूबर को जापानी-सरकार ने एक ज़ोरदार मेमोरेण्डम नानकिंग को भेजा, जिसमें चीन में जापान के विरुद्ध बर्षहिकार पर प्रकाश डाला गया था। स्थिति दिन-प्रति-दिन भयंकर बनती गई। चीन-प्रतिनिधि ने निरन्तर कौंसिल-अधिवेशन के लिए आग्रह किया। प्रधान-मन्त्री के

---

* प्रस्ताव इस प्रकार है—

कौंसिल—

१—उन उत्तरों को नोट करती है, जो चीन-जापान की सरकारों के उस आवश्यक अपील के उत्तर में दिये हैं, जो कौंसिल के प्रधान ने की थी।

२—जापान सरकार के वक्तव्य-महत्व को स्वीकार करती है, जिसमें यह कहा गया है कि जापान मंचूरिया में अपनी प्रभुता बढ़ाना नहीं चाहता।

३—जापानी प्रतिनिधि के वक्तव्य को नोट करती है, जिसमें यह स्पष्ट उल्लेख है कि सरकार जितना शीघ्र हो सकेगा, उतनी शीघ्र सेनाओं को वापस कर लेगी। सेनाओं की वापसी रेलवे कटिबध में इस प्रकार शुरू हो गई है, जिससे जापानी प्रजा के जीवन और सम्पत्ति की भली प्रकार रक्षा हो सके।

४—चीन के प्रतिनिधि के वक्तव्य को नोट करती है, जिसमें यह कहा गया है कि जिन-जिन प्रदेशों से जापानी सेनाएँ हटाई जायँगी, उन-उन प्रदेशों की जापानी प्रजा तथा सम्पत्ति की रक्षा चीन सरकार करेगी।

परामर्श से कौंसिल के प्रधान ने १३ अक्टूबर को कौंसिल का अधिवेशन बुलाया।

अमेरिका की सहायता—६ अक्टूबर १६३१ ई० को संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के सचिव ने राष्ट्र-संघ को एक सन्देश भेजा। इस सन्देश में, यह स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया—

'American Government will endevour to reinforce what the League does.'

इस प्रकार वाशिंगटन और जिनेवा के सहयोग से सफलता की आशा होने लगी। अमेरिका की सरकार का समुचित सहयोग प्राप्त करने के विचार से मंत्री Stimson ने अपने जिनेवा के सरकारी आवर्जवर कान्सल पिरेंएटस बी० गिल्बर्ट को यह अधिकार दे दिया कि वह कौंसिल के अधिवेशनों में परामर्शदाता की हैसियत से भाग लें।

यहाँ पाठकों को यह याद रखना चाहिए कि अमेरिका राष्ट्र-संघ का सदस्य नहीं है ; इसलिए वह कौंसिल में प्रतिनिधि के रूप में कैसे प्रवेश कर सकता था। जापान के प्रतिनिधि ने कौंसिल के प्रधान के लिए एक पत्र लिखा, जिसमें निम्न-लिखित प्रश्न पूछे गये—

१—जब राष्ट्र-संघ के किसी सदस्य या ग़ैर सदस्य को कौंसिल में अपना प्रतिनिधि भेजने के लिए आमंत्रण का प्रश्न उपस्थित हो, तब क्या यह निश्चय नहीं हो जाना चाहिए कि कौंसिल के सामने जो समस्या उपस्थित है, वह सदस्य या ग़ैर सदस्य-राष्ट्र के हितों पर प्रभाव डालती है ?

२—जब कोई प्रश्न विधान-धारा ११ के अन्तर्गत कौंसिल के सामने उपस्थित हो, क्या उस दशा में कोई ऐसे सदस्य-राष्ट्र या ग़ैर सदस्य-राष्ट्र हो सकते हैं, जिनके हितों पर विशेष प्रभाव पड़ता हो ?

३—जब कौंसिल किसी ग़ैर सदस्य-राष्ट्र के प्रतिनिधि को कौंसिल-अधिवेशन में आमन्त्रित करना चाहती है, तो वह वहाँ किस हैसियत से उपस्थित होगा? यदि वह केवल दर्शक (Observer) के रूप में उपस्थित होगा, तो क्या वह वाद-विवाद में भाग ले सकता है? यदि वह अन्य राष्ट्र-संघ के सदस्यों के समान अधिकारों का उपयोग करने के लिए कौंसिल में उपस्थित होगा, तो क्या उसके सब अधिकार (Rights) और कर्त्तव्य (Obligations) भी समान होंगे?

४—यदि कौंसिल ग़ैरसदस्य-राष्ट्र को आमंत्रित करने का निश्चय करती है, तो क्या उसका मन्तव्य यह है कि जब कभी धारा ११ के अन्तर्गत कार्य किया जाय, तब ऐसा ही किया जाना चाहिए? क्या यह एक प्रकार से भविष्य के लिए उदाहरण बन जाय?

५—क्या कौंसिल का गैर-सदस्य राष्ट्र के प्रतिनिधि को आमन्त्रित करने का निर्णय सर्व-सम्मति से स्वीकार न होना चाहिए? *

अन्त में कौंसिल ने बहुसम्मति से यह निश्चय किया कि अमेरिका का प्रतिनिधि कौंसिल में लिया जाय। यह अमेरिका के सहयोग प्राप्ति का अच्छा साधन था। इसके विरुद्ध केवल जापान ही था। कौंसिल के प्रधान A. Briand ने अमेरिका को अपना प्रतिनिधि कौंसिल में भेजने का निमंत्रण दिया, जिसके निम्न-लिखित शब्द महत्त्वपूर्ण हैं—

'I feel confident that I shall be meeting the wishes of my Colleaqnes in proposing that we sould invite the government of United States to be associated with our efforts by sending a representative to sit at the Council table so as to be in a position to express an opinion as to how, either in view of the present situation or of

* Official journal December 1931. p. 2323.

its future development effect can best be given to the provisions of the Pact of Paris.'

(official journal Dec. 1931. 2322.)

१६ अक्टूबर १६३१ ई० को संयुक्त-राज्य अमेरिका का प्रतिनिधि कौंसिल के अधिवेशन में सम्मिलित हुआ। एक वक्तव्य में अमेरिका के प्रतिनिधि ने यह स्पष्ट कर दिया कि कौंसिल में उसकी स्थिति परिमित और असाधारण है। 'राष्ट्र-संघ के विधान के प्रयोग के संबन्ध में जो विचार-विनिमय होगा।' उससे अमेरिका का प्रतिनिधि पृथक् या स्वतंत्र रहेगा। Stimson, संयुक्त-राज्य के सचिव ने अमेरिका के प्रतिनिधि को जो आदेश दिया, वह मनन करने योग्य है—

'You are authorized to participate in the discussions of the Council when they relate to the possible application of the Kellogy Pact to which treaty United States is a party.'

अमेरिका ने सहयोग का जो प्रयत्न किया, वह इन कूट-नीति-पूर्ण घोषणाओं और वक्तव्यों से विफल रहा। अमेरिका, इस समय विश्व को यह विघोषित कर रहा है कि वह विश्व-शान्ति-स्थापन के लिए सबसे अधिक इच्छुक है। पेरिस-सन्धि की रक्षा के लिए सर्वप्रथम अमेरिका अग्रसर हुआ; किन्तु यथार्थ में वह पद-पद पर आत्म-हित के लिए आदर्शवाद को छोड़ बैठा। १६ अक्टूबर को जापान-सरकार ने राष्ट्र-संघ की कौंसिल में अमेरिका की सहायता को स्वीकार कर लिया।

जापान का दुराग्रह—कौंसिल अब अमेरिका के सहयोग से शान्तिपूर्वक चीन-जापान की समस्या का समाधान करने के लिए प्रयत्नशील थी; परन्तु इसी समय जापान ने विवाद को एक नया रूप दे दिया। उसका कथन यह था कि पेकिंग गुप्त समझौता १६०५ के

अनुसार चीन ने यह स्वीकार कर लिया था कि वह दक्षिणी मंचूरिया रेलवे लाइन के समानान्तर में कोई रेलवे न बनायेगी। इसके अतिरिक्त कुछ मौलिक समझौते की शर्तों पर भी जोर दिया गया, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१—दोनों देश यह प्रतिज्ञा करते हैं कि वह परस्पर एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे।

२—वे विरोधी आन्दोलन, उत्तेजना और बहिष्कार का दमन करेंगे।

३—जापान मंचूरिया की रक्षा करेगा।

४—चीन जापानी नागरिकों की मंचूरिया में रक्षा करेगा।

५—चीन और जापान दक्षिणी-मचूरया रेलवे तथा मंचूरिया की अन्य रेलवे में विनाशकारी प्रतिस्पर्द्धा को दूर करने के लिए समझौता करेंगे। *

इन समझौतों और तथाकथित गुप्त प्रोटोकल १६०५ का कोई यथार्थ आधार नहीं है। इन सन्धियों का कभी प्रकाशन नहीं हुआ और चीन की सरकारें निरन्तर इनको असत्य तथा अवैध विघोषित करती रही हैं। †

२२ अक्टूबर को कौंसिल ने एक प्रस्ताव पर विचार करना शुरू किया। प्रस्ताव-द्वारा जापान-सरकार से यह प्रार्थना की गई कि वह रेलवे की सीमा से शीघ्र ही जापानी सेना को हटा ले और आगामी १६ नवम्बर तक सेना बिलकुल हटा देनी चाहिए। इसी प्रकार चीन सर-

---

* Newyork Times Oct. 21, 1931.

† Compare C. W. young, Japan's special position in Manchuria pp. 95.

कार से यह प्रार्थना की गई कि वह उन क्षेत्रों में जहाँ से सेना हटा ली गई हो, जापानी प्रजा की सम्मति और जीवन की रक्षा करे।

२३ अक्टूबर को चीन के प्रतिनिधि ने चीन-सरकार की ओर से उपर्युक्त प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया; परन्तु योशीजवा जापानी प्रतिनिधि ने सूचित किया कि जापानी-सरकार इस प्रस्ताव से सहमत नहीं है। वह उसे स्वीकार नहीं कर सकती। उसने कहा कि जापानी सेना को अभी नहीं हटाया जा सकता; क्योंकि उसे भय है कि चीन उस प्रदेश में जापानी प्रजा के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करेगी।

सैनिक-बल का विनाशकारी दृश्य—कौंसिल के उपर्युक्त प्रस्ताव का जापान पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। सेना से आच्छादित प्रदेश खाली नहीं किया गया। यह जापान की साम्राज्यवादी नीति का सबसे अधिक उद्दण्डता-पूर्ण उदाहरण है। जापान-द्वारा राष्ट्र-संघ की अवज्ञा उसके इतिहास में सबसे कलंक-पूर्ण कहानी है।

वास्तव में अब जापानी सेना उन प्रदेशों में आक्रमण करने के लिए बढ़ने लगी, जिनमें पहले शान्ति थी। जो सैनिक-बल की क्रूरता और बर्बरता से मुक्त थे। २ नवम्बर १९३१ ई० को कौंसिल को टोकियो से यह संवाद मिला कि मन्चूरिया में चीनी पूर्वी रेलवे की मुख्य लाइन से कुछ दूर पर Taonan Angangchi line पर नौनी नदी पुल की मरम्मत करने के लिए सैनिक भेजे गये थे। मंचूरिया में दो सप्ताह तक घमासान युद्ध हुआ। फलस्वरूप Tsitsihar जापान के अधीन हो गया।

८ नवम्बर को Tientsin में, जहाँ सामान्यता जापानी सेना पड़ी हुई थी, चीन-जापान में युद्ध शुरू हो गया। यहाँ तक कि जापानी सैनिकों ने मंचूरिया की आर्थिक सर्विस पर भी आक्रमण करना शुरू कर दिया।

इस कार्य में अमेरिका ने कहाँ तक सहयोग दिया तथा चीन-जापान-युद्ध के संबन्ध में अमेरिका की नीति क्या थी। उसका इतना स्पष्ट और रोचक विवरण Felix Morley ने अपनी Society of Nations में दिया है—

'The position taken by the United States with regard to this Controversial issue is particularly interesting. In accordance with his general instructions the American representative sitting with the Council kept silence during the vote on the resolution of 22nd, Oct. nor did he make any comment on the subject. For nearly two weeks Washington gave no public intimation of official support for the council's action in spite of Mr. Stimson's earlier request that the League should 'in no way fail to assert all the pressure & authority with in its competence.'

मौलिक सिद्धान्त क्या हैं ?—जापान बहुत पहले से अपना मत यह प्रकट करता रहा है कि चीन-जापान-संघर्ष का अन्त केवल चीन-जापान की सीधे समझौते से ही होगा; परन्तु यह सीधा समझौता 'मौलिक सिद्धान्तों' का समझौता होगा, जिनके अनुसार चीन-जापान के संबन्धों का निश्चय होगा।

अब तक जापान ने यह स्पष्टतया नहीं बतलाया था कि मौलिक सिद्धान्त क्या हैं ? परन्तु अब जापानी सरकार ने अपने वक्तव्य में उनकी परिभाषा इस प्रकार की है—

१—आक्रमणकारी नीति और व्यवहार की परस्पर अस्वीकृति।

२—चीन की दैशिक सीमा की रक्षा।

३—जो संगठित आन्दोलन व्यापार-स्वातंत्र्य के साथ हस्तक्षेप करते हैं, उनका पूर्ण दमन।

४—जो शान्ति-पूर्ण कार्य समस्त मंचूरिया में जापानी प्रजा-द्वारा किये जाते हैं, उनकी रक्षा।

५—मंचूरिया में जापान के सन्धि-द्वारा प्राप्त अधिकारों की रक्षा।

(*Official journal Dec. 1931. pp 2514.*)

अमेरिका का असहयोग—चीन-जापान-युद्ध पर विचार करने के लिए १६ नवम्बर १९३१ ई० को राष्ट्र-संघ की कौंसिल का तृतीय अधिवेशन पेरिस में विख्यात Salle de l' Horloge भवन में हुआ, जिसमें अमेरिका के तत्कालीन-सचिव कैलोगे ने विश्वविख्यात पेरिस की सन्धि (Pact of Paris) पर २७ अगस्त १९२८ ई० में विश्व-शान्ति स्थापित करने के लिए हस्ताक्षर किये थे; पर अब निकटपूर्व में, चीन-जापान में, युद्ध-अवरोध की समस्या पर विचार करने के लिए जो कौंसिल का अधिवेशन हो रहा था, उसमें अमेरिका ने अपना प्रतिनिधि नहीं भेजा। Consul Gilbert इन दिनों जिनेवा में ही रहा; परन्तु अमेरिका ने अपने लन्दन-स्थित राजदूत डॉस को पेरिस में कौंसिल के सदस्यों से परामर्श करने के लिए भेज दिया। अमेरिका की मनोवृत्ति में यह विशाल परिवर्तन क्यों हुआ, इसकी झलक अमेरिका के राजदूत Daws के उस वक्तव्य में मिलती है, जो उसने १३ नवम्बर को दिया था—

'I shall hope to make every contact which is essential to the exercise of any influence we may have in properly supporting the League's efforts to overt war & to make effective the Paris Pact.

The United States is not a member of the League,

and the methods which have been followed on occasions when a matter of Concern & interest to the League & to ourselves is under consideration have varied. On this occasion there is no anticipation on the part of my government or myself that it will be found necessary for me to attend the meetings of the Council.' *

जाँच-कमीशन की स्थापना

अमेरिका के सहयोग ने कौंसिल को सचेत कर दिया। उसे अपने कर्तव्य-पालन का ध्यान आया। जिस साधन के लिए प्रारम्भ में चीन के प्रतिनिधि ने आग्रह किया था, उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया। अमेरिका ने भी जाँच-कमीशन की नियुक्ति को अनावश्यक बतलाया। और चीन-जापान में सीधे समझौते (Direct Negotiation) का समर्थन किया। कौंसिल भी जापानी प्रतिनिधि को रुष्ट कर जाँच-कमीशन की पद्धति को पसन्द नहीं करती थी; परन्तु अब कौंसिल को विवश होकर जाँच-कमीशन की नियुक्ति के लिए प्रयत्न करना पड़ा।

२२ नवम्बर १९३१ ई० को कौंसिल ने अपने एक गुप्त अधिवेशन में उस प्रस्ताव पर विचार किया, जिसमें जाँच-कमीशन की नियुक्ति का विधान था। अन्त में बड़ी बाधाओं और आपदाओं के बाद १० दिसंबर १९३१ ई०को कौंसिल ने सर्व-सम्मति से अपना वह प्रस्ताव पास किया, जिसके आधार पर चीन-जापान विवाद की जाँच के लिए जाँच-कमीशन नियुक्त किया गया। निम्न-लिखित कमीशन के सदस्य चुने गये—

१—एच्० ई० काउण्ट अल्ड्रोवेण्डी (इटली)

२—जनरल डी० डिवीजन हैनरी क्लाएडेल (फ्रेन्च)

३—राइट ऑनरेबुल अर्ल ऑव लिटन् (ब्रिटिश)

* Newyork Times Nov. 14, 1931.

४—मैज़ोर जनरल फ्रेन्क रौस मैकाय (अमेरिकन)

५—एच० ई० डा० हीनरिच स्चिनी (जर्मन)

३ फरवरी १९३२ ई० को मंचूरिया के लिए प्रस्थान करने से पूर्व जाँच-कमीशन के जिनेवा में दो अधिवेशन हुए, जिनमें लार्ड लिटन् कमीशन के अध्यक्ष चुने गये। चीन-जापान-सरकारों ने अपने-अपने असेसर नियुक्त किये।

१—एच० ई० योशीदा (टर्की में जापानी राजदूत)

२—एच० ई० डा० वैलिंगटन कू (चीन के भूतपूर्व प्रधान-सचिव) राष्ट्र-संघ के कार्यालय के डायरेक्टर मि० रोबर्ट हॉस कमीशन के प्रधान-मंत्री चुने गये।

कमीशन ने मंचूरिया में पहुँचने से पूर्व चीन-जापान की सरकारों से सम्बन्ध स्थापित किया तथा विविध मत के नेताओं से भेंट की, जिससे उनके दृष्टिकोण का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाय। २९ फरवरी को कमीशन टोकियो में पहुँचा। शंघाई में २४ मार्च से २६ मार्च तक रहा और नान्किंग में २६ मार्च से १ अप्रेल १९३२ तक रहा। चीन में यात्रा करने के बाद कमीशन पीपिंक में पहुँचा और वहाँ से सीधा मंचूरिया में जा विराजा। मंचूरिया में ६ सप्ताह तक विवाद की जाँच-पड़ताल की। पुनः पीपिङ्क और टोकियो में भ्रमण किया, इसके बाद २० जुलाई १९३२ ई० को पीपिंक में कमीशन ने अपनी रिपोर्ट लिखना शुरू किया।

जाँच-कमीशन की रिपोर्ट *

१—चीन में नवीन घटनाओं के विकास की रूप-रेखा— चीन में आजकल आधुनिकता का प्रचार बड़े वेग से हो रहा है।

---

* यहाँ Commission of Enquiry into Sino-Japanese Dispute का सारांश दिया गया है।—

राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक भाग में चीन नवयुग की ओर अग्रसर है। १६११ की राज्यक्रान्ति के बाद चीन में राजनीतिक उत्पात, यादवीय युद्ध (Civil war) सामाजिक और आर्थिक अशान्ति के परिणाम स्वरूप केन्द्रिय सरकार अत्यन्त शक्तिहीन रही। चीन की इस दशा का समस्त संसार की उन सरकारों पर दूषित प्रभाव पड़ा है, जिनका चीन से सम्बन्ध रहा है। और जब तक इसका ठीक प्रकार से सुधार न किया जायगा, तब तक चीन विश्व-शान्ति के लिए खतरा बना रहेगा और विश्व के अर्थ-संकट में सहायक होगा।

चीन की इस करुणा-जनक परिस्थिति का एक कारण यह भी है, कि चीन में अभी सच्ची राष्ट्रीयता का जन्म नहीं हुआ है। चीन के नागरिक प्रान्तीयता के शिकार हैं और जब कभी विदेशों से टक्कर लेनी पड़ती है, तब वे अपने को एक राष्ट्र के रूप में देखते हैं।

चीन में कम्यूनिज्म के सम्बन्ध में हमें यह स्पष्ट कर देना है कि चीन में कम्यूनिज्म किसी राजनीतिक दल का सिद्धान्त नहीं है, और न यह किसी दल की संस्था है, जो चीन पर शासन करना चाहती हो।

चीन के परिवर्तन-काल का दृश्य बड़ा निराशा-जनक है ; क्योंकि वहाँ राजनीतिक, सामाजिक, मानसिक और भौतिक अव्यवस्था तथा अशान्ति उग्र रूप में विद्यमान है। कमीशन की यह सम्मति है कि चीन ने इतनी कठिनाइयों और असफलता के होते हुए भी यथेष्ट उन्नति की है। यदि आप वर्तमान स्थिति और १६२२ ई० की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करें, तो आपको हमारे कथन की सत्यता का अनुभव होने लगेगा।

वर्तमान चीन की राष्ट्रीयता उसके राजनीतिक परिवर्तन-काल का स्वाभाविक रूप है। जो राष्ट्र किसी विदेशी राज्य के प्रभुत्व में शासित होते हैं, उनमें स्वभावतः राष्ट्रीय-एकता की प्रबल भावना का जागरण

होता है और वे परतंत्रता से मुक्ति के उपाय सोचते हैं; परन्तु चीन में Knomintang के प्रभाव से चीन की राष्ट्रीयता में विदेशी राज-सत्ताओं के प्रति वैमनस्य का बीजारोपण कर दिया गया है।

विदेशी के विरुद्ध चीन में उग्र आन्दोलन खड़ा हुआ है। विदेशी का आर्थिक बहिष्कार और चीन के विद्यालयों में विदेशी के विरुद्ध आन्दोलन—इन दो आन्दोलनों ने उस वातावरण की रचना करने में सहायता दी है, जिससे वर्तमान विवाद की उत्पत्ति हुई है। जापान-चीन का निकटवर्ती देश है। इस कारण चीन की इस मनोवृति से दूसरे राज्यों की अपेक्षा जापान पर बड़ा विनाशकारी प्रभाव पड़ा है; परन्तु चीन-जापान-युद्ध का यही एकमात्र कारण नहीं है।

२—**मन्चूरिया**—कमीशन की रिपोर्ट के द्वितीय अध्याय में, मंचूरिया की दशा का विवरण तथा शेष चीन और रूस से, सितम्बर १६३१ ई० से पूर्व, उसके सम्बन्धों का विवरण है। मंचूरिया—तीन पूर्वी प्रान्त—एक विशाल उर्वरा प्रदेश है। आज से चालीस वर्ष पहले अधिकांश में मन्चूरिया एक अविकसित प्रदेश था और आज भी वहाँ यथेष्ट जन-संख्या का अभाव है। श टङ्क और होपी से लाखों दुःखित कृषक मंचूरिया में प्रवेश कर चुके हैं। जापान ने अपने देश से मंचूरिया में तैयार किया हुआ माल और पूँजी भेजी है और उनके परिवर्तन में वह कच्चा माल तथा अनाजादि मँगाता है। जापान की कर्त्तृत्व-शक्ति और प्रयत्न के बिना मंचूरिया इतनी विशाल जन-संख्या को आकर्षित नहीं कर सकता था। चीन के कृषकों के प्रवेश के बिना मंचूरिया इतना शीघ्र उन्नत नहीं हो सकता था। ऐसी स्थिति के कारण मंचूरिया को अशान्ति का केन्द्र बनना पड़ा।

सर्वप्रथम चीन ने मंचूरिया में उन्नति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। उसने मंचूरिया को अपने नियन्त्रण से रूस के अधीन

जाने दिया। पोर्ट्समाऊथ की सन्धि के बाद मंचूरिया फिर से चीन के प्रभुत्व में आ गया ; परन्तु चीन की उन्नति में रूस और जापान ने ही विशेष भाग लिया। हाँ, चीन ने अपने लाखों कृषकों और मजदूरों को वहाँ भेजकर उनको भू-भाग का स्वामी बना दिया। जापान और रूस का प्रभाव घट गया। मंचूरिया अब चीन का प्रदेश है। सन् १६१७ ई० की रूसी राज्य-क्रान्ति के बाद चीन ने मंचूरिया के शासन में अधिकाधिक क्रियात्मक भाग लिया और देश को समृद्धिशाली बनाने का प्रयत्न किया। इधर कुछ वर्षों से दक्षिणी मंचूरिया में चीन ने जापान के प्रभाव को घटाने का प्रयत्न भी किया है। यह संघर्ष इतना विकसित हुआ कि इसका अन्त चीन-जापान युद्ध में हुआ।

मार्शल चाँग ट्सोलिन ने अनेकों अवसरों पर पेकिङ्ग-सरकार से मंचूरिया की स्वाधीनता की घोषणा की; परन्तु इन घोषणाओं का तात्पर्य यह नहीं था कि वह एवं मंचूरिया की प्रजा चीन से अलग होना चाहती थी। उसकी सेनाओं ने चीन को विदेशी राष्ट्र मानकर उस पर आक्रमण नहीं किया ; चीन में जो गृह-युद्ध हुआ, उसमें मंचूरिया ने भी भाग लिया ; परन्तु मंचूरिया चीन का ही प्रदेश रहा। यद्यपि मार्शल चाँग ट्सोलिन कोमिटांग से सहमत न था, तथापि वह चीन की एकता चाहता था। मार्शल चाँग ट्सोलिन की रहस्य पूर्ण हत्या के बाद मार्शल चाँग हस्यलियांग ने, जापान की सम्मति के विरुद्ध कोमिटांग से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर लिया और दिसम्बर १६२८ ई० में नाकिङ्ग की सरकार के प्रति अपनी राजभक्ति की घोषणा कर दी।

वास्तव में मचूरिया में पुराना सैनिक नियंत्रण निरन्तर कायम रहा ; परन्तु कोमिटांग के प्रभाव से राष्ट्रीय आन्दोलन और जापान के विरुद्ध आन्दोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया।

कमीशन ने १६३१ ई० से पूर्व मंचूरिया में रिश्वत, कुप्रबन्ध और

कुशासन के सम्बन्ध में बहुत-सी शिकायतें सुनीं ; पर यह बात केवल मंचूरिया में ही नह ी थी। समस्त चीन अपने शासन की कमजोरियों का शिकार था। इन दोषों के होते हुए भी देश के अधिकांश भागों में सुशासन स्थापित करने के प्रयत्न किये गये तथा शिक्षा, स्थानीय शासन, और Public Works के विभागों में विशेष सुधार हुआ। यह कहा जा सकता है कि मार्शल चाँग ट्सोलिन और मार्शल चाँग Hsuch-Liang के राज्य-शासन में मंचूरिया के आर्थिक साधनों में विकास करने के लिए सबसे अधिक प्रयत्न किया गया।

पोर्ट्समाउथ की सन्धि और रूसी राज्यक्रान्ति के मध्यकालीन समय में मंचूरिया में रूस और जापान की नीति सहयोग की नीति रही ; परंतु इस सहयोग की नीति का राज्यक्रान्ति के बाद अन्त हो गया। रूस साइ-वेरिया में हस्तक्षेप करने लगा। इसके अतिरिक्त सोवियट रूस की सरकार की प्रवृत्ति से चीन की राष्ट्रीय-भावना को बल प्राप्त हुआ—प्रेरणा मिली। जापान को ऐसा प्रतीत हुआ कि प्रभुत्व के अधिकारों की प्राप्ति के संग्राम में सोवियट शासन चीन की सहायता करेगा। इस प्रकार जापान में सोवियट के प्रति भय का उदय हुआ और पुराना बैर फिर से पुनर्जीवित होने लगा। उत्तरीय मंचूरिया की सीमा जापान के लिए ख़तरा बन गई। बाहरी मंगोलिया में रूस का आतङ्क छा गया और चीन में कम्यूनिज़्म का विकास होने लगा। इस प्रकार इन घटनाओं ने जापान के भय और भ्रान्ति की भूल को मज़बूत कर दिया।

३—चीन और जापान के मध्य मंचूरिया की समस्या—प्रायः विगत २५ वर्षों से मंचूरिया और चीन का सम्बन्ध अधिकाधिक दृढ़ और प्रगाढ़ बनता जा रहा था और साथ-ही-साथ मंचूरिया में जापान के हितों की भी वृद्धि हो रही थी। यह स्वीकार है कि मंचूरिया चीन का ही प्रमुख अंग था ; परन्तु उसमें जापान ने कुछ असामान्य अधिकार

भी प्राप्त कर लिये थे, जिसके कारण चीन के प्रभुत्व—अधिकारों के प्रयोग सीमित हो गये और ऐसी दशा में दोनों देशों में संघर्ष स्वाभाविक था। यह असामान्य अधिकार मुख्यतः पेकिंग की सन्धि—(१९०५) और १९१५ की सन्धि, तथा विविध रेलवे समझौतों पर निर्भर है।

चीन मंचूरिया को अपना अन्न-भांडार मानता है। देश-भक्ति की भावना देश की रक्षा और सन्धियों-द्वारा प्राप्त विशेषाधिकार सब मिलकर मंचूरिया में जापान की 'विशेष स्थिति' के दावे का प्रादुर्भाव करते हैं; परन्तु यह विशेषाधिकार चीन के प्रभुत्व—अधिकारों से सामंजस्य नहीं रखते।

अगस्त १९३१ ई० के अन्त तक चीन-जापान के सम्बन्ध, इन घटनाओं के फलस्वरूप अत्यन्त वैमनस्य-पूर्ण बन गये। राजदूतों-द्वारा उचित निर्णय के लिए प्रयास किया गया; परन्तु देरी के कारण जापान असन्तुष्ट हो गया। जापान में सैनिक-विभाग विशेष रूप से नाकामूरा मामले के शीघ्र निपटारे के लिए आग्रह करने लगा। साम्राज्यवादी भूत-पूर्व सैनिक संस्था ने लोकमत को उत्तेजित किया।

४—१८ सितम्बर के बाद मंचूरिया में घटनाओं का वर्णन—१८ सितम्बर की रात्रि को चीन-जापान-युद्ध प्रारम्भ हुआ। जापान और चीन के तत्सम्बन्धी वृत्तान्त बिल्कुल भिन्न हैं। कमीशन ने मुकडेन में यथाशक्ति विदेशी प्रतिनिधियों की गवाहियाँ लीं, जो युद्ध के प्रारम्भ के समय अथवा कुछ समय बाद वहाँ उपस्थित थे। इस जाँच के फल-स्वरूप कमीशन इन निश्चयों पर पहुँचा—

'निस्सन्देह जापानी और चीनी सेनाओं में उत्तेजित भावना विद्यमान थी।'

'जापान ने, जैसा कि कमीशन की गवाहियों में बतलाया गया है,

चीन से मुठभेड़ का सामना करने के लिए बड़ी चतुराई और कौशल से योजना तैयार की थी।'

१८ सितम्बर १९३१ की रात्रि को यह योजना बड़ी तत्परता और शीघ्रता से काम में लाई गई।

'चीन ने जापानी सेना पर आक्रमण, या इस समय और स्थान पर जापानी नागरिकों के जीवन और सम्पत्ति के विनाश की कोई योजना तैयार नहीं की थी। चीनी सेना ने जापानी सेना पर आक्रमण नहीं किया और वे अचानक जापानी सेना-द्वारा आक्रान्त किये गये।'

१८ सितम्बर को रात्रि के दस और साढ़े दस के बीच रेलवे लाइन पर या उसके निकट किसी विस्फोटक द्रव्य का धड़ाका हुआ; परन्तु रेलवे लाइन को जो क्षति पहुँची, उससे चाँगचुन से आनेवाली गाड़ी के ठीक समय पर आने में कोई बाधा न पहुँची। केवल यह कार्य जापानी सेना के आक्रमण के औचित्य को सिद्ध नहीं करता।

इस रात्रि को जापानी सेना ने जो आक्रमण किये वे आत्मरक्षा के वैध साधन नहीं माने जा सकते। इसके उपरान्त रिपोर्ट में युद्ध का पूरा वृत्तान्त दिया गया है। कमीशन को पूर्ण वृत्तान्त जानने में असुविधाओं का सामना करना पड़ा। चीन के अधिकारियों ने अपनी सेना के आक्रमणों का ठीक-ठीक वृत्तान्त बतलाने की चेष्टा नहीं की। जापान सदैव अपने आक्रमणों को छिपाने के लिए प्रयत्न करता रहा।

कमीशन का यह विश्वास है कि यह बात सन्देह-जनक है कि निकट-भविष्य में मंचूरिया की दशा में कोई परिवर्तन होगा। इस रिपोर्ट की समाप्ति के समय भी घमासान युद्ध हो रहा था।

५—शंघाई—इस अध्याय में २० फरवरी १९३२ से जापानी सेना की वापसी तक जो सैनिक आक्रमण हुए, उनका विवरण दिया गया है।

६—मन्चूखो (ManchuKuo)—इस अध्याय में मंचूखो का वृत्तान्त है। यह तीन भागों में विभक्त है।

(१) नवीन राज्य का निर्माण—

प्रारम्भ में जापान के आक्रमण से मुकडेन की जो अशान्ति-पूर्ण दशा हुई, उसका विवरण है; फिर मुकडेन और मंचूरिया में क्रमशः शान्ति और व्यवस्था की पुनः स्थापना का वृत्तान्त दिया गया है। नवीन राज्य की स्थापना हेनरी पुयी की कुछ समय के लिए प्रधान पद पर नियुक्ति, ६ मार्च को चाँगचून में राज्यारोहण-उत्सव, मंचूखो की नियम-व्यवस्था आदि का विवरण है। निम्न-लिखित वृत्तान्त के साथ अध्याय समाप्त हो जाता है—

'१८ सितम्बर १९३१ से सैनिक और सिविल प्रबन्ध में, जापानी सैनिक अधिकारियों के कार्य, विशेषरूपेण राजनीतिक विचारों से प्रेरित होकर किये गये थे। चीन के अधिकारियों के नियंत्रण से, शनैः शनैः जापानी सेना ने मंचूरिया को निकालकर उस पर अपना अधिकार कर लिया। Tsitsihar, Chinchow, & Harbin नगरों पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। ज्यों ज्यों मंचूरिया के नगर जापानी सेना के अधिकार में आते गये, त्यों-त्यों वहाँ राज्य-शासन की पुनर्स्थापना के लिए प्रयत्न किया गया।

'It is clear that the Independence Movement which had never been heard of in Manchuria before September 1931, was only made possible by the presence of Japanese troops. ×××

The ovidence received from all sources has satisfied the commission that while there were a number of factors which Contributed to the creation of 'Manchukuo', the two which, in Combination, were most effective,

and without which, in our judgment 'the new State' could not have been formed were the presence of Japanese troops & the activities of Japanese Officials, both civil & military.

For this reason the present regime can not be considered to have been called into existence by a genuine & Spontaneous Independence movement.'

(२) मन्चूखो का वर्तमान् शासन

अध्याय के द्वितीय भाग में मंचूखो के शासन पर प्रबन्ध तथा विधान की दृष्टि से विचार किया गया है। कमीशन का कथन है कि मन्चूखो-शासन के कार्य-क्रम में कुछएक सुधार भी सम्मलित हैं जिनके कार्यान्वित करने से केवल मन्चूरिया में ही नहीं प्रत्युत् समस्त चीन में उपयोगी सिद्ध होंगे। इनमें से बहुत से सुधार चीन-शासन के प्रोग्राम में भी सम्मिलित हैं। कमीशन की यह सम्मति है कि यह सरकार यथार्थ में इन समस्त सुधारों को व्यवहार में न ला सकेगी।

These sums to be serious obstacles in the way of realisation of the announced budgetary & currency reforms. A thorough programme of reforms, orderly conditions & economic prospirety could not be realized in the conditions of insecurity and disturbance which existed in 1932.'

शासन के सम्बन्ध में यद्यपि शासन-विभागों के अध्यक्ष चीनी हैं; परन्तु प्रमुख राजनीतिक प्रबन्ध जापानी आफीसियल्स के हाथों में है। निस्सन्देह वे टोकियो (जापानी) सरकार की आज्ञानुसार शासन नहीं करते। इस प्रकार मंचूखो जापान की सैनिक-शक्ति और साम्राज्यवाद का

नवीन आविष्कार है। जापान मंचूखो का पूर्ण स्वामी है। नाममात्र के लिए उसका शासन स्वतंत्र सम्राट् द्वारा होता है।

(३) मन्चूरिया के नागरिकों के नवीन शासन के प्रति मनोभाव

कमीशन का कथन है कि जिन परिस्थितियों में उसने जाँच-कार्य किया, उनमें इस विषय पर गवाहियाँ प्राप्त करने में विशेष रूप से कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। बहुत से चीनी कमीशन के सदस्यों से भेंट करने में भय अनुभव करते थे; इसलिए भेंट बहुत ही गुप्त और कठिनाइयों से हुई। इन कठिनाइयों के होते हुए भी व्यापारियों, बैंकरों, शिक्षकों, डाक्टरों और पुलीस से प्राइवेट भेंट की गई। अनेकों अधिकारियों से सार्वजनिक भेंट (Public interviews) हुईं। कमीशन को इस विषय पर १५०० पत्र मिले, कमीशन का निश्चय है। 'मंचूखो का समर्थन अल्पमत के दल ही करते हैं। मंचूखो-शासन का सामान्यतया चीनी समर्थन नहीं करते। स्थानीय चीनियों-द्वारा वह जापान का यंत्र माना जाता है।'

७—जापान के आर्थिक हित और चीनी-बहिष्कार—इस अध्याय में यह विवेचन किया गया है कि चीन-जापान का संघर्ष केवल सैनिक ही नहीं है, प्रत्युत् वह आर्थिक भी है। चीन ने जापान के विरुद्ध उसके माल, जहाज और बैंक इत्यादि के बहिष्कार से बड़ी हानि पहुँचाने की युक्ति सोची है। कमीशन की सम्मति है कि बहिष्कार, जिसका प्रयोग चीन ने किया है, शताब्दियों की पुरानी प्रथाओं का फल है और इस प्रकार परम्परागत शिक्षण और मानसिक प्रवृत्ति ग्रहण कर लेने पर तथा उनकी वर्तमान राष्ट्रीयता—Knomintang—से सामंजस्य हो जाने से आजकल की बहिष्कार-प्रवृति को प्रोत्साहन मिला

। इस आन्दोलन का चीन-जापान-संबन्ध पर भौतिक और मनोवज्ञानिक दृष्टि से अधिक प्रभाव पड़ा है।

कमीशन का निश्चय है कि चीनी-वहिष्कार-आन्दोलन लोकप्रिय और सुसंगठित है। उसका आविर्भाव उग्र राष्ट्रीय भावना से हुआ है और उसी से आन्दोलन को समर्थन मिला है। उसका संचालन संस्था की ओर से होता है; उसके संचालन में सहायता प्राप्त करने के लिए जनता पर अनुचित प्रभाव भी डाला जाता है। इस वहिष्कार-आन्दोलन का संचालन करनेवाल ी प्रमुख संस्था Kuomintang है। वहिष्कारों के प्रयोग में ग़ैर-क़ानूनी अनेकों कार्य किये गये हैं। कमीशन की सम्मति में इस प्रकार के काय का दमन न करने के लिए चीन-सरकार दोषी है।

चीन-सरकार का यह दावा है कि शक्तिशाली देश के द्वारा किये गये सैनिक आक्रमण के विरुद्ध वहिष्कार ही एक वैध अस्त्र है। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है। यह कोई भी विद्वान् अस्वीकार नहीं कर सकता कि प्रत्येक चीनी व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त है कि वह जापानी माल को मोल न ले, अथवा चीन राष्ट्र का यह अधिकार है कि वह सामूहिक रूप से संगठित होकर इस भावना के समर्थन के लिए आन्दोलन खड़ा करे; परन्तु शर्त यह है कि उसे या संस्था को देश के क़ानून (Law of the Land) का पालन करना होगा। क्या किसी देश के व्यापार के विरुद्ध वहिष्कार का संगठित प्रयोग सन्धि के अनुसार है? यह विषय अन्तर्रा य-विधान से सम्बन्ध रखता है। समस्त राष्ट्रों के हित के लिए यही श्रेष्ठ है कि इस पर बहुत शीघ्र विचार किया जाय और अन्तर्राष्ट्रीय समझौते से इस समस्या का हल कर लिया जाय।

८—मन्चूरिया मे आर्थिक हित—इस अध्याय में, मंचूरिया में चीन और जापान के आर्थिक हितों का विवेचन है। कमीशन की यह

धारणा है कि वर्तमान राजनीतिक घटनाओं को अलग छोड़कर विचार किया जाय, तो चीन और जापान के आर्थिक हित परस्पर सहकारिता और सद्भावना को प्रशस्त करेंगे—संघर्ष के पथ को नहीं। यदि मंचूरिया का आर्थिक अभ्युदय वांछनीय है, तो चीन और जापान का सहयोग आवश्यक है।

९—**निर्णय के सिद्धान्त**—इस अध्याय में कमीशन भविष्य पर विचार करता है। इन पृष्ठों के अध्ययन से यह तो स्पष्ट हो जायगा कि समस्या इतनी सीधी नहीं है, जितनी समझी जाती है। 'यह सत्य है कि युद्ध की घोषणाएँ किये बिना, चीन का प्रदेश सशस्त्र सेना के बल-प्रदर्शन-द्वारा हथिया लिया गया। जापानी सरकार का कथन है कि उसका यह कृत्य अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञाओं और उस आश्वासन के अनुकूल है, जो जिनेवा में जापान के प्रतिनिधि ने दिया था। जापानी सरकार अपने सैनिक आक्रमणों को आत्मरक्षा का नाम देती है। मन्चूखो के स्वतन्त्र राज्य के औचित्य को सिद्ध करने के लिए जापानी सरकार का यह कथन है, कि स्वतन्त्र राज्य की स्थापना मन्चूरिया की प्रजा का कार्य है।

जो स्थिति सितम्बर सन् १९३१ के पूर्व थी, उस स्थिति को पुनर्जीवित करना चीन-जापान की समस्या का समाधान नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह संघर्ष ही उस पूर्व स्थिति से उत्पन्न हुआ है और पूर्व स्थिति का पुनर्जीवन ख़तरे से मुक्त न होगा।

मन्चूरिया के वर्तमान शासन का सुरक्षित रखना भी सन्तोषजनक नहीं है। कमीशन की सम्मति में, यह शासन, वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञाओं के मौलिक सिद्धान्तों से सामंजस्य नहीं रखता और न इससे दोनों देशों के बीच अच्छा सम्बन्ध और सद्भाव ही स्थापित हो सकता है। मन्चूरिया का वर्तमान शासन चीन के हितों के ख़िलाफ़ है। अब चीन

के लाखों किसान स्थायी रूप से मन्चूरिया में बस गये हैं। इस प्रकार उन कृषकों ने मन्चूरिया को चीन का प्रमुख अंग बना लिया है। तीन पूर्वीय प्रान्त (Manchuria) जाति, संस्कृति और राष्ट्रीय भावना में अपने निकटवर्ती प्रदेश होपी और शांटङ्ग की भाँति चीनी बन गये हैं।

इसके अतिरिक्त प्राचीन अनुभव यह बतलाता है कि जिन्होंने मंचूरिया पर नियन्त्रण किया है, उन्होंने शेष चीन के राजकार्यों पर भी विशेष प्रभाव डाला है। वे सैनिक नाकेबन्दी तथा राजनीतिक लाभों का उपयोग करते रहे हैं; इसलिए चीन को मंचूरिया से अलग करने का अर्थ यह होगा कि भविष्य में चीन जापान का और भी अधिक बहिष्कार करेगा और विश्व शान्ति-भङ्ग की सम्भावना बनी रहेगी।

कमीशन जापान के आर्थिक विकास में मंचूरिया के विशाल महत्त्व को स्वीकार करता है। वह जापान की मंचूरिया में दृढ़ शासन स्थापित करने की माँग को स्वीकार करता है; क्योंकि जापान के आर्थिक अभ्युदय के लिए ऐसा होना आवश्यक है; परन्तु शासन उसी समय दृढ़ और स्थायी हो सकता है, जब कि वह वहाँ के लोकमत पर आश्रित हो। चीन और जापान की समस्या का सर्वश्रेष्ठ समाधान यही है, कि जापान और चीन सहयोग-पूर्वक काम करें।

चीन-जापान के अतिरिक्त, संसार के दूसरे राष्ट्रों को भी इस संघर्ष से अपने हितों की रक्षा करनी है। कोई ऐसा स्थायी समाधान होना चाहिए, जो संसार में शान्ति-स्थापना कर सके। चीन के प्रदेशों का विच्छेद (disintegration) बहुत शीघ्र अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धाओं को जन्म देगा। विश्व के किसी भाग में राष्ट्र-संघ के विधान और पेरिस-सन्धि के सिद्धान्तों के प्रयोग में विश्वास न रहने पर हर जगह उन सिद्धान्तों का मूल्य और उपयोगिता कम हो जायगी।

कमीशन को मंचूरिया में रूस के हितों का विशेष ज्ञान नहीं है। रूस, चीनी पूर्वीय रेलवे का स्वामी है और मंचूरिया में उसके महत्त्व-पूर्ण हित हैं। इस मंचूरिया की समस्या के समाधान में रूस को भी समुचित स्थान मिलना चाहिए।

१०—कमीशन के प्रस्ताव—कमीशन की सम्मति है कि यदि उसकी रिपोर्ट पर जिनेवा में विचार करने से पूर्व ही मंचूखो-राज्य स्वीकृत कर लिया गया, तो भी उसका कार्य व्यर्थ न जायगा। यह कौंसिल का कर्त्तव्य है कि वह विश्व-शांति के हित के लिए कमीशन के प्रस्ताव को कार्य में लावे। उसे सदैव जापान और चीन में स्थायी सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

यदि जापान और चीन नवें अध्याय के सिद्धान्तों के अनुसार विवाद का निर्णय करने की सहमति प्रकट करें, तो शीघ्र ही एक Advisory Conference बुलाई जाय, जो मंचूरिया के शासन के लिए मसविदा तैयार करे।

कान्फ्रेंस में एक-एक प्रतिनिधि चीन और जापान का लिया जाना चाहिए। दो प्रतिनिधि मंचूरिया की प्रजा से लिये जायँ। यदि यह कान्फ्रेंस किसी निर्णय पर न पहुँचे, तो वह अपना मामला कौंसिल के सिपुर्द कर दे।

इन सब समझौतों का परिणाम चार पत्रों में प्रकाशित किया जाय—

१—चीन के शासन (जिसमें Advisory conference की शर्तों के अनुसार मंचूरिया का विशेष राज्य-शासन भी सम्मिलित है) की घोषणा।

२—चीन-जापान-सन्धि जिसमें जापान के हितों का उल्लेख हो।

३—चीन-जापान-सन्धि जो सहयोग, निर्णय और आक्रमण न करने का उल्लेख करे।

४—चीन-जापान-व्यापारिक-संधि।

कमीशन रिपार्ट और राष्ट्र-संघ

सन् १९३३ के प्रारम्भ में राष्ट्र-संघ की असेम्बली के विशेषाधिवेशन की एक विशेष समिति (Special Committee) जापान और चीन में समझौता कराने के लिए प्रयत्न कर रही थी। यह प्रयत्न असफल रहा; इसलिए असेम्बली ने धारा १५ के अन्तर्गत रिपोर्ट तैयार करने का निश्चय किया, जिसमें विवाद का घटनाओं-सहित विवरण और सिफारिश भी हो।

ड्राफ्ट रिपोर्ट जब तक तैयार हो रही थी, पुनः सहयोग और समझौते के लिए प्रयत्न किया गया; परन्तु इस बार जापान की सरकार ने जाँच-कमीशन के प्रस्तावों को समझौते का आधार मानने से अस्वीकृति दे दी।

२४ फरवरी १९३३ ई० को असेम्बली ने रिपोर्ट स्वीकार कर ली। जापान ने उसके विरुद्ध सम्मति दी। प्रधान ने बतलाया कि १५ धारा के अनुसार रिपोर्ट सर्व-सम्मति से स्वीकृत कर ली गई।

राष्ट्र-संघ के सदस्यों ने यह घोषित किया कि वे मंचूरिया के मामले में कोई पृथक् भाग न लेंगे। वे सब सदस्यों एवं उन राष्ट्रों के सहयोग से कार्य करेंगे, जो राष्ट्र-संघ के सदस्य नहीं हैं। अतः असेम्बली ने एक Advisory Committee (परामर्श-समिति) नियुक्त की, जिसमें संयुक्त-राज्य अमेरिका और रूस के प्रतिनिधि भी निमंत्रित किये गये।

अमेरिका ने रिपोर्ट से सहमति प्रकट की और असेम्बली की समिति में अपना प्रतिनिधि भी भेज दिया; परन्तु सोवियट रूस ने अपना प्रतिनिधि नहीं भेजा। जापानी सरकार ने २७ मार्च १९३३ ई० को राष्ट्र-संघ से त्याग-पत्र देकर सम्बन्ध-विच्छेद की सूचना दी; इसलिए जापान का असेम्बली और कौंसिल में कोई प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं हुआ। ७ जून १९३३ ई० को परामर्श-समिति ने राष्ट्र-संघ के सदस्यों तथा अन्य राष्ट्रों

की सरकारों के पास एक भ्रमण-पत्रिका भेजी, जिसमें उन बातों का वर्णन था, जो Manchukuo की अस्वीकृति के फल-स्वरूप निश्चय हुई थीं—यथा, मंचूरिया के वर्तमान शासन का अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेशन में भाग न लेना, उस सरकार-द्वारा संचालित मुद्रा और पोस्टल सर्विस की अस्वीकृति, और मंचूरिया में विदेशियों की नियुक्ति की अस्वीकृति। समस्त सरकारों ने इसको स्वीकार कर लिया है। *

आलोचना—हमने विस्तृत रूप से इन पृष्ठों में चीन-जापान-संघर्ष पर विचार किया है। इस अध्याय के लिखने का मूल उद्देश्य यही है कि पाठक यह भली प्रकार जान लें कि राष्ट्र-संघ विश्व-शान्ति की समस्या का समाधान किस प्रकार करता है? चीन-जापान-युद्ध को रोकने में राष्ट्र-संघ की असेम्बली और कौंसिल ने क्या-क्या प्रयत्न किये तथा शान्ति के चार्टर पेरिस की संधि पर हस्ताक्षर करनेवालों के अग्रगण्य नेता संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका ने कहाँ तक राष्ट्र-संघ को अपने उद्देश्य की पूर्ति में सहयोग और सहायता दी, इन सभी समस्याओं पर इस अध्याय में यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। विज्ञ पाठक स्वयं उससे अपने निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

राष्ट्र-संघ के एक उग्र समर्थक का कथन है—

'The failures of the Council to settle the dispute, in other words, is by no means entirely to be attributed to unwillingness on the part of that organ to face up to its responsibilities. In part the inability to restrain Japanese military policy effectively was due to the implicit safeguards afforded by the Covenant to a State

---

* Vide The Monthly Summary of the League of Nations December 1933. pp. 264.

which refuses to admit that what appears to be 'external aggression' or 'resort to war' is legally definable as such.'

सारांश यह है कि चीन-जापान-विवाद का निर्णय करने में कौंसिल की असफलता का एक-मात्र कारण केवल यह नहीं है कि कौंसिल ने अपने उत्तरदायित्व का पालन करने में अनिच्छा दिखलाई ; प्रत्युत् विधान में भी कुछ दोष है, जिसके कारण यह निश्चय करना कठिन था कि वास्तव में जापान ने युद्ध आरम्भ किया।

कोई भी निष्पक्ष विद्वान् इस प्रकार की तर्क के औचित्य को स्वीकार नहीं कर सकता। ऐसे अनेकों प्रमाण मौजूद हैं, जिनसे यह सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि कौंसिल को यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो गया था कि जापान चीन पर सैनिक आक्रमण कर रहा है। क्या इसका नाम Resort to war नहीं है ! जाँच-कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में भी यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि—

'The Japanese had a carefully-prepared plan to meet the occasion of possible hostilities between themselves & Chinese

The Chinese, in accordance with their instructions, had no plan of attacking the Japanese troops or of endangering the lives & property of Japanese nationals at this particular time or place. **They made no concerted or authorized attack on Japanese forces, and were surprised by the Japanese attack & subsequent operations.'**

राष्ट्र-संघ के स्थायी सदस्यों की कूट-नीति और अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा की नीति ही राष्ट्र-संघ की इस कलंकपूर्ण असफलता का मूल कारण

है। राष्ट्र-संघ के विधान पर इस शक्तिहीनता और विफलता का दोष मढ़ना न्यायपूर्ण नहीं माना जा सकता। विधान के विधाता तो संसार के सबल राष्ट्र (Great Powers) ही हैं। यदि इन राष्ट्रों में विश्व-शान्ति के लिए स्वेच्छा और कामना होती, तो अकेले जापान का यह साहस नहीं था कि वह समस्त राष्ट्रों के विरोध के सामने ठहर सकता।

महान् राज्य राष्ट्र-संघ के सिद्धान्तों के उग्र समर्थक हैं। कब? जब कि कोई शक्तिहीन दुर्बल राष्ट्र ऐसा अपराधी हो। 'यदि टोकियो (जापान) से राष्ट्र-संघ के समस्त सदस्य राष्ट्र अपने-अपने राजदूतों और सचिवों को वापस बुला लेते, तो जापानी सरकार तुरन्त ही अपने सैनिक शासन का दमन कर देती। यदि जापानी सैनिकवादियों को यह मालूम हो जाता कि युद्ध के लिए उनको विदेशों से अस्त्र-शस्त्र और पेट्रोल आदि न मिलेंगे, तो वे कदापि रण-भूमि में पदापर्ण न करते। अगर जापान का माल विदेशों में न लिया जाता, तो जापान का 'येन' सिक्का इतनी जल्दी गिर जाता और यहाँ तक गिर जाता कि आर्थिक कारणों से जापान को शीघ्र ही युद्ध बन्द कर देना पड़ता। इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं कि यदि ग्रेटब्रिटेन ने इन साधनों में से किसी को प्रयोग में लाया होता, तो संसार उसका अनुसरण करता।' *

यथार्थ में विचार किया जाय तो अमेरिका ने जापान-चीन-विवाद को शान्त करने में कुछ भी सहायता नहीं की; प्रत्युत् अप्रत्यक्ष रूप से महान् राष्ट्रों की कूटनीति को उत्तेजना दी है। राजनीति पर अधिकारी विद्वान् लेखक जी० डी० एच० कोल लिखते हैं—

---

* The Intelligent Man's way to Prevent war, Edited By Leonard Woolf.

Article *Inter-Continental Peace p. 218.*

'The attempt of the League, tardy & hesitant, as it was, to interfere in Manchurian dispute of 1932-33 only served to drive Japan into open revolt against the public opinion of Europe as expressed in the League declarations, to the extent of actually severing her membership. It is indeed, more than probable that if the European powers had acted more promptly and decisively than they did in the case of Manchuria so as to make their joint influence and determination felt before Japan had taken the step of recognising the so called independent State of ManchuKuo, their action might have been far more effective, for Japan was at that time far more open to influence than she is to-day, now that the weakness of League action has been plainly shown '*

इस अवतरण का सारांश यह है कि राष्ट्र-संघ ने जिस ढंग से मंचूरिया के विवाद में हस्तक्षेप किया, उससे जापान को यूरोप के लोकमत के विरुद्ध प्रकट विद्रोह करने का प्रोत्साहन मिला। यहाँ तक कि उसने संघ से अपना संबन्ध त्याग कर दिया। यह यथार्थ में अधिक संभव है कि यूरोप के राष्ट्रों ने तत्परता और निश्चय-पूर्वक अपनी शक्ति विवाद को तय करने में लगाई होती, तो उसका जापान पर बड़ा प्रभाव पड़ता।

सत्य तो यह है कि पाश्चात्य राष्ट्र सम्मिलित होकर चीन के पक्ष में जापानी-आक्रमण के विरुद्ध कोई कार्य करना नहीं चाहते थे। यद्यपि जापान के कृत्य ने उन सिद्धान्तों का संहार कर दिया, जो संघ के विधान

---

* Review of Europe To-day By G. D. H. Cole (1933) *pp. 754*

में प्रतिपादित हैं। आधे से अधिक यूरोप के राजनीतिज्ञों ने जापान से सहानुभूति प्रकट की। दूसरी ओर जो राजनीतिज्ञ राष्ट्र-संघ के विचारों के समर्थक थे, वे जापान के विरुद्ध कोई कार्य करके अपने राष्ट्र को संकट में डालना नहीं चाहते थे; क्योंकि उन्हें यह विश्वास नहीं था कि उनके अन्य साथी इस कार्य में उनका साथ देंगे।

चीन-जापान-युद्ध के सम्बन्ध में राष्ट्र-संघ ने जिस नीति का अवलम्बन कर शान्ति-रक्षा का प्रयत्न किया, उससे उसके गौरव का सर्वनाश हो गया। राष्ट्रों का अब संघ पर विश्वास नहीं रहा है; क्योंकि राष्ट्र-संघ एक विश्व-संस्था होते हुए भी यूरोप की कूटनीतिपूर्ण राजनीति का शिकार है। वह प्रत्येक कार्य संसार के हित की दृष्टि से नहीं करता; प्रत्युत् सबसे पूर्व उसे यूरोप के हित का ध्यान रहता है। जी० डी० एच्० कोल की सम्मति में 'राष्ट्र-संघ यथार्थ में अधिकतर पश्चिमी यूरोप के बड़े राष्ट्रों की एक संस्था है, जिसमें दक्षिणी, पूर्वी और केन्द्रीय यूरोप के छोटे राष्ट्र भी एक ऐसे आधार पर प्रविष्ट कर लिये गये हैं, जिसमें समानता और विषमता का विचित्र मिलन हुआ है।'

राष्ट्र-संघ में बड़े राष्ट्रों का आतंक उसके जीवन के लिए घातक और उत्कर्ष के लिए बाधक सिद्ध हो रहा है। भारत के विख्यात बम्बई के दैनिक अँगरेजी-पत्र The times of India के विद्वान् सम्पादक ने राष्ट्र-संघ की महान् शक्तियों (Great Powers) पर एक विचारपूर्ण सम्पादकीय अग्रलेख लिखा है। आप लिखते हैं—

'The League of Nations is fast becoming a European conclave, tragically out of touch with affairs in the rest of the world. The policies of United States, Russia and Japan will have an influence on future his-

tory equal, if not superior to that of most members of the League.' *

राष्ट्र-संघ अब बहुत ही शीघ्रता से यूरोप की गुप्त-समर का रूप धारण करता जा रहा है। वह संसार के मामलों से कुछ अलग-सा होता जाता है। संयुक्त-राज्य, रूस, जापान की नीतियों का भावी इतिहास पर राष्ट्र-संघ के बहुतेरे सदस्यों के प्रभाव से श्रेष्ठ नहीं तो समान प्रभाव जरूर पड़ेगा। अब शीघ्र ही यूरोप के राष्ट्रों को अपनी संकुचित राष्ट्रीयता को त्यागकर सच्चे अर्थों में विश्व-शान्ति-स्थापन के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

---

* The Times of India, 24 November 1934.

सातवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय

One of the greatest Contributions of the League to international life and probably its most note-worthy success over the old methods came in the creation of the Permanent court of International Justice.

—*Arthur Sweetser*

विकास—शताब्दियों से संसार के राष्ट्र एक विश्व-न्यायालय की स्थापना का स्वप्न देखते आये हैं। राष्ट्रों के परस्पर विवादों का निर्णय करने के लिए विश्व-न्यायालय उतना ही आवश्यक और उपयोगी है, जितना किसी राष्ट्र के नागरिकों के विवादों को तय करने के लिए राष्ट्रीय न्यायालय।

सर्वप्रथम सन् १८९९ में हेग-परिषद् में स्वराष्ट्र-सचिव हेग के इस

संबन्ध में अपनी योजना रखी। योजना बड़ी उत्तम थी; परन्तु वह साधारण विधान के रूप में बदल दी गई, जिसके अनुसार १३० न्यायाधीशों के मंडल से, राष्ट्रों की इच्छानुसार, पंचायत (Arbitration Tribunal) की नियुक्ति हो सकती थी।

सन् १६०७ में स्वराष्ट्र-सचिव रूट ने द्वितीय हेग-परिषद् के अमेरिकन प्रतिनिधि-मंडल को यह आदेश दिया कि इस योजना में परिवर्तन किया जाय। पंचायत को स्थायी बना दिया जाय, जिसमें न्याय और कानून के आचार्यों को स्थान मिलना चाहिए। वे और कोई व्यवसाय में अपने समय को न लगावें; पर यह प्रयत्न विफल रहा। इस योजना में वाधक चुनाव की पहेली थी। ६० राष्ट्रों में से १२ न्यायाधीश किस प्रणाली से चुने जायँ, यह एक विकट समस्या थी। शक्तिशाली बड़े राज्य स्थायी प्रतिनिधित्व चाहते थे, जिसको छोटे राज्य पसन्द नहीं करते थे।

जब राष्ट्र-संघ की स्थापना की गई, तब विश्व-न्यायालय की स्थापना के लिए भी प्रयत्न किया गया। राष्ट्र-संघ के विधान-धारा १४ में स्थायी न्यायालय का इस प्रकार उल्लेख है—

'अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय की स्थापना के निमित्त राष्ट्र-संघ की कौंसिल योजनाएँ तैयार करेगी और उन्हें राष्ट्र-संघ के सदस्यों को स्वीकृति के लिए सौंप देगी। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का जिन्हें विग्रही न्यायालय को सौंप देंगे, निर्णय करने का अधिकार न्यायालय को होगा। न्यायालय कौंसिल या असेम्बली-द्वारा सौंपे हुए किसी विवाद या प्रश्न पर परामर्श-युक्त सम्मति देगा।'

कौंसिल ने अपने द्वितीय अधिवेशन में, जो फरवरी १६२० में लन्दन में हुआ था, एक कानून-विशेषज्ञों की समिति उपर्युक्त धारा पर विचारार्थ नियुक्त की।

विशेषज्ञों की परामर्श-समिति

समिति का अधिवेशन १६ जून १९२० ई० को हेग नगर में हुआ। वहाँ राष्ट्र-संघ की कौंसिल की ओर से M. Leon Bourgeriss ने समिति का स्वागत किया। समिति के महत्त्वपूर्ण कार्य पर भी प्रकाश डाला गया। वेरन डासकेम्प समिति के अध्यक्ष चुने गये। ६ सप्ताह तक निरन्तर कार्य करने के पश्चात् २४ जुलाई को समिति ने सर्व-सम्मति से मसविदे को स्वीकार किया। मसविदे में न्यायालय - संगठन, कार्य और न्याय-प्रणाली का प्रतिपादन किया गया। यह मसविदा और रिपोर्ट अगस्त १९२० में कौंसिल को सौंप दिये गये। कौंसिल ने अपने अक्टूबर १९२० के ब्रूसेल्स-अधिवेशन में मसविदे में संशोधन किये। इस प्रकार यह संशोधित मसविदा और रिपोर्ट असेम्बली की 'तृतीय समिति' को सौंप दिये गये। इस समिति ने एक उप-समिति नियुक्त की, जो पूरी तरह मसविदे, रिपोर्ट और संशोधन आदि की जाँच की। ८ दिसम्बर १९२० को उप-समिति ने अपना संशोधित मसविदा समिति को सौंप दिया। समिति ने इसे स्वीकार कर लिया। पुनः असेम्बली की स्वीकृति के लिए पेश हुआ। असेम्बली ने भी इसे सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया। इस प्रकार न्यायालय का विधान (Statute of court) तैयार हो गया। विधान की धारा १४ के अनेकार्थ किये जाने के कारण असेम्बली ने यह घोषणा कर दी कि केवल सम्मति (vote) से ही न्यायालय की स्थापना न हो सकेगी। प्रत्येक राज्य (State) को अपनी निजी स्वीकृति देनी चाहिए। जब राष्ट्र-संघ के सदस्य-राष्ट्र बहुमत से स्वीकृत कर लेंगे, तब न्यायालय की स्थापना की जायगी। जो राष्ट्र न्यायालय के विधान को स्वीकार करते हैं, उन्हें प्रतिज्ञा-पत्र (Protoca) पर हस्ताक्षर कर यह स्वीकार करना पड़ता है कि वे न्यायालय की अधीनता स्वीकार करते हैं।

राष्ट्रों में इस विषय में घोर मतभेद था कि न्यायालय की व्यवस्था अनिवार्यतः राष्ट्र-संघ के सदस्यों को मान्य होगी ; इसलिए उन राष्ट्रों को जो स्थायी न्यायालय की अधीनता को अनिवार्य रूप से स्वीकार करते थे, एक और प्रोटोकल पर हस्ताक्षर करने पड़े। यह प्रोटोकल Optional Clause के नाम से प्रसिद्ध है।

मई १६३० ई० में ४२ राज्यों ने प्रोटोकल को स्वीकार किया और २६ राज्यों ने अनिवार्य रूप से उसकी अधीनता स्वीकार करने-वाले (Optional Clause) को स्वीकार किया।

१४ सितम्बर १६३१ ई० को न्यायालय के सदस्यों का निर्वाचन कौंसिल और असेम्बली के सदस्यों ने किया। ६ न्यायाधीश और ४ उप-न्यायाधीश चुने गये।

न्यायालय का भवन—परामर्श-समिति ने सर्वसम्मति से हेग नगर को अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय का केन्द्र स्वीकृत किया। कारनेगी ट्रस्ट की ओर से हेग में शान्ति-मन्दिर (Peace Palace) का निर्माण हुआ, जो बाद में न्यायालय को दान में दे दिया गया। इसी विश्व-विख्यात शान्ति-मन्दिर में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय है। ३० जनवरी १६२२ ई० को न्यायालय का प्रथम अधिवेशन इसी मन्दिर में सम्पन्न हुआ। इसी अधिवेशन में न्यायालय के नियमादि भी बनाये गये।

न्यायाधीशों का निर्वाचन—न्यायाधीश प्रति नौ वर्ष बाद चुने जाते हैं और नवीन निर्वाचन में भी वे पुनः चुने जा सकते हैं। निर्वाचन-प्रणाली राजनीतिक वातावरण से मुक्त है। प्रत्येक देश के क़ानूनाचार्यों को न्यायालय का न्यायाधीश बनने की सुविधा प्राप्त है। राष्ट्रों के सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाशाली क़ानूनाचार्यों की एक सूची तैयार कर कौंसिल और असेम्बली के सामने पेश की जाती है। और दोनों संस्थाएँ मिलकर उस सूची में से न्यायाधीशों का चुनाव करती हैं।

निर्वाचन में बहुमत का नियम प्रयोग में लाया जाता है। न्यायालय अपना अध्यक्ष और उपाध्यक्ष तीन वर्ष के लिए चुनता है। रजिस्ट्रार और डिप्टी रजिस्ट्रार की नियुक्ति भी न्यायालय-द्वारा ही होती है। अध्यक्ष और रजिस्ट्रार हेग में ही निवास करते हैं।

श्रमिकों के प्रश्नों पर विचार करते समय न्यायाधीशों की सहायता के लिए चार असेसर चुने जाते हैं, जिन्हें सम्मति देने का अधिकार नहीं होता। गमनागमन के सम्बन्ध में जो विवाद न्यायालय के सामने निर्णय के लिए पेश किये जाते हैं, उनके विषय में भी यह नियम लागू होता है।

स्थायित्व—इस न्यायालय की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह न्याय के लिए सर्वदा तत्पर रहता है। हेग का प्राचीन पंचायती-न्यायालय किसी विवाद के उपस्थित होने पर ही नियुक्त किया जाता था। विवाद का निर्णय हो जाने पर न्यायालय की सत्ता मिट जाती है; इसीलिए इस न्यायालय के लिए स्थायी विशेषण का प्रयोग किया गया है। इस न्यायालय के न्यायाधीश जगत्-विख्यात, अन्तर्राष्ट्रीय-क़ानूनाचार्य ही नियुक्त किये जाते हैं। इस न्यायालय का वार्षिक अधिवेशन प्रतिवर्ष १५ जून को होता है।

न्यायाधीशों की संख्या एवं संगठन में कभी परिवर्तन नहीं होता। न्यायालय की कार्य-प्रणाली में भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। न्यायालय के निर्णय केवल विवाद से सम्बन्ध रखनेवाले पक्षों पर ही लागू होते हैं। न्यायालय अपने पूर्व निर्णयों का खण्डन भी नहीं करता। न्यायालय में कोई एक पक्ष भी अपना निर्णय कराने की प्रार्थना कर सकता है, अर्थात् न्यायालय विवादों का निर्णय या तो एक पक्ष की प्रार्थना पर करता है, अथवा दोनों पक्षों की सम्मति से।

राष्ट्र-संघ में न्यायालय का स्थान—यहाँ हम संक्षेप में

न्यायालय का राष्ट्र-संघ में स्थान क्या है—इस पर विचार कर लेना चाहते हैं। न्यायालय-विधान (Court's Statute) राष्ट्र-संघ द्वारा स्वीकृत हुआ था ; परन्तु है वह एक स्वतन्त्र समझौता ; इसलिए राष्ट्र-संघ और न्यायालय का सम्पर्क मुख्यतः प्रबन्ध-सम्बन्धी ही है ; परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए, कि इस स्थायी न्यायालय की उत्पत्ति और विकास का पूरा श्रेय राष्ट्र-संघ को ही प्राप्त है। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, न्यायालय के कार्य दो प्रकार के हैं—उपस्थित विवाद का निर्णय करना और राष्ट्र-संघ-द्वारा सौंपे हुए विषय पर परामर्श देना। इन दोनों कार्यों का सम्पादन कर न्यायालय के अन्तर्राष्ट्रीय विधान को क़ानून के रूप में बदलने का प्रशंसनीय काम किया है। न्यायालय के निर्णय अन्तिम होते हैं। इनकी अपील नहीं होती।

आठवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ का विकास—अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ की भावना का प्रादुर्भाव वर्सेलीज की सन्धि से नहीं होता और न यूरोपीय महासमर के उपरान्त विश्व-आर्थिक संकट ने ही इसे जन्म दिया है। इस शताब्दी के प्रारम्भ में पेरिस में International Association for Workers Legal Protection नामक संस्था का जन्म हुआ।

परन्तु यूरोपीय महायुद्ध ने इस संगठन को अस्त-व्यस्त कर दिया। एक ओर महासमर के संकटों से पीड़ित संसार स्थायी शांति का आवाहन कर रहा था। राजनीतिक-क्षेत्र में शांति किस प्रकार स्थापित हो सकती है—यह महासमर के बाद संसार के राजनीतिज्ञों के सामने सबसे बड़ी पहेली थी। अनेकों परिषदों, सम्मेलनों और समितियों में विचार-

जिनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय श्रमशिल्पी बैठक के भारतवर्षीय प्रतिनिधिवर्ग
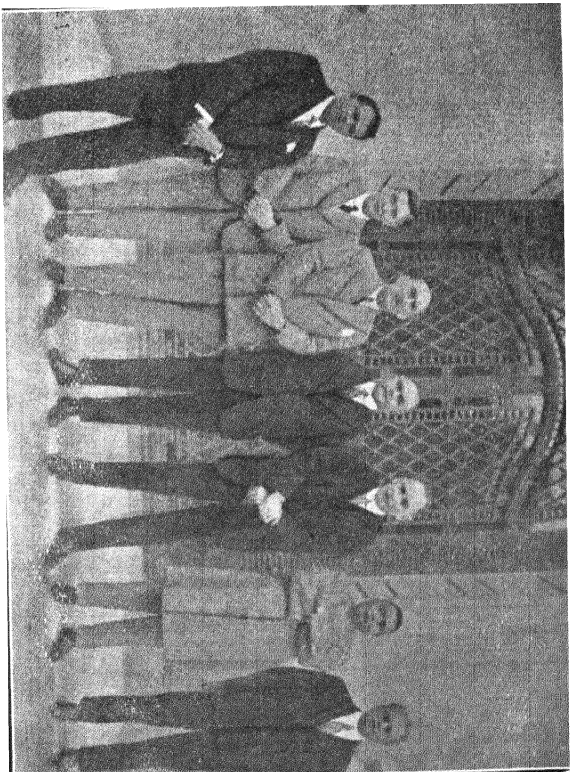
सर आर्थर फ्रूम, सर अतुल चटर्जी, सर लुइकारश, लाला लाजपतराय
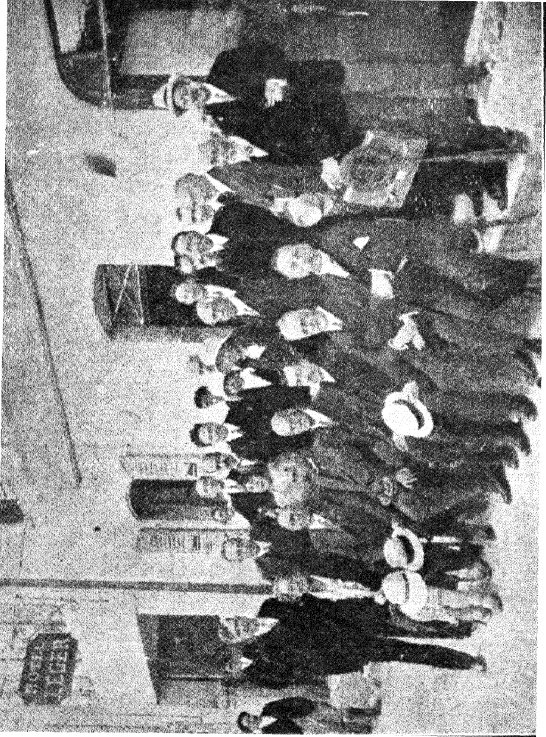
कृषि-सहकारिता-समिति

विनिमय के बाद इस समस्या का समाधान राष्ट्र-संघ (League of Nations) के रूप में किया गया।

विचारकों को यह समाधान सर्वश्रेष्ठ प्रतीत हुआ है; पर इससे सामाजिक-क्षेत्र के अन्याय कैसे दूर हो सकते थे! विश्व में अशान्ति और युद्ध का मूल कारण राष्ट्रों की उपनिवेश-विजय की लालसा और लिप्सा है, जिसे आज साम्राज्यवाद के नाम से पुकारते हैं। और संक्षेप में साम्राज्यवाद की उत्पत्ति पूँजीवाद से हुई है; इसलिए सामाजिक न्याय की समस्या को हल करना भी आवश्यक था। सन् १९१९ ई० में रूस में बोलशिविज़्म का आन्दोलन बड़ी उग्रता से चल रहा था। राजनीतिज्ञों को यह भय था कि कहीं संसार के मजदूर रूस का अनुसरण न करने लग जायँ। यदि इस बार मज़दूर बिगड़ गये, तो पूँजीवाद का भवन गिर जायगा और साम्राज्यवाद का संहार होने में कोई कसर न रहेगी। वर्सेलीज़ की सन्धि के निर्माता जिस समय श्रमिक-संघ की योजना का विचार कर रहे थे, उस समय उनके सामने यह भय इसी रूप में उनके मस्तिष्क में विद्यमान था। *

संघ की स्थापना का उद्देश्य शायद यह है कि मजदूर मास्को की ओर आकर्षित न हों। उन्हें कुछ थोड़े से सुधार दे दिये जायँ, जिससे वे संतुष्ट रहें और सामाजिक क्रान्ति का सुयोग उन्हें न मिले।

सन् १९१९ ई० में वर्न नगर में International Trade

---

* The object of the organization is perhaps to secure such a number of reforms that the danger of Social revolution will be avoided.

International Labour organization By Francis G. Wilson.

(International Conciliation November 1932 pp.405)

Union Conference अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य-संघ-परिषद् हुई, जिसमें यह निश्चय किया गया कि धनिकों और श्रमिकों में सहयोग की स्थापना के लिए प्रयत्न किया जाय।

सन् १९१९ ई० की २५ जनवरी को जो शान्ति-परिषद् पेरिस में हुई, उसमें श्रमिकों की स्थिति-सुधार के साधन खोजने के लिए एक जाँच-कमीशन नियुक्त किया गया। उस कमीशन को यह आदेश किया गया कि वह विविध राष्ट्रों के श्रमिकों की दशा का निरीक्षण एवं जाँच करे और उनकी दशा में सुधार करने के लिए ऐसे साधन बतलावे, जो सब देशों में प्रयोग में लाये जा सकें। और वह एक ऐसी स्थायी संस्था की स्थापना के लिए सिफारिश करे, जो इसी प्रकार की जाँच निरन्तर करती रहे। यह समस्त कार्य राष्ट्र-संघ के सहयोग से उसकी अध्यक्षता में होना चाहिए। इस कमीशन में निम्न-लिखित देशों के पन्द्रह प्रतिनिधि थे। संयुक्तराज्य, ब्रिटिश-साम्राज्य, फ्रान्स, इटली, जापान, बेलजियम, क्यूबा, पोलेण्ड और जेकोस्लाविया।

श्रमिक-संघ के उद्देश्य—वर्सेलीज के सन्धि-पत्र (Treaty of Versailles) के भाग १३ में श्रमिक-संघ का विधान है। इसकी भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि उससे संघ के उद्देश्यों पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है।

'क्योंकि राष्ट्र-संघ का उद्देश्य है—विश्व में शान्ति की स्थापना और शान्ति उसी समय स्थापित हो सकती है, जब वह सामाजिक न्याय पर आश्रित हो; क्योंकि श्रमिकों की वर्तमान स्थिति ऐसी अन्याय-मूलक, कष्ट-पूर्ण और विकट है कि बहुतेरे श्रमिकों के लिए मुहताजी हो रही है; जिससे संसार में अशान्ति इतनी बढ़ गई है कि विश्व की शान्ति और सामंजस्य संकट में हैं। इस परिस्थिति में शीघ्र सुधार होना आवश्यक है। यथा श्रमिकों के दैनिक कार्य के घंटे कितने हों, कितने

घंटों का दिन माना जाय, कितने दिनों का एक सप्ताह माना जाय, श्रमिकों की भर्ती का नियन्त्रण, बेकारी को रोकना, उचित वेतन नियत करना, जब श्रमिक कार्य करते समय आहत हों, रोगी हों, व्यथित हों, तो उस समय उनकी रक्षा करना, बालकों, युवकों और स्त्रियों का संरक्षण करना। वृद्धावस्था और अंगहीन होने पर उनकी जीविका का प्रबन्ध, विदेशों में काम पर गये हुए श्रमिकों के हितों का संरक्षण, परस्पर सहयोग से संगठित कार्य करने की सुविधा, व्यावसायिक तथा विशिष्ट कौशल की शिक्षा की व्यवस्था तथा अन्य सुविधाएँ देना आवश्यक है; क्योंकि यदि कोई राष्ट्र श्रमिकों के मानवोचित सुधारों को अपनाने में असफल रहे, तो यह उन राष्ट्रों के पथ में बड़ा बाधक होगा। जो अपने-अपने देशों में श्रमिकों की स्थिति में सुधार करना चाहते हैं।

इसलिए महान् शक्तिशाली राज्य न्याय, मानवता, तथा विश्व में स्थायी शान्ति-स्थापन की भावना से प्रेरित होकर निम्न-लिखित (अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ) की योजना को स्वीकार करते हैं।

इस भूमिका से यह स्पष्ट व्यक्त होता है कि श्रमिक-संघ का उद्देश्य विश्व में सामाजिक न्याय की स्थापना करना है। सामाजिक न्याय के बिना विश्व-शान्ति की आशा स्वप्न ; है इसलिए भूमिका में यह उल्लेख किया गया है—'विश्व-शान्ति केवल उसी समय स्थापित हो सकती है, जब वह सामाजिक न्याय पर आश्रित हो।'

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ की कार्य-पद्धति पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम उसके सिद्धान्तों को भली प्रकार समझ लें ; क्योंकि किसी संस्था की कार्य-प्रणाली को समझने के लिए उसके सिद्धान्तों का पूर्व ज्ञान अनिवार्य है। यहाँ हम वर्सेलीज़ की सन्धि से उन सिद्धान्तों को उद्धृत करते हैं, जो अतीव महत्त्वपूर्ण हैं।

श्रमिक-संघ के सिद्धान्त

१—सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि मजदूरी को बाजार में क्रय-विक्रय की वस्तु न माना जाय।

२—श्रमिकों और पूँजीपतियों को वैध उद्देश्यों के लिए संगठित संस्थाओं-द्वारा कार्य करने का अधिकार है।

३—श्रमिकों के पारिश्रमिक की दर इतनी पर्याप्त निश्चित की जाय, जो उनके देश-काल के अनुकूल और उचित हों।

४—जिन देशों में श्रमिकों के लिए ८ घण्टे का दिन और ४८ घण्टों का सप्ताह नहीं माना जाता, उन देशों में ऐसा माने जाने का प्रयत्न किया जाय।

५—प्रतिसप्ताह में श्रमिकों को एक दिन का अवकाश दिया जाय और जिस देश में संभव हो, वहाँ वह दिन रविवार नियत कर दिया जाय।

६—बालकों से परिश्रम के कार्य लेना सर्वथा बन्द कर दिया जाय, जिससे उनकी शिक्षा-प्राप्ति और शारीरिक विकास में बाधा न पड़े।

७—पुरुषों और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान पारिश्रमिक दिया जाय।

८—जिन देशों में क़ानून-द्वारा श्रमिकों के कार्य का जो ढंग निश्चय किया गया हो, वह आर्थिक दृष्टि से न्याय-संगत होना चाहिए।

९—प्रत्येक राष्ट्र अपने यहाँ ऐसा प्रबंध कर दे कि उपर्युक्त सिद्धान्तों का ठीक प्रकार से प्रयोग किया जाता है या नहीं—उसकी जाँच हुआ करे और उसमें स्त्रियाँ भी भाग लिया करें।

राष्ट्रों का यह मत नहीं है कि उपर्युक्त सिद्धान्त और प्रणाली

पूर्ण और अन्तिम है ; परन्तु उनकी सम्मति में वे राष्ट्र-संघ की नीति का संचालन करने के लिए सर्वथा अनुकूल हैं। यदि वे उन औद्योगिक देशों-द्वारा स्वीकार कर लिये गये, जो राष्ट्र-संघ के सदस्य हैं और उनको क्रियात्मक रूप में लाने के लिए उचित संरक्षण स्थिर किये गये, तो विश्व के श्रमिकों के लिए स्थायी रूप से उपकारी सिद्ध होंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ की रचना

सामान्यतया राष्ट्र-संघ के समस्त सदस्य-राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ के सदस्य होते हैं। राष्ट्र-संघ की सदस्यता स्वीकार करने पर राष्ट्र श्रमिक-संघ का स्वतः सदस्य बन जाता है ; परन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है, जिसके कारण राष्ट्र-संघ के सदस्य राष्ट्रों के अतिरिक्त दूसरे राष्ट्रों को उसमें प्रतिनिधित्व न दिया जा सके। यद्यपि प्रारम्भ में जर्मनी राष्ट्र-संघ का सदस्य नहीं था ; परन्तु वह शुरू से ही श्रमिक-संघ का सदस्य रहा है। जब ब्राज़ील ने राष्ट्र-संघ से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया, तब भी वह श्रमिक-संघ का सदस्य बना रहा। श्रमिक-संघ और राष्ट्र-संघ में अनेकों समताएँ हैं ; किन्तु उनकी विषमताएँ भी नगण्य नहीं हैं। राष्ट्र-संघ विशुद्ध रूप में राष्ट्रीय सरकारों की संस्था है ; परन्तु श्रमिक-संघ में केवल राष्ट्रों के शासन के प्रतिनिधि ही सम्मिलित नहीं हैं ; प्रत्युत् प्रत्येक देश के श्रमिकों और धनिकों की संस्थाओं के प्रतिनिधि भी सम्मिलित होते हैं। इनमें से दो सरकार के अपने प्रतिनिधि होते हैं और दो श्रमिकों और धनिकों की संस्थाओं की अनुमति से सरकार-द्वारा नियुक्त होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र के ४ प्रतिनिधि रहते हैं।

राष्ट्र-संघ में जो असेम्बली का स्थान है, वही स्थान अन्तर्राष्ट्रीय

श्रमिक-संघ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-परिषद् (Conference) का है। परिषद् का अधिवेशन प्रतिवर्ष जिनेवा में होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ में ५६ राष्ट्र सम्मिलित हैं। वे अपने चार-चार प्रतिनिधि भेजते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-परिषद् (I. L. Conference)

परिषद् का प्रमुख कार्य है, श्रमिकों के लिए नियम बनाना। परिषद् के सामने जो विचारणीय विषय अथवा कार्य-क्रम उपस्थित होते हैं, उन पर विचार-विनिमय के पश्चात् परिषद् प्रतिज्ञा (Convention) के द्वारा उनका निर्णय करती है। श्रमिक-परिषद् में सामान्यतया किसी निर्णय की स्वीकृति के लिए बहुमत का नियम ही व्यवहार में लाया जाता है ; परन्तु जब प्रतिज्ञा या सिफारिश का विषय उपस्थित किया जाता है, तब उसकी स्वीकृति के लिए दो-तिहाई सम्मति आवश्यक होती है।

परिषद् में राष्ट्र-सघ की भाँति केवल दो भाषाएँ—अंग्रेज़ी और फ्रेंच ही प्रयोग में आती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञा (International Convention)

ऐसा कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय-परिषद् एक व्यवस्थापिका है, जो श्रमिकों के लिए कानून (Laws) बनाती है ; परन्तु यथार्थ में श्रमिक-परिषद् को व्यवस्थापिका (Legislative) के अधिकार प्राप्त नहीं हैं ; क्योंकि जिस प्रकार राष्ट्र राजनीतिक विषयों में अपनी राष्ट्रीय प्रभुता और उसके अधिकारों की रक्षा का प्रयत्न करते हैं और इस प्रयत्न में उन्मत्त होकर राष्ट्र-संघ के आदेशों की उपेक्षा करते हैं, उसी प्रकार वे राष्ट्र श्रमिकों के विषय में भी अपने अधिकारों को किसी अन्तर्राष्ट्रीय-संस्था को सौंपने के लिए तैयार नहीं हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-परिषद् केवल प्रस्ताव स्वीकार कर सकती है, वह कानून नहीं बना सकती। वह सिफारिशें पास कर सकती है और विविध देशों से उनके पालन के लिए अनुरोध कर सकती है। वह कन्वेशन का ड्राफ्ट तैयार कर सकती है, जिसे सदस्यों की सरकारें अपने राष्ट्रीय व्यवस्थापिका-द्वारा नियत अवधि के भीतर क़ानून के रूप में पास कराने का भार लेती हैं।

परन्तु यदि किसी सरकार की व्यवस्थापिका Convention को स्वीकृत नहीं करती, वह उसे अस्वीकार कर सकती है। उस पर ऐसा कोई बन्धन नहीं है कि वह बाध्य होकर उसे स्वीकार कर ले।

यदि किसी सरकार के प्रतिनिधि ने श्रमिक-परिषद् में किसी प्रतिज्ञा के पक्ष में सम्मति दी है, तो भी उस सरकार की व्यवस्थापक-सभा चाहे तो अस्वीकार कर सकती है। इसमें उसे पूरी स्वतंत्रता है।

अन्तर्राष्ट्रीय-श्रमिक-कार्यालय (I. L. O)

हम श्रमिक-कार्यालय की तुलना राष्ट्र-संघ के स्थायी कार्यालय से कर सकते हैं। श्रमिक-कार्यालय जिनेवा में स्थायी रूप से स्थित है। यह कार्यालय एक ऐसे डायरेक्टर के नियंत्रण में कार्य-संचालन करता है, जो श्रमिक-संघ का प्रधान-मंत्री भी होता है। इस संघ के सर्वप्रथम डायरेक्टर फ्रांस के भूतपूर्व सचिव अलवर्ट टामस थे। खेद है कि आपका देहान्त हो गया। जो विषय परिषद् में स्वीकार किये जाते हैं, उनको कार्य-रूप में परिणत करना इस कार्यालय का मुख्य ध्येय है।

कार्यालय के कर्मचारियों की नियुक्ति डायरेक्टर-द्वारा होती है। कार्यालय ऐसे विषयों की जाँच और खोज करता है, जिन्हें कार्य-समिति (Governing Body) विचारार्थ परिषद् के कार्यक्रम की सूची में रख देती है। कार्यालय उन विषयों के विशेषज्ञों की रिपोर्ट तैयार

कर तदनुसार सिफारिशों और प्रतिज्ञाओं के मसविदे तैयार करता है।

श्रमिक-कार्यालय का यह भी कर्तव्य है कि वह संसार के समस्त देशों के श्रमिकों की परिस्थिति की जाँच करे और उनको लेखबद्ध कर प्रकाशित करे।

कार्यालय के निम्न-लिखित मुख्य कार्य हैं—

१—विविध सरकारों से पत्र-व्यवहार कर उन्हें परिषद् में सम्मिलित होने के लिए प्रेरणा करना। सिफारिशों और प्रतिज्ञाओं के मसविदे तैयार करना और बिना विलम्ब किये उनको विविध-सरकारों-द्वारा स्वीकृत करा लेना।

२—श्रमिकों और धनिकों की अन्तर्राष्ट्रीय या राष्ट्रीय सामाजिक समस्याओं का निरीक्षण करना।

कार्य-समिति (Governing Body)

श्रमिक-संघ की कार्य-समिति (Governing Body) एक सबसे प्रमुख संस्था है। इसकी तुलना राष्ट्र-संघ की कौंसिल से की जा सकती है। जिस प्रकार राष्ट्र-संघ की कौंसिल में, उसके मौलिक सिद्धान्तों के विपरीत, बड़े-बड़े राष्ट्रों को स्थायी सहायता प्रदान की गई है, उसी प्रकार श्रमिक-संघ की Governing Body में कुछ देशों को स्थायी सदस्य बनाया गया है। स्थायी सहायता प्रदान करते समय उन देशों के औद्योगिक महत्त्व पर विचार किया गया है; परन्तु कौंसिल में स्थायी-सहायता प्रदान करते समय केवल राजनीतिक-महत्त्व को आश्रय दिया गया है।

Governing Body में २४ सदस्य हैं* १२ सदस्य। श्रमिक-

* इस अध्याय के समाप्त कर देने के बाद हमें यह सूचना प्राप्त हुई है कि अन्तर्राष्ट्रीय-श्रमिक-संघ की कार्य-समिति के सदस्य २४ से बढ़ाकर ३२ कर दिये गये हैं।
—लेखक

संघ के श्रमिकों और धनिकों के वर्गों-द्वारा समान संख्या में चुने जाते हैं। शेष १२ सदस्य सरकारों के प्रतिनिधि होते हैं। इन पिछले १२ सदस्यों में से ८ स्थान अग्रगण्य औद्योगिक देशों के लिए सुरक्षित हैं। निम्न-लिखित ८ सदस्य स्थायी सदस्य हैं—

१—बेलज़ियम २—फ्रान्स ३—जर्मनी ४—ग्रेट-ब्रिटेन ५—इटली ६—जापान ७—कनाडा ८—भारतवर्ष।

कार्य-समिति अपने कार्मकाल (तीन वर्ष के लिए) एक प्रधान नियुक्त करती है। गवर्निंग बॉडी का अधिवेशन प्रतिमास होता है। यही संस्था श्रमिक-कार्यालय के डायरेक्टर की नियुक्ति करती है। डायरेक्टर अपनी रिपोर्ट कार्य-समिति के पास भेजता है। कार्य-समिति कार्यालय के वजट को स्वीकार करती है। श्रमिक-संघ के कार्यों में सहायक कमीशनों की नियुक्ति भी कार्य-समिति-द्वारा होती है।

इनके अतिरिक्त श्रमिक-कार्यालय में अनेकों विभाग हैं। कतिपय स्थायी व अस्थायी कमीशन व समितियाँ भी हैं, जिनके विवरण की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

हमने यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ की रूप-रेखा इस उद्देश्य से दी है कि हमारे पाठक राष्ट्र-संघ की विश्व-शांति के लिए प्रयत्नशील संस्था का परिचय प्राप्त कर लें।

———

द्वितीय भाग

विश्व-शान्ति

पहला अध्याय

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

१—राष्ट्र और राष्ट्रीयता क्या है ?

इस भाग में हम अन्तर्राष्ट्रीय-शान्ति पर विचार करना चाहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति क्या है ? क्या विश्व-शान्ति केवल-मात्र आदर्श है अथवा यथार्थ तथ्य है ? विश्व-शान्ति की प्राप्ति में कौन-कौन-सी बाधाएँ हैं ? बाधाओं का निराकरण कैसे किया जा सकता है ? विश्व-शान्ति के साधन क्या हैं ? क्या राष्ट्र-संघ अपने वर्तमान स्वरूप में, विश्व में शान्ति स्थापित करने योग्य है ? उसकी विफलता के मौलिक कारण क्या हैं ? इन सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करने का हम प्रयत्न करेंगे।

विश्व-शान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की समस्या पर विचार करने से पूर्व हमें राष्ट्र और राष्ट्रीयता के स्वरूप पर विचार कर लेना उचित

होगा। क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना में राष्ट्रीयता का सन्निवेश है। वर्तमान युग में राष्ट्र और राष्ट्रीयता, राजनीति के क्षेत्र में सबसे अधिक शक्तिप्रद तत्व हैं।

जब हम राष्ट्र (Nation) शब्द का सम्बोधन करते हैं, तो हमारे अन्दर अनेकों भावों का एक साथ उदय होता है। राजनीति-विशारदों ने राष्ट्र का तात्विक विवेचन किया है। संक्षेप में राष्ट्र न जाति (Race) ही है और न राज्य (State) ही। राष्ट्र, राज्य, और जाति इन तीनों में विशाल अन्तर है। हम इस स्थान पर इस अन्तर पर प्रकाश डालना उचित नहीं समझते। केवल राष्ट्र के स्वरूप को समझाना ही हमारा अभिप्राय है।

राष्ट्र उस जन-समूह का नाम है, जो अपने-आपको स्वाभाविक रूप से एक सूत्र में बँधा हुआ अनुभूत करता है। जिन शृंखलाओं में वह बँधा होता है, वे इतनी मजबूत होती हैं कि जिनके प्रभाव से वे परस्पर आनन्दपूर्वक अपना जीवन भोग सकते हैं। जब इन शृङ्खलाओं को तोड़ दिया जाता है, तो वह समस्त जन-समूह घोर असन्तोष का अनुभव करता है।

इस जन-समूह को एक सूत्र में बाँधनेवाले बन्धन कौनसे हैं। राष्ट्र का सबसे प्रमुख और आवश्यक तत्त्व है—जातीय एकता (Racial Unity)। यद्यपि जातीय विशुद्धता और एकता को राष्ट्र का आवश्यक अंग माना गया है; परन्तु विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि विश्व में जातीय-पवित्रता (Purity of Race) का दावा सर्वथा निर्मूल है। आज संसार की कोई जाति अपनी पवित्रता को सिद्ध नहीं कर सकती; क्योंकि रक्त की विशुद्धता का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। हाँ, हमारे पास ऐसे अनेकों प्रमाण हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि जातियों का मिश्रण प्राचीन समय से होता आया है।

इस सत्य को स्वीकार कर लेने पर भी राष्ट्र के अस्तित्व के लिए जातीय-एकता को किसी अंश में मानना पड़ेगा। यदि अन्तर्जातीय विवाह एवं अन्य साधनों-द्वारा विभिन्न जातियों ने अपने भेद-भाव को दूर कर सामंजस्य और एकता स्थापित कर ली, तो यह निश्चय है, कि उनमें राष्ट्रीय-जागृति का उदय हो जायगा।

राष्ट्र का दूसरा आवश्यक तत्त्व है एक सीमित भू-खंड (Territory)। आज इस तत्त्व ने विकसित होकर कैसा भयंकर रूप धारण कर लिया है। यह किसी से छिपा नहीं है। प्रत्येक राष्ट्र इतना स्वार्थी बन गया है, कि वह अपने देश के हित के लिए संसार के अन्य राष्ट्रों का रक्त-शोषण कर अपनी राज्य-विस्तार की लिप्सा के वशीभूत हो ताण्डव-नृत्य कर रहा है। मातृ-भूमि के प्रेम में मदमत्त बनकर देश-भक्ति के नाम पर संसार की अशक्त जातियों को कुचला जा रहा है। यहूदी संसार के किसी भू-खण्ड विशेष के स्वामी नहीं हैं, वे समस्त राष्ट्रों में बिखरे हुए हैं। उनमें राष्ट्र के सब तत्त्वों का समावेश है; पर आज वे किसी भूमि के स्वामी न होने के कारण राजनीतिक भाषा में राष्ट्र नहीं; इसीलिए वे सबसे अधिक समृद्धिशाली पूँजीपति होते हुए भी वन्य जातियों की भाँति संसार में गृह-हीन भ्रमणकारी हैं।

भाषा की एकता राष्ट्र-निर्माण में एक प्रबल साधन है। यह तत्त्व महत्त्वपूर्ण होने पर भी राष्ट्रीयता के लिए अनिवार्य नहीं है। भाषा ही एक अमोघ साधन है, जिसके द्वारा विभिन्न जातियों में एकता का उदय हो सकता है। राष्ट्र को संगठित करने में भाषा का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है; परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है, भाषा की एकता ही राष्ट्र को जन्म देती है अथवा भाषा-विविधता राष्ट्रीयता में बाधक है। अमेरिका-निवासी अँगरेजी-भाषा का प्रयोग करते हैं; पर अमेरिका

एक प्रथक् राष्ट्र है। स्वीटज़रलैण्ड एक राष्ट्र है तथापि वहाँ उसकी कोई एक भाषा नहीं है।

राष्ट्र-विभाग में धार्मिक-एकता भी एक तत्त्व है; पर यह आवश्यक नहीं है। समान आर्थिक हित और विदेशी शासन का नियंत्रण भी राष्ट्र-निर्माण में सहायक हैं। जब कोई जन-समुदाय विदेशी-शासन के अमानवीय और क्रूर अत्याचारों से उत्पीड़ित हो जाता है और अत्याचार के सहने की शक्ति का विनाश हो जाता है, तब उसमें प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप एक मत से विदेशी-शासन के विरुद्ध विद्रोह की भावना प्रबलता से प्रादुर्भूत हो जाती है। भारत में राष्ट्रीय-जागरण का जो दृश्य दिखलाई पड़ता है, उसका कारण भी भारत में ब्रिटिश शासन की दमन नीति है।

इन सब तत्त्वों में प्रमुख तत्त्व है—एक परम्परागत इतिहास। यह तत्त्व केवल महत्त्वपूर्ण ही नहीं, अनिवार्य भी है। इसके अभाव में राष्ट्र की कल्पना संभव नहीं। अतीत की विजय की स्मृतियाँ, सार्वजनिक संकट की अनुभूतियाँ अमर शहीदों और देशभक्तों की वीर-गाथाएँ जिस साहित्य में संग्रहीत होती हैं, उसके द्वारा समाज में आत्म-गौरव और आत्म-सम्मान के भाव पैदा होते हैं। ये ही राष्ट्र की मूल्यवान् सम्पत्ति हैं।

Heroic achievements, agonies heroically endured, these are the sublime food by which the spirit of nationhood is nourished, from these are born the sacred and imperishable traditions that make the soul of nations *

---

* Nationalism and Internationalism By prof. Ramsay Muir p. 43 (1919)

राष्ट्रीयता एक भावना है, जिसकी कुछ शब्दों में परिभाषा करना कठिन है। राष्ट्रीयता की भावना में कितना विकास और परिवर्तन हुआ है, यह जानना सहज है। राज्य (State) ने जातीयता को प्रश्रय देकर राष्ट्रीयता को कितना दूषित और उग्र बना दिया है! जर्मनी का वर्तमान नाज़ी-आन्दोलन उग्र और दूषित राष्ट्रीयता का मूर्तिमान उदाहरण है। आज वही देश राष्ट्र कहलाने का अधिकारी माना जाता है, जो अपने उग्र राष्ट्रीयता के मद में उन्मत्त होकर दूसरे देश को हथियाने के लिए संसार में अपना आतंक जमा सकता है। आज राष्ट्रीयता की भावना जातीयता में बदल गई है। यह विश्व-शान्ति के लिए बड़ा खतरा है ; इसलिए हम विशद रूप में वर्तमान् युग की राष्ट्रीयता पर भी विचार कर लेना चाहते हैं।

(२) वर्तमान संकुचित राष्ट्रीयता

The time is fast approaching when to call a man patriot will be the deepest insult you can offer him. Patriotism now means advocating plunder in the interest of the privileged classes of the particular State System into which we have happened to be born.

—Tolstoy.

आज अखिल विश्व में राष्ट्रीयता का भैरव नाद गूँज रहा है। राष्ट्रीयता ने संसार में ऐसा विकट संकट उपस्थित कर दिया है कि मानव अपने बन्धु के रक्त की पिपासा के लिए व्यग्र हो उठा है। देश-भक्ति के नाम पर दूसरों की स्वाधीनता का अपहरण राष्ट्रीयता माना जाता है। यदि आपको संकुचित उग्र देश-भक्ति के प्रत्यक्ष दर्शन करने हों, तो आप हिटलर, मुसोलिनी और जापान की साम्राज्यवादी मनोवृत्तियों का अध्ययन करें। जर्मनी सदैव जातीयता का कट्टर

पुजारी रहा है। वह अतीत समय से विश्व-साम्राज्य के स्वप्न देखता रहा है। जर्मन अपने को सर्वश्रेष्ठ जाति मानता है। वह अन्य राष्ट्रों को अपने सामने श्रेष्ठ और समृद्धिशाली देख नहीं सकता। यही कारण है कि वह अन्तर्राष्ट्रीयता से दूर रहा है। जर्मनी के प्रसिद्ध नेता Trietschke ने अपने 'पॉलीटिक' नामक निबन्ध में जिन राज-नीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, वे महा दूषित और पाशविक प्रवृत्ति के सूचक हैं।

'ट्रीटस्के के अनुसार राज्य का तत्त्व न्याय नहीं, शक्ति है। और उसकी शक्ति का विस्तार ही राज्य का सर्वश्रेष्ठ नैतिक कर्त्तव्य है। विश्व में राज्य ही सबसे महान् चीज़ है। यही उचितानुचित का जनक है। राज्य पर कोई नैतिक नियन्त्रण नहीं। इस भूमि पर कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो राज्य को बन्धन में डाल सके। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता कोई चीज़ नहीं है; क्योंकि शक्ति के बिना नैतिकता का कोई मूल्य नहीं। और राज्य के बाहर शक्ति कहाँ है? राज्यों में परस्पर निबटारे का साधन युद्ध है। युद्ध मानवता के लिए दैवी उपचार है, जिसके द्वारा सबल और योग्य राज्य दूसरे पर अपनी उच्चता और श्रेष्ठता की छाप लगा सकता है। राज्य का यह परम कर्त्तव्य है कि वह युद्ध के प्रत्येक अवसर का उपयोग करे। अपनी शक्ति का विस्तार करे।'*

टॉल्स्टाय ने लिखा है—'हमारी याद की बात है कि जर्मनी के शासकों ने अपनी प्रजा को संकुचित देश-भक्ति के मद से इतना मत्त कर दिया कि वहाँ अनिवार्य सैनिक भरती का क़ानून जनता की हर्ष-ध्वनि के साथ पास हो गया। पुत्रों, पिताओं,

* Nationalism & Internationalism By Ramsay Muir p. 227-228 (1919)

पतियों, विद्वानों और धर्मात्माओं को नर-संहार करने की विधिवत् शिक्षा दी जाने लगी। ये सब अपने अफसरों के आज्ञाकारी सेवक बन गये और उन्हें सदैव तैयार रहना पड़ा कि आज्ञा मिलते ही चाहे जो भी हो, उसे मार डालें। वक़ौल उद्धत विल्हेम द्वितीय के उन्हें पीड़ित और दलित देशों के अधिवासियों, अपने स्वत्वों के लिए लड़नेवाले स्वदेशी श्रमिकों इतना ही नहीं; बल्कि अपने माता-पिताओं को गोली से मार देने में किन्तु—यदि न करनी चाहिए।'

निस्संदेह इस प्रकार की सैनिकवादी राष्ट्रीयता से कुछ अंश में विजेता राष्ट्र अपने को 'उन्नत' और शक्तिशाली बना सकता है; पर इससे संसार में अराजकता को पूर्ण विकास का अवसर मिलता है। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में इस अराजकता पूर्ण स्वार्थान्धी राष्ट्रीयता की बड़ी शक्तिशाली लहर आई, जिसने एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों को जलमग्न कर दिया। यथार्थ में यह यूरोपीय राष्ट्रीयता इन प्रायद्वीपों के लिए प्रलयंकर सिद्ध हुई। विश्व-विख्यात् दार्शनिक Bertraud Russel ने यूरोप की इस वर्वरता का कैसा उपयुक्त चित्र खींचा है—

'पाश्चात्य देशों में सब स्कूलों में यही बतलाया जाता है कि उनका मुख्य धर्म उस राष्ट्र के प्रति क्या है, जिसके वे नागरिक हैं और यह राष्ट्र-धर्म राष्ट्र के नियमों के पालन करने में है। छात्र कभी इस विषय में शंका न कर बैटें; इसलिए उन्हें झूठा इतिहास, असत्य राजनीति और भ्रमपूर्ण अर्थशास्त्र पढ़ाया जाता है। उन्हें दूसरे राष्ट्रों के दोष बतलाये जाते हैं; पर उनका अपना राष्ट्र जितना अन्याय—अत्याचार करे, उसकी उन्हें लेश-मात्र सूचना नहीं दी जाती। उन्हें बहकाया जाता है कि 'स्वदेश' जिन-जिन युद्धों में भाग लेता है, वे आत्म-रक्षा के लिए लड़े जाते हैं और अन्य-राष्ट्रों के विषय में कहा जाता है कि वे अकारण आक्रमण करते हैं। जब उनका देश दूसरे देशों को जीत कर अपने में मिलाता

है, तो उन्हें बतलाया जाता है कि वहाँ हम अपनी उच्च संस्कृति का प्रचार करना चाहते हैं ; अथवा ईसाई-मत का प्रचार करना हमारा धर्म है। हम वहाँ शराबखोरी बन्द करना चाहते हैं, इत्यादि। स्कूलों के बालकों को सिखलाया जाता है कि अन्य देश धर्म और नीति का निरादर करते हैं। सत्य बात यह है कि एक शक्तिशाली राष्ट्र दूसरे दुर्बल राष्ट्र पर अपनी सेना के बल पर अधिक-से-अधिक अत्याचार करता है।'

यदि ऐसी दुर्नीति के कारण संसार में विश्वव्यापी अराजकता का उदय हो, तो आश्चर्य ही क्या है ? अन्तर्राष्ट्रीय-जगत् में यह अराजकता किसी राष्ट्र की अराजकता से कम भयंकर और विनाशकारी नहीं है। जिस प्रकार किसी राष्ट्र में अराजकता, विप्लव, या हिंसात्मक क्रान्ति के कारण नागरिकों का जीवन संकट में पड़ जाता है, उसी प्रकार इस नीति के फल-स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय-क्षेत्र में ऐसी उथल-पुथल मच जाती है कि कोई भी राष्ट्र सुख-समृद्धि से नहीं रह सकता ; पर अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि जब किसी राष्ट्र की कोई शान्ति-प्रिय लोक-हित-कारी विभूति राष्ट्रीयता के पापों का भंडाफोड़ करती है, तो उसे राज-द्रोही कहकर कारागार में बन्दी बना दिया जाता है ! विगत यूरोपीय महायुद्ध को रोकने में जिन-जिन मानवोपकारी महापुरुषों ने अपनी शक्ति लगाई, उन्हें राष्ट्रीयता के दीवाने पुजारियों के सैनिकवाद का शिकार बनना पड़ा।

वर्तमान समय में यूरोप में हिटलर ने जर्मनी पर जैसा आतंक डाल रखा है, वह तो भयावह होने के साथ ही यूरोप की सभ्यता के लिए घातक है। एक विद्वान् लेखक ने हाल में जर्मनी में यात्रा की। हिटलर राज्य में अपनी आँखों से जो दशा देखी, उसका योग्य लेखक ने अपने एक लेख में वर्णन किया है—

'जब कभी मैं हिटलर-वादी जर्मनों से मिलता था ; मुझे वे छोटे दिल के, तर्क रहित, बुद्धि-विहीन, बात-बात में हिचकनेवाले प्रतीत होते थे। ये ऐसे लोग हैं, जो देश के किसी दूसरे दल से सहयोग नहीं चाहते। इनके अन्दर बीसवीं शताब्दी के विज्ञान व विद्या के युग में जर्मन व नार्डिक लोगों का झूठा अभिमान, यहूदियों व विदेशियों—खासकर 'रंगीन अनार्यों' के प्रति कट्टर नफ़रत है। ये इतिहास के अनुभवों से सबक़ सीखने को तैयार नहीं। इसके अतिरिक्त जर्मनों में यह बड़ा दुर्गुण है कि वे चुपचाप हमारे राजाओं की प्रजा की तरह सब अन्यायों व संकटों को धैर्य-पूर्वक बिना किसी विरोध के बर्दाश्त करते रहते हैं। नात्सियों (Nazy) में अर्थ-विहीन उत्साह, और पाशविकता का विचित्र सम्मिलन हुआ है।'

'......जर्मन जानते हैं कि आक्रमण एवं युद्ध का रक्त उनकी नसों में प्रवाहित हो रहा है। निरंकुश ताक़त के ऐसे पुजारी जर्मनी में सदा रहते आये हैं।......हिटलर ने केवल भोजन और रोजगार का ही वादा नहीं किया है ; बल्कि बड़ी चालाकी के साथ उसने अपने आन्दोलन को सैनिकपन का स्वांग भी दे दिया है। जर्मनी की हर गली में किसी भी पंसारी की दूकान पर आप नाज़ी झंडे खिलौनों की नाज़ी सेना, पिस्तौल हैण्डल पर स्वस्तिका 卐 चिह्न के साथ ऐसे-ऐसे युद्ध-कारी पोस्ट-कार्ड, जिनपर—'जर्मन राजतंत्र की ओर' 'ईश्वर सबसे बलवान् फौज के साथ है', 'सजीव मोरचा' आदि शब्द लिखे रहते हैं। वर्दीधारी, भौंह चढ़ाये हुए, हथियारों, झण्डों व ढालों से लैस सैनिकों की तस्वीरों के नीचे छपे हुए पायँगे।' *

---

* 'महायुद्ध के बाद जर्मन जाति और उस पर हिटलर का प्रभाव' लेखक, श्री बालकृष्ण गुप्त 'विश्वमित्र' मासिक (कलकत्ता) फरवरी १९३४ ई०।

इस वर्णन से आप यह सहज अनुमान कर सकते हैं कि जर्मनी का अधिनायक राष्ट्रपति हिटलर राष्ट्रीयता के नाम पर जर्मन-राष्ट्र की देश-भक्ति को जाग्रत कर किस तत्परता, एकाग्रता और आतंक के साथ सैनिकवाद का प्रचार कर रहा है। जर्मनी के सैनिकवाद को उसकी जातीयता से बड़ा प्रोत्साहन मिल रहा है। हिटलर-राज में इस समय जातीयता के आधार पर जर्मन जाति को उत्तेजित कर उसे विदेशियों के प्रति घृणा की शिक्षा दी जा रही है। जर्मनी में रंगीन जातियों के प्रति विद्रोह की अग्नि भड़कती जा रही है। जर्मनी के न्याय-सचिव हर-केर्ले ने 'नाज़ी दण्ड विधान' (Nazy Penal Code) तैयार कर प्रकाशित कराया है। समस्त दण्ड - विधान का तात्पर्य, संक्षेप में, यह है कि जर्मन जाति की उन्नति का मूलमंत्र है अपने जातीय रक्त की विशुद्धता है। इसी दण्ड-विधान की भूमिका में लिखा है—

'इतिहास बतलाता है कि भिन्न-भिन्न जातियों का सम्मिश्रण देश को अवनति की ओर ले जाता है।......पशु-जगत् में दृष्टिपात करने से यह साफ मालूम होता है कि वे अपनी जाति की रक्षा के लिए दूसरी जातिवालों से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं करते।'

वर्णसंकर जर्मन जाति आज विश्व में अपनी रक्त-विशुद्धता की घोषणा कर आतंक डालना चाहती है। क्या वह यह भूल गई कि उसकी उत्पत्ति फ्रेन्च, पोल, बोहेमिया आदि जातियों के मिश्रण से हुई है? इसी दण्ड-विधान में आगे लिखा है—

'जाति-द्रोह का घोर दण्ड उस व्यक्ति को दिया जायगा, जो विजातियों से यौन-सम्बन्ध (Sexual Intercourse) स्थापित करेगा। यह दण्ड नर-नारी दोनों को समान भाव से मिलेगा।'

'यदि कोई दम्पति-युगल ऐसे उपायों को काम में लावे, जो गर्भ-धारण को रोकते हैं, तो भी पूरा दण्ड मिलेगा। जब कोई पक्ष विजातीय

होने पर जर्मन होने का दावा करेगा, तब यह अपराध और भी अधिक बढ़ जायगा।'

'जो जर्मन निर्लज्ज होकर रंगीन जातियों (Coloured Races) से मिलेगा, उनसे अपनी घनिष्ठता दिखलायेगा और इस प्रकार जनता के सुकुमार भावों को चोट पहुँचायेगा वह अपनी जाति की प्रतिष्ठा में कलंक लगायेगा। उसको सबसे कठिन दण्ड दिया जायगा।'*

जर्मनी का वर्तमान नाज़ी-शासन अपनी राष्ट्रीयता के गर्व में एशिया के राष्ट्रों को जंगली और असभ्य समझता है। वह नहीं चाहता कि एशियायी राष्ट्र स्वतन्त्र बने। कुछ समय पहले नाज़ी-दल के नेता डॉ० रुजेनवर्ग ने लन्दन में 'ग्रेट-ब्रिटेन, भारतवर्ष और यहूदी अर्थचक्र' नामक अपनी एक पुस्तक वितरण की। उसमें भारत के प्रति नाज़ी-नीति का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। डॉ० रुजेनवर्ग भारतीयों के अधः-पतन पर लिखते हैं—

'अंग्रेजों के भारत से संबन्ध-विच्छेद करने पर हिन्दू-मुसलमानों में झगड़ा शुरू हो जायगा; अगर मान भी लें कि ब्रिटेन के प्रति भारत की कुछ शिकायतें ठीक हैं, तो भी उसके बिना भारत में वर्वर युग से भी अधिक रक्त-पात होने लगेगा। भारत को किसी बड़े शासक की आवश्यकता है; इसलिए हमें जर्मनों को भारत में ब्रिटिश-शासन का समर्थन जातीय दृष्टि-कोण से भी करना चाहिए और जर्मन दृष्टि-कोण से भी। प्राचीन भारत और आधुनिक दार्शनिकों का आदर करते हुए भी हमें स्पष्टतः अंग्रेजों का साथ देना चाहिए। भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) देकर ब्रिटिश-भ्रातृत्व-मंडल

---

* नाज़ी दण्ड-विधान के उपर्युक्त अवतरण श्री० डी० जी० अग्निहोत्री के एक लेख से लिये गये हैं।

(British Commonwealth of Nations) में मिलाने की योजना का हमें विरोध करना चाहिए ; क्योंकि इससे—गोरी जातियों का उन्मूलन हो जायगा। ब्रिटेन को स्वयं अपने हित के लिए और गोरी जातियों की भलाई के लिए भी हरगिज़ न झुकना चाहिए।'

हाल में हिटलर के नाज़ी-शासन ने जर्मनी के प्रवासी यहूदियों का जर्मनी से निष्कासन कर अपनी नीति को व्यावहारिक रूप दिया है। जर्मनी में यहूदियों पर कैसे-कैसे रोमांचकारी और बर्बरता-पूर्ण अत्याचार किये गये, यह पाठकों ने समाचार पत्रों में पढ़ा ही होगा। संसार के सबसे बड़े वैज्ञानिक आइन्स्टाइन की सम्पत्ति ज़ब्त कर उन्हें जर्मनी से देश-निकाला दिया गया। क्यों ? वह यहूदी हैं। आज जर्मनी गर्वोन्मत्त होकर कैसा अनाचार कर रहा है। जर्मनी को अपने लौह-हृदय पर यह अंकित कर लेना चाहिए कि इस हिटलर-शाही का अन्तिम परिणाम जर्मनी के लिए आत्मघाती होगा। यह हिटलर-शाही जर्मनी की रही-सही सभ्यता का नाश कर देगी और संसार के इतिहास से जर्मनी का नाम मिट जायगा। जर्मनी के नाज़ी यहूदियों की गणना रंगीन जातियों में करते हैं ; अतः वे अपने देश में इन रंगीन यहूदियों को क्यों बसने दें ? लन्दन के Daily Express पत्र के बर्लिन-स्थित संवाददाता ने जर्मनी में घूम - फिरकर यहूदियों की स्थिति के विषय में एक लेख प्रकाशित किया है। उस लेख का सारांश यह है—

'अब जर्मनी में पाँच लाख यहूदी हैं ; एक लाख यहूदी जर्मनी से निकाल दिये गये। ५०००० यहूदी फिलिस्तान में और ५०००० यूरोप के दूसरे देशों में बस गये हैं। नाज़ी की दृष्टि में यहूदी रंगीन जातियों में से हैं। उन्हें यह आज्ञा है कि वे किसी जर्मन व ईसाई से विवाह या यौन-सम्बन्ध नहीं कर सकते। यदि कोई जर्मन नर-नारी यहूदी से

विवाह-सम्बन्ध कर लेते हैं, तो उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती है। वेवेरिया में यहूदियों को सार्वजनिक स्थानों में स्नान करने का निषेध है। यहूदियों की दूकानों से कोई जर्मन कपड़े नहीं खरीदता। उनके सिनेमा-गृहों में जर्मनों को जाने से रोका जाता है। अनेकों यहूदियों की प्रतिदिन हत्या के समाचार सुने जाते हैं। कोई व्यक्ति भय के कारण हत्याओं के समाचार ठीक-ठीक नहीं बतलाते।'

जर्मनी के अधिनायक हिटलर ने अपनी Mein Kempt (My Battle) 'मेरा संघर्ष' नामक पुस्तक में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। पाठकों की ज्ञान-वृद्धि के लिए तथा उसके जातीयवाद को ठीक प्रकार समझने के लिए, यहाँ कुछ अवतरण देते हैं—

'पहले हमें युद्ध करना चाहिए, पीछे कदाचित् शान्ति देखी जायगी।'—(जर्मनी संस्करण पृ० ३१५)

'जर्मनी में शक्ति-संस्थापन के लिए हमारे सामने यह प्रश्न नहीं है कि जिस प्रकार शस्त्रास्त्र तैयार किये जायँ, प्रश्न यह है कि लोगों में शस्त्रास्त्र धारण करने की भावना कैसे उत्पन्न की जाय। जब भावना लोगों में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लेगी, तब इच्छा-शक्ति ऐसे अनेक तरीके निकाल लेती है जिससे हरएक विचार से हरएक अस्त्र हाथ में आ जाता है।'—(पृष्ठ ३६५)

'ऐसे राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन को धिक्कार है, जो केवल विरोध पर निर्भर रहता है। और लड़ाई की तैयारी नहीं करता।' —(पृ० ७१२)

इन अवतरणों से पाठक यह सहज ही जान सकते हैं कि जर्मनी का नाज़ी-शासन अपनी उग्र राष्ट्रीयता के मद में युद्ध की ओर जा रहा है।

फासिस्ट इटली भी जर्मनी से कम उग्र राष्ट्रीयता का पुजारी नहीं

है। आज यूरोप में इटली का सबसे अधिक आतंक है। मुसोलिनी ने उसे एक उग्र सैनिकवादी राष्ट्र बना दिया है। हाल में फासिस्टों की एक नवीन प्रार्थना तैयार की गई है। उस प्रार्थना के अवलोकन से आप उनके सैनिकवाद का पूरा परिचय पा सकेंगे।

'हे परमात्मन्! तू सब अग्नि शिखाओं का उद्दीपक है। मेरे हृदय में भी इटली की भक्ति की अग्नि-शिखा प्रदीप्त कर। मेरी पुस्तकों में सद्बुद्धि-पूर्ण विचार और मेरे शस्त्र में अपनी प्रेरणा जागृत कर।

सड़क पर, समुद्र तट में, वनस्थली के बीच और लीबिया की ओर जो कभी रोम के अधीन था, मेरी तीव्र दृष्टि रहे।'

इटली के डिक्टेटर Benito Mussolini ने अँगरेजी पत्र Political quarterly में 'इटली के जीवन के लिए नवीन पत्र' शीर्षक एक लेख में अपने सिद्धान्त फासिस्टवाद की व्याख्या की है। आप लिखते हैं—

'Fascism ,the more it considers and observes the future and the development of humanity quite apart from political considerations of the movement believes neither in the possibility nor the utility of perpetual peace......

Fascism repudiates any universal embrace, and in order to live worthily in the community of civilized peoples watches its contemporaries with vigilant eyes......

For fascism the growth of empire, that is to say the expansion of nation, is an essential manifestation of vitality and its opposite a sign of decadence. Peo-

ples which are rising or rising again after a period of decadence, are always imperialists. *

इन तीन अवतरणों में मुसोलिनी का सिद्धान्त बहुत ही स्पष्ट रूप से निहित है।

फासिस्टवाद—(१) स्थायी शान्ति में विश्वास नहीं करता।

(२) विश्व-सामंजस्य और विश्व-सहयोग को स्वीकार नहीं करता।

(३) स्वराष्ट्र के अभ्युदय के लिए साम्राज्य के विस्तार में विश्वास करता है।

प्रत्येक उन्नति-शील राष्ट्र को साम्राज्यवादी बनना पड़ता है; इसलिए फासिस्टवाद में अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए कोई स्थान नहीं है। जो स्थायी शान्ति में आस्था नहीं रखता, वह राष्ट्र-संघ के विश्व-शान्ति के सिद्धान्त का कैसे समर्थन कर सकता है? यही कारण है कि इटली न्याय को त्यागकर शक्ति की पूजा में तन्मय हो रहा है। वह निर्बल राष्ट्रों को हथिया कर साम्राज्य-विस्तार की चिंता में है।

दक्षिणी-अमेरिका में जर्मनी की भाँति उग्र देश-भक्ति अपनी चरम-सीमा को पहुँच चुकी है। दक्षिण अमेरिकावासी अपनी राष्ट्रीयता को मानवता से बहुत उच्च स्थान देते हैं; इसलिए आज अमेरिका में हबसियों पर बड़े पाशविक और रोमांचकारी अत्याचार किये जाते हैं †

संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका भी संकुचित राष्ट्रीयता का शिकार है। उसका 'मुनरो सिद्धान्त' (Munroe Doctrine) उग्र और संकुचित राष्ट्रीयता का ज्वलन्त नमूना है। एशियावासियों के सम्बन्ध में उसके प्रवास-सम्बन्धी-कानून (Immigration Laws) काले क़ानून हैं। सब

---

* Vide the League (Allahabad) March 17, 1934.

† देखिये 'विश्वमित्र' मासिक-पत्र (कलकत्ता) नवम्बर १९३४ लेख 'अमेरिका के सभ्य हबसियों पर असभ्य गोरों का उत्पीड़न।'

राष्ट्रों को स्वतंत्र और जनतंत्रवादी देखनेवाला अमेरिका आज एशिया-वासियों को अन्तर्राष्ट्रीय-संसार में 'अछूत' मानता है। फिलीप्पाइन द्वीप-समूह को परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़े रखना कहाँ का जनतंत्रवाद का आदर्श है? यद्यपि अमेरिका सैद्धांतिक रूप से अपने को विश्व-संस्कृति का समर्थक सिद्ध करता रहा है—संसार में शान्ति-स्थापन को अपना मन्तव्य विघोषित करता रहा है; पर यथार्थ में, क्रियात्मक रूप से वह मुसोलिनी, हिट्लर के पद-चिह्नों का अनुगामी रहा है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता (International Anarchy)

यदि हम अपने राष्ट्रीय या सामाजिक-जीवन पर दृष्टिपात करें, तो हमें ज्ञात होगा कि हमारी स्वतंत्रता और जीवन का सम्मान-पूर्वक भोग उन नियमों के पूर्णरीत्या पालन करने पर निर्भर है, जिन्हें समाज या राष्ट्र निश्चित करता है। एक सामान्य उदाहरण से हमारा आशय स्पष्ट हो जायगा। यदि हम अपनी सुरक्षा और स्वाधीनता की रक्षा करना चाहते हैं, तो हमें राज-पथ के नियम (Rule of the Road) को अपने जीवन में चरितार्थ करना होगा; अगर चौराहे पर पुलिसमैन अपने हाथ के संकेतों से गमनागमन की व्यवस्था और नियंत्रण न करे, तो ऐसी स्थिति में प्रत्येक यात्री का जीवन संकट में पड़ने की आशंका रहे। उस अराजकता—व्यवस्था व नियम के अभाव में हम व्यक्तिगत स्वाधीनता का निर्विघ्न भोग नहीं कर सकते। यात्रियों और यात्रा के साधनों में मुठ-भेड़ स्वाभाविक है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमें आत्मरक्षा और स्वतंत्रता के लिए केवल व्यक्तिगत प्रयत्न ही आवश्यक नहीं है। हमें इसके अतिरिक्त नियम और व्यवस्था के बंधन में बँधने की आवश्यकता है। व्यक्तिगत आत्म-रक्षा के लिए व्यक्तिगत-प्रयत्न के साथ सामाजिक-प्रयत्न की भी आवश्यकता है।

जब व्यक्ति समाज को—एक सबको, अपनी रक्षा का भार सौंप देता है, तब उसकी सुरक्षा और स्वतंत्रता व्यापक अर्थ में बढ़ जाती है। समाज के नियमों का पालन कर प्रत्येक व्यक्ति आत्म-रक्षा के मार्ग को प्रशस्त बना सकता है।

हम अपने राष्ट्रीय-जीवन में, आत्म-रक्षा और सुरक्षा के लिए नियम और व्यवस्था का आश्रय लेते हैं; परन्तु आश्चर्य तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय-जीवन में हम इस सिद्धान्त की सर्वथा उपेक्षा कर बैठते हैं। फलतः प्रत्येक राष्ट्र अपने अधिकारों की रक्षा के लिए युद्ध-क्षेत्र की ओर पदार्पण करता है। इसे वह आत्म-रक्षा के नाम से पुकारता है; पर वास्तव में, अधिकार स्वयं-सिद्ध नहीं होते। विविध राज्यों के पारस्परिक संबंध ऐसे विकट और पेचीदा होते हैं कि उनके अधिकारों का सहज निश्चय कठिन ही नहीं, असंभव होता है। आप चीन-जापान युद्ध को देखिए। जापान का यह दावा था कि वह चीन के विरुद्ध आत्मरक्षा कर रहा है, आक्रमण नहीं; पर अन्त में जापान ने चीन के 'तीन पूर्वीय प्रान्तों' को हड़प लिया। यह मान लिया जाय कि प्रत्येक राज्य आत्मरक्षा के लिए अपने स्वत्वों की सुरक्षा के लिए युद्ध करता है; परन्तु मूल प्रश्न तो यह है कि विग्रही राष्ट्रों को विवाद के आत्म-निर्णय का क्या अधिकार है? प्रत्येक सभ्य राष्ट्र में यह नियम प्रचलित है कि कोई नागरिक क़ानून को अपने हाथ में न ले, देश के क़ानून के अनुसार अपने अधिकारों के निर्णय के लिए राष्ट्रीय न्यायालय (Municipal Courts) की शरण ले। जब न्यायालय किसी के पक्ष में अपना निर्णय दे देता है, तो भी उस पक्ष को यह अधिकार नहीं है कि वह उसे स्वयं पर-पक्ष पर आरोपित करे।

परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय-जगत् में इस नियम की बिलकुल अवहेलना की जाती है। विग्रही राष्ट्र स्वतः अपने अधिकारों के निर्णायक बन बैठते

हैं। वे स्वतः उन्हें व्यावहारिक रूप देते हैं। इसी कारण अराजकता और युद्ध होते हैं।

राष्ट्र के राजनीतिज्ञ और राजदूत संसार के सामने यह बतलाते हैं कि उनके राष्ट्रों के शास्त्रागार विशुद्ध आत्मरक्षा के लिए हैं। वे कदापि अपनी सैन्य-शक्ति का प्रयोग आक्रमणकारी युद्ध के लिए नहीं करेंगे; परन्तु विकट पहेली यह है, जब कोई भी राष्ट्र आक्रमण के लिए अपनी सेना और शस्त्रागार संग्रह नहीं करता, तब आत्म-रक्षा की आवश्यकता ही नहीं।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय-जगत् में स्थायी शान्ति वांछनीय है, तो समस्त राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय-विधान (International Law) की शरण लेनी पड़ेगी।

आजकल अन्तर्राष्ट्रीय-क्षेत्र में जो अशान्ति, अव्यवस्था और युद्ध का आतंक दीख पड़ता है, उसके लिए राजनीतिज्ञ और राजदूत ही उत्तरदायी हैं। यह कूटनीति-कुशल राजदूत ही युद्ध के जनक हैं। गुट्टबन्दी (Secret Alliance) बनाकर सामरिक वातावरण तैयार करना उनका व्यवसाय बन गया है। यदि आप विगत यूरोपीय महायुद्ध का सिंहावलोकन करें, तो आपको इस कथन की सत्यता विदित हो जायगी।

Lowes Dickinson ने अपने ग्रन्थ* में यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि मित्र-राष्ट्रों का गुट्टबन्दी में सम्मिलित होना जर्मनी के लिए एक भयानक ख़तरा प्रतीत हुआ। जर्मनी का यह विश्वास था कि मित्र-राष्ट्रों का यह गुट्ट उस पर आक्रमण करने के लिए बना है।

---

* The European Anarchy By Lowes Dickinson (The Macmillan company) p. 20—23.

दूसरी ओर मित्र-राष्ट्रों को जर्मनी एक सर्वनाशकारी खतरा प्रतीत होने लगा; इसलिए उन्होंने गुट्टबन्दी बनाई। इस प्रकार इस भय और अविश्वास के वातावरण में मित्र-राष्ट्रों और जर्मनी आदि राष्ट्रों के सम्बन्ध अधिकाधिक वैमनस्यपूर्ण होते गये। बर्लिन, लन्दन और पेरिस में बेलजियम के राजदूतों के खरीतों से यह सिद्ध हो जाता है कि मित्र-राष्ट्र जर्मनी के खिलाफ एक शक्तिशाली गुट्ट बना रहे थे।

यूरोप में विगत शताब्दी में जितने युद्ध लड़े गये. वे सब शक्ति-सन्तुलन के लिए हुए थे। विगत यूरोपीय महायुद्ध भी शक्ति-सन्तुलन का संग्राम था। यूरोप में प्रत्येक राष्ट्र इस बात के लिए प्रयत्न-शील रहा है कि दूसरा अधिक शक्तिशाली न बनने पाये। इस शक्ति-संतुलन के पीछे क्या रहस्य छिपा हुआ है—इसका बहुत युक्तिपूर्ण कारण Sir Norman Angell ने बतलाया है —

'Our interests are not directly on the continent at all, they are overseas. We can pursue those interests unchallenged as long as power of any one State on the continent is counter balanced by the power of another. But should a continental State—a France under Napoleon, a Germany under a Kaiser Wilhem—so rid itself of continental rivalry as to be able to turn its whole power unimpeded, against us, then would our overseas world-wide security would, in terms of Balance Theory, be menaced.' *

'हमारे हित केवल यूरोप महाद्वीप में ही नहीं हैं; किन्तु समुद्र-पार उपनिवेशों में भी हैं। उन हितों को हम उसी समय तक सुरक्षित रख

* Vide Article—International Anarchy (Intelligent Man's) way to Prevent war) 1933 p. 52.

सकते हैं, जब तक यूरोप की किसी राष्ट्र की शक्ति हमारे राष्ट्र की शक्ति के समान हो ; परन्तु यदि कोई यूरोपीय-राष्ट्र—नेपोलियन के अधीन फ्रान्स, कैसर विल्हैम के अधीन जर्मनी—यूरोपीय प्रतिस्पर्द्धा से इतना युक्त हो जाय कि वह अपनी समस्त शक्ति को निर्विघ्न हमारे प्रतिकूल व्यवहार में लाने लगे, तो हमारे समुद्र-पार उपनिवेशों की सुरक्षा खतरे में हो जाय।'

आगे योग्य लेखक लिखता है—

'यदि यह (शक्ति-साम्य का सिद्धान्त) स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया जाय, तो अन्तर्राष्ट्रीय-स्थिति की प्रकृति को भलीभाँति समझने का सुयोग मिलेगा ; परन्तु जब-जब आकाश-मण्डल में युद्ध की काली घटाएँ मँडराती हैं, तब-तब इसे कदापि स्वीकार नहीं किया जाता। हम इसलिए रण-भूमि में नहीं जाते कि विश्वव्यापी साम्राज्य की रक्षा करने के लिए हमारा आतंक छा जाय ; प्रत्युत् इसलिए लड़ते हैं कि कोई दुष्ट विदेशी राष्ट्र हम पर आक्रमण के लिए प्रपंच रच रहा है। (यूरोपीय महायुद्ध से पूर्व हमारे लोक-प्रिय समाचार-पत्रों में इस प्रकार की गाथाएँ छपती थीं कि जर्मनी किस प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन पर आक्रमण करने का प्रपंच रच रहा है। अनेकों पुस्तकें और नाटक इस विषय पर लिखे गये।) अथवा इसलिए कि उस विदेशी राष्ट्र की संस्कृति या उसके भाव-विचार 'विश्व-स्वाधीनता के लिए खतरा है।' अथवा उसने किसी छोटे राष्ट्र पर आक्रमण किया है। 'छोटे बेलजियम' ने विगत रण-नाटक में जो पार्ट लिया, उसे हम बिलकुल भूल गये हैं।'

पाठक उपर्युक्त विवेचन से यह भलीभाँति जान सकते हैं कि इस अराजकता में अन्तर्राष्ट्रीयता की कितनी आवश्यकता है। यदि इसी प्रकार अराजकता का दुःशासन जारी रहा, तो भविष्य में सभ्यता और संस्कृति का विनाश अवश्यम्भावी है।

संक्षेप में हमारे कथन का सार यह है कि जब तक संसार के राष्ट्रों से संकुचित राष्ट्रीयता, व्यापार-तंत्र की भावना और उग्र सैनिकवाद का संहार नहीं किया जायगा, तब तक सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता का उदय संभव नहीं।

४—अन्तर्राष्ट्रीयता

विश्व में अन्तर्राष्ट्रीयता की स्थापना के लिए उन्नीसवीं शताब्दी से निरन्तर प्रयत्न होता रहा है; परन्तु इसमें सफलता नहीं मिली। वर्सेलीज़ की सन्धि के बाद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए जिस प्रकार उत्साह और लगन के साथ काम किया गया, उसके पीछे एक बड़ी दुर्भावना छिपी हुई थी। वह थी—विजित और निर्बल राष्ट्रों को अधीनता में रखने की उग्र भावना। यही कारण है कि राष्ट्र-संघ अपने लक्ष्य में सफल न हो सका। Pact of Paris भी एक जाली टुकड़े से अधिक उपयोगी सिद्ध न हो सका। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका ने, जो अपने आदर्शवाद के लिए यूरोपीय युद्ध-काल में प्रख्यात था, राष्ट्र-संघ को जन्म देकर उसे यूरोप के स्वार्थी और साम्राज्य-विस्तार की कामना से व्यग्र कूटनीतिज्ञों के हाथों में सौंप दिया और स्वयं अलग रहा। अपने ही जन्मदाता-द्वारा राष्ट्र-संघ का यह करुणाजनक विनाश, वास्तव में, एक बड़ी आश्चर्यजनक घटना है।

जिनेवा (स्विटज़रलेण्ड, यूरोप) में संसार के राष्ट्रों के कूटनीतिज्ञ, राजदूत, तथा पर-राष्ट्र-सचिव (Foreign Secretaries) सम्मिलित होते हैं। विराट् परिषदों और सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है, लाखों पौंड जिनेवा को भेंट किये जाते हैं; परन्तु अन्त में परिणाम कुछ नहीं होता। शान्ति की समस्या सुलझाने के लिए जितनी अधिक अन्तर्राष्ट्रीय परिषदें की जाती हैं, उतनी ही अधिक यह समस्या विकट

और पेचीदा बनती जाती है। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के Carnegie Endowment for International Peace संस्था के अध्यक्ष, शान्ति के लिए नोबुल-प्राइज़-प्राप्ति-कर्त्ता डॉक्टर निकोलस मरे बटलर के शब्दों में—

'The Pact of Paris had been drawn-up and sixty nations had signed. That is the Supreme law of the World if the people will obey it. There is no use of talking about news laws, we do not need them. There is no use drawing up new agreements, they are not necessary. There is no use in holding new conferences, we have no use for them.

Sixty nations have signed that document and all they have to do is to keep their words.

My friends, the alternative to war is simple common ordinary honesty.'

'पेरिस की सन्धि तय हो चुकी है और ६० राष्ट्रों ने उस पर हस्ताक्षर कर दिये हैं। यदि राष्ट्र उसका पालन करे, तो वह संसार का सर्वश्रेष्ठ क़ानून है। नवीन क़ानून बनाने की बात व्यर्थ है, हमें उनकी आवश्यकता नहीं। नवीन समझौतों से कोई हित नहीं है; क्योंकि वे आवश्यक नहीं हैं। नवीन परिषद् और सम्मेलनों के आयोजन की भी आवश्यकता नहीं है। उनसे कोई लाभ नहीं।

६० राष्ट्रों ने सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये हैं। अब उनका एकमात्र कर्त्तव्य तो यही है कि वे अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करें।

'मेरे मित्रो! युद्ध-अवरोध का सरल मार्ग है, सच्चाई।'

सत्य तो यह है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय परिषदें युद्ध के मौलिक और यथार्थ कारणों पर कोई विचार नहीं करतीं। यह परिषदें पाखण्डता-पूर्ण

अभिनय हैं * जिनमें कूटनीतिज्ञ एकत्र होकर संसार के विश्व-शान्ति के सच्चे हितैषियों को यह दिखलाते हैं कि वे संसार में युद्ध-अवरोध कर स्थायी शान्ति के लिए भगीरथ-प्रयत्न कर रहे हैं ; परन्तु इस अभिनय के पीछे सैनिकवाद अपने नितान्त नग्न रूप में रणभेरी का नाद कर रहा है। अन्तर्राष्ट्रीयता के इस सुन्दर भवन के पीछे एक विशाल, भयावह नरसंहारकारी नरमेध की तैयारी हो रही है।

---

* Compare—

So long as international co-operation and international peace are the occasion for outburst of rhetorical enthusiasm, no voice is raised in opposition. The moment, however, that anything concrete or specific is proposed to advance international co-operation and to establish international peace, then obligations, legalistic or other, based on ignorance, prejudice and Selfish narrowness of view, are heard on every hand & in all lands.

—*Looking forward*

By Nicholas Murray Butler

दूसरा अध्याय

शान्ति-संघ

१—अमेरिका का आदर्शवाद

विगत यूरोपीय-महासमर सन् १९१४ ई० में शुरू हुआ। सन् १९१७ ई० में वह अपनी चरम सीमा को पहुँच गया। इसी वर्ष अमेरिका (संयुक्त-राज्य) के व्यवस्थापक-परिषद् में 'अन्तर्राष्ट्रीय-राजनीति में अमेरिका के स्थान' पर भाषण देते हुए तत्कालीन राष्ट्रपति वुडरो-विल्सन ने अपने आदर्शवाद की व्याख्या करते हुए कहा—

'विगत् १८ दिसम्बर को मैंने एक-एक पत्र उन सरकारों के लिए भेजा, जो इस समय युद्ध में भाग ले रही हैं और उनसे यह प्रार्थना की गई कि वे निश्चित रूप से अपनी उन शर्तों को बतलावें, जिनके द्वारा शान्ति की स्थापना हो सकती है...मित्र-राष्ट्रों ने बहुत ही निश्चित-रूप से अपना उत्तर दिया......

'इसलिए हम शान्ति-समस्या पर अधिक निश्चय-पूर्वक विचार करने के योग्य हैं, जिससे वर्तमान युद्ध का अन्त हो जायगा। हम उस अन्तर्राष्ट्रीय-संघ (Consert) पर भी विचार करने के योग्य हैं, जो भविष्य में शान्ति की सुरक्षा करेगा। शान्ति के प्रत्येक विचार-विनिमय का, जिसके द्वारा इस युद्ध का अन्त किया जायगा, यह स्वाभाविक परिणाम होना चाहिए कि राष्ट्रों का एक ऐसा संघ स्थापित करना चाहिए, जो भविष्य में ऐसे विश्व-संकट को यथार्थ में असंभव बना सके। प्रत्येक मानवता-प्रेमी, बुद्धिमान् और विचारशील व्यक्ति को ऐसी ही धारणा बना लेनी चाहिए। यह तो कल्पना के बाहर की बात है कि संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका उस महायज्ञ से अलग रहे। उस यज्ञ में भाग लेना अमेरिका के लिए सौभाग्य की बात होगी, जिसके लिए वह अपनी राजनीति और शासन-पद्धति के द्वारा अपने जन्म-काल से उन सिद्धान्तों और उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए प्रयत्न करता रहा है। जिन्होंने संसार के मानवों को स्वाधीनता का पथ दिखलाया है और भविष्य में दिखलावेंगे, वे उस सेवा से विमुख नहीं रह सकते, जिसके लिए उन्हें चुनौती दी जानेवाली है। वे उससे पराङ्मुख नहीं हो सकते ; परन्तु यह उनका कर्तव्य है कि वे संसार के अन्य राष्ट्रों को यह बतला दें कि वे किन शर्तों पर यह सेवा कर सकेंगे।'

× × ×

शान्ति-सन्धियों और समझौतों में, जिनसे इस महासमर का अन्त होगा, ऐसी शर्तें होनी चाहिए, जो ऐसी शान्ति को जन्म दें, जिसकी सुरक्षा उचित हो—शान्ति, जो केवल इन राष्ट्रों के निकट उद्देश्यों, अनेकों हितों को ही जन्म न देगी ; किन्तु अखिल मानव-समाज के हृदय को जीत लेगी।

'सहकारिता-पूर्ण शान्ति का कोई भी समझौता, जिसमें अमेरिका

सम्मिलित न होगा, भविष्य में संसार को युद्ध के खतरे से मुक्त करने के लिए पर्याप्त न होगा। तथापि एक प्रकार की शान्ति की गारंटी के लिए अमेरिका के नागरिक प्रयत्न कर सकते हैं। उस शान्ति के तत्त्व वही होने चाहिए, जिनमें अमेरिका के शासन-सिद्धान्तों का सन्निवेश हो।

'मेरे कथन का तात्पर्य यह नहीं है, कि कोई अमेरिकन शासक शान्ति की उन शर्तों में बाधा उपस्थित करेगा, जिन्हें वे राष्ट्र-समझौते से स्वीकार करेंगे, जो आज परस्पर लड़ रहे हैं।

'प्रश्न, जिस पर संसार की भावी शान्ति और नीति निर्भर है, यह है—क्या यह वर्तमान संघर्ष न्याय-पूर्ण और सुरक्षित शान्ति के लिए है या केवल नवीन शक्ति-सन्तुलन के निमित्त? यदि यह संघर्ष केवल नवीन शक्ति-सन्तुलन (Balance of Power) के लिए है, तो विश्व-शान्ति की गारंटी कौन दे सकता है? केवल शान्त यूरोप ही स्थायी यूरोप हो सकेगा। शक्ति-सन्तुलन के स्थान पर शक्ति-संघ होना चाहिए। संगठित प्रतियोगिताएँ नहीं। प्रत्युत् संगठित शान्ति।

'विजय का अर्थ होगा, पराजित पर लादी गई शान्ति। पराजित पर विजेता की आरोपित शर्तें। वह भय और अपमान की दशा में बड़े बलिदान के साथ स्वीकार की जा सकेगी, जिससे एक कसक, रोष, घृणा और दुःखद स्मृति का प्रादुर्भाव होगा, जिस पर शान्ति का स्थायी भवन खड़ा नहीं किया जा सकता। केवल समानों में ही स्थायी शान्ति रह सकती है। शान्ति—जिसके सिद्धान्त हैं, समानता और सामान्य लाभ (Common Benefit) में समान रूप से भाग।

'राष्ट्रों की समानता—जिस पर शान्ति निर्भर होनी चाहिए, अधिकारों की समानता होनी चाहिए। गारंटी में बड़े और छोटे राष्ट्रों के भेद-भाव को कोई स्थान न मिले। अधिकार सम्मिलित शक्ति पर आश्रित होने चाहिए, व्यक्तिगत शक्ति पर नहीं।

'किसी राष्ट्र को अन्य राष्ट्र व प्रजा पर अपनी नीति का प्रभाव न डालना चाहिए और न उसको अपने अधीन करना चाहिए ; प्रत्युत् प्रत्येक राष्ट्र और प्रजा को यह स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह 'अपनी शासन-प्रणाली का निर्णय और विकास स्वतः किसी भय, बाधा व दबाव के बिना करे।

'मैं यह प्रस्ताव अपने सामने रख रहा हूँ कि अब समस्त राष्ट्रों को गुट्टबन्दी से दूर रहना चाहिए ।......यही अमेरिका के सिद्धान्त और नीति हैं।'

उपर्युक्त भाषण अमेरिका की सीनेट में जनवरी १६१७ में दिया गया था। २ अप्रैल १९१७ को विल्सन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने के लिए अमेरिका की कांग्रेस को आग्रह करते हुए कहा—

'The world must be made safe for democracy. Its peace must be planted upon the tested foundations of political liberty. We have no selfish end to serve. We desire no conquest, no domination...We are but one of the champions of the rights of mankind......It is a fearful thing to lead this great peaceful nation into war, into the most terrible and disasterous of all wars, civilization itself seeming to be in balance But the right is more precious than peace. ...'

८ जनवरी १६१८ ई० को अमेरिका की 'कांग्रेस' में भाषण करते हुए अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने युद्ध के निम्न-लिखित उद्देश्य बतलाये, जो 'चौदह सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध हैं—

१—शान्ति का प्रकाश्य रूप में किया गया समझौता हो तथा भविष्य में कोई गुप्त कूटनीतिज्ञता को प्रश्रय न दिया जाय।

२—दैशिक-सामुद्रिक सीमा (Territorial waters) के

बाहर जलयानों के आवागमन की शान्ति और युद्ध-समय में समान रूप से निरपेक्ष स्वाधीनता ।

३—आर्थिक प्रतिबन्धों का यथाशक्ति निवारण।

४—राष्ट्रीय शस्त्रास्त्रों की न्यूनता के निमित्त यथेष्ट गारंटी ।

५—औपनिवेशिक दावों का निष्पक्ष रीति से निर्णय । उपनिवेशों की प्रजा के हितों का उतना ही ध्यान दिया जाय, जितना उस सरकार का जिसका उस पर दावा स्वीकार किया जाय।

६—समस्त रूसी प्रदेश खाली कर दिया जाय और रूस को अपने आत्म-विकास के लिए पूर्ण अवसर दिया जाय।

७—बेलज़ियम को खाली कर दिया जाय।

८—समस्त फ्रेन्च-प्रदेश स्वतंत्र कर दिया जाय और आक्रान्त भागों को वापस कर दिया जाय तथा १८७१ में प्रशा ने अल्सालौरैन को अधीन कर जो भूल की थी, उसको ठीक कर दिया जाय ।

९—इटली की सीमा का पुनर्निर्णय राष्ट्रीयता की दृष्टि से किया जाय।

१०—आस्ट्रिया-हंगेरी की प्रजा को स्वायत्त-शासन के विकास का पूरा अवसर दिया जाय ।

११—रूमानिया, सर्विया, मान्टीनीग्रो खाली कर दिये जायँ ; प्रदेशों को वापस कर दिया जाय। सर्विया को समुद्र तक अपनी सीमा बढ़ाने दी जाय। वालकन द्वीपों में ऐतिहासिक और राष्ट्रीय दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय गारंटी के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय-संबन्धों का निर्णय किया जाय।

१२—आटोमन साम्राज्य के तुर्की भागों का प्रभुत्व सुरक्षित कर दिया जाय। जो भाग तुर्की नहीं हैं, उसमें स्वायत्त-शासन के विकास का आश्वासन दिया जाय और Dardanelles समस्त जहाजों के लिए मुक्त कर दिया जाय।

१३—एक स्वतंत्र पोलिश-राज्य स्थापित किया जाय, जिसमें वे सब

प्रदेश सम्मिलित किये जायँ, जो निर्विवाद रूप से पोलिश हैं।

१४—राष्ट्रों की एक सीमा बनाई जाय, जो बड़े और छोटे राष्ट्रों के समान रूप से राजनीतिक स्वाधीनता और प्रादेशिक सीमा की सुरक्षा के लिए परस्पर गारण्टी दे।

२—शान्ति-सन्धि और चतुर्दश सिद्धान्त

विल्सन के इन चतुर्दश सिद्धान्तों का यथाशक्ति समस्त राष्ट्रों में प्रचार किया गया ; पराजित राष्ट्रों में विजेता शासनों की ओर से इनके लिए खूब आन्दोलन किया गया। इस आन्दोलन का मूल उद्देश्य था शत्रु-राष्ट्रों को निर्बल बनाकर उन्हें इन सिद्धान्तों के स्वीकार कर लेने के लिए बाध्य करना। ५ अक्टूबर १९१८ ई० को जर्मन-प्रजातंत्र शासन ने इन चतुर्दश सिद्धान्तों के आधार पर शान्ति के लिए प्रस्ताव किया। राष्ट्रपति विल्सन से यह प्रार्थना की गई कि वह अपने चतुर्दश सिद्धान्तों और २७ सितम्बर १९१८ ई० की घोषणा के आधार पर शान्ति-स्थापना का कार्य अपने हाथ में लें। मित्र-राष्ट्र से भी पूछा जाय कि वे क्या इस कार्य को स्वीकार करते हैं ? मित्र-राष्ट्रों ने कुछ शर्तों पर चतुर्दश सिद्धान्तों के आधार पर जर्मनी से सन्धि करने का प्रस्ताव स्वीकार किया।

मित्र-राष्ट्रों ने यह स्पष्ट कर दिया कि 'सामुद्रिक स्वतन्त्रता' का अर्थ निश्चित नहीं है ; इसलिए उनको शान्ति-परिषद् में इस विषय पर संरक्षण निश्चय करने की स्वतंत्रता होगी।

'आक्रान्त प्रदेशों को वापस देने का अर्थ, मित्र-राष्ट्रों की दृष्टि में यह था कि जर्मनी उस समस्त क्षति के लिए हर्जाना देगा, जो Civilian नागरिक और उनकी सम्पत्ति को जर्मनी के आकाश, स्थल और जल से किये गये आक्रमणों से हुई है।'

इस प्रकार स्वीकृति मिलने पर जर्मनी ने हथियार डाल दिये। जब शान्ति-परिषद् में शान्ति के लिए सन्धियाँ होने लगीं, तब यह चतुर्दश सिद्धान्त ताक में रख दिये गये। सन्धि की शर्तें प्रकट रूप में नहीं की गईं; किन्तु गुप्त रूप से लूट का बटवारा पहले से ही सोच लिया गया था। शान्ति-परिषद् का यह गर्हित कार्य प्रोफेसर गिल्वर्ट मरे के शब्दों में 'भयंकर विश्वासघात' (Monstrous Breach of Faith) था। सन्धि में उपर्युक्त सिद्धान्तों की उपेक्षा कर उनके सर्वथा विपरीत कार्य किया गया। Prof. Gilbert Murray का कथन है कि—

'जिसने इस सम्बन्ध के पत्रों का अध्ययन किया है, उसके सामने दो बातें स्पष्ट रूप में आती हैं। प्रथम वह सरकारें जिन्होंने चतुर्दश सिद्धान्तों के आधार पर जर्मनी से शान्ति-संध करने का प्रस्ताव स्वीकार किया प्रारम्भ से ही विल्सन के आदर्शों के विरुद्ध थे। तब फिर उन्होंने क्यों उन सिद्धान्तों को स्वीकार किया? उनके पास और कोई उपाय ही न था। उन्हें अस्वीकार करने का तात्पर्य होता है, चिर-काल से मनोवांछित शान्ति को अस्वीकार करना। ऐसा करने से विल्सन से शत्रुता मोल लेनी पड़ती; पर विल्सन की सहायता के बिना विजय संभव नहीं थी। बस, मित्र-राष्ट्र शान्ति के प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए विवश थे।'

राष्ट्रपति विल्सन के सिद्धान्तों की भाषा स्पष्ट नहीं थी; इसलिए राजनीतिज्ञों ने उसके मनमाने अर्थ ग्रहण किये। वर्सेलीज़ की सन्धि के पीछे एक अतीव उग्र सामरिक भावना—प्रतिकार, घृणा, भय, सन्देह, लोभ तथा निर्बल राष्ट्रों पर प्रभुत्व जमाकर उन्हें सदैव दासत्व के बन्धन में बाँधे रखने की भावना छिपी हुई थी। इस दुर्भावना ने शान्ति-संघ को विषैले वातावरण से आच्छादित कर दिया। अज्ञान जनता के हृदय में प्रतिकार की भावना बड़ी हलचल मचा रही थी।

जन-समुदाय-द्वारा उत्तेजित पत्रकार और पत्रकारों द्वारा उत्तेजित जनता शत्रु-राष्ट्रों से बदला लेनेवाली शान्ति के लिए अत्यन्त आतुर थी।

विल्सन के सिद्धान्तों में 'व्यापार की समान शर्तें' तथा 'आर्थिक प्रतिबन्धों का निवारण' यह दो बातें भी शामिल थीं। युद्धावसान के उपरान्त एक ऐसा प्रस्ताव किया गया कि मित्र-राष्ट्रों को तुरन्त ही केन्द्रिय यूरोप में दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता करनी चाहिए एवं कच्चा माल भेजना चाहिए, जिससे यूरोप का व्यापार ठीक दशा में हो जाय। इससे संकट का फल बहुतांश में दूर हो जायगा, और अनेकों राष्ट्रों को पतन से बचा लेगा तथा शान्ति का मार्ग प्रशस्त कर देगा। जर्मनी अपना हर्जाना भी दे सकेगा; परन्तु सामरिक - मनोवृत्ति के समर्थक राष्ट्र अपनी विजय के उन्माद में ऐसा क्यों करने लगे? जर्मनी को मित्र-राष्ट्रों की सद्भावना में सन्देह होने लगा। मित्र-राष्ट्रों ने वैमनस्यता-पूर्वक जर्मनी के सर्वनाश का प्रपंच रचा। जब शान्ति हो गई, तब उन्होंने जर्मनी के व्यापार को चौपट करने के लिए माल भेजना रोक दिया। यह भयंकर विश्वासघात और पाशविकता का हेय उदाहरण है।

इस सन्धि में वैसे अनेकों दोष थे; परन्तु सबसे बड़ा दोष यह था कि जब सन्धि के लिए शर्तों पर विचार-विनिमय किया गया, तो उसमें जर्मनी को नहीं बुलाया गया। सन्धि एक प्रकार का समझौता ही है और समझौते में दोनों पक्षों को अपने-अपने विचार एक-दूसरे के समक्ष रखने का अवसर मिलना चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं किया गया। बड़े-बड़े राष्ट्रों ने अपनी गुट्टबन्दी में गुप्त-रीति से लूट का बटवारा कर लिया। दूसरी रोषजनक और अन्याय-मूलक बात यह थी कि यूरोपीय महायुद्ध का सारा दोष जर्मनी के कैसर के मत्थे मढ़ा गया।

'कैसर को फाँसी' की गूँज से सारा यूरोप गुंजायमान हो गया। लायड जार्ज ने तो सम्राट् पंचम जॉर्ज से यहाँ तक प्रार्थना की कि कैसर के अपराध की जाँच लॉर्ड-सभा (ब्रिटिश पार्लमेंट) में की जाय; परन्तु यह बात पंचम जॉर्ज ने स्वीकार नहीं की। यथार्थ में युद्ध का उत्तरदायित्व केवल जर्मनी के कंधों पर लादना सर्वथा अन्याय था। यदि कोई योग्य पंचायत इस अपराध की जाँच करके ऐसा निर्णय देती कि जर्मनी अपराधी है, तो उससे अन्याय की भीषणता कुछ कम हो जाती; परन्तु विजयोन्मत्त राष्ट्रों के हृदय से न्याय का शासन मिट चुका था और पशुतापूर्ण नग्न अन्याय अपनी बर्बरता के साथ शत्रु-राष्ट्रों को कुचलने के लिए उन्मत्त हो रहा था। ब्रिटिश, फ्रान्स, इंगलैंड, इटली, सर्विया, अमेरिका के अपराधियों ने जो कृत्य किये थे, वे अपराध नहीं थे। वे न्याय-संगत और उदारता के काम थे। उनके लिए दण्ड देना अनुचित था!!!

सन्धि की आर्थिक शर्तें जर्मनी के लिए घातक सिद्ध हुईं। जर्मनी के लोहे और कोयले को मित्र-राष्ट्रों ने अपने अधीन कर उसे निपट गरीब बना दिया।

सार-प्रदेश और लौरेन के प्रान्त जर्मनी से छीन लिये गये। यह प्रदेश जर्मनी की समृद्धि और व्यापारिक अभ्युदय के मूल स्रोत थे।

इस प्रकार वर्सेलीज़ की सन्धि ने जर्मनी का सर्वनाश कर दिया और अमेरिका का आदर्शवाद बड़े-बड़े यूरोपीय-राष्ट्रों की राज्य-लिप्सा तथा विजयोन्माद के सामने नत-मस्तक हो गया। यह सन्धि शत्रु-राष्ट्रों की पराजय को सूचित करती है; परन्तु साथ-ही-साथ अमेरिका के सिद्धान्तों की विफलता की भी सूचक है।

३—जर्मनी का सर्वनाश

२८ जून १९१९ ई० को Versailles के सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर

किये गये, ७ जुलाई को जर्मन-राष्ट्रीय-असेम्बली ने उसे स्वीकार कर लिया। जर्मनी ने अल्सेस लोरेन फ्रान्स को दे दिया, लिथोनिया को मेमल (Memel) पश्चिमी प्रशा और पोसेन प्रान्तों का अधिक भाग पोलेण्ड को दे दिया। जर्मनी ने पोलेण्ड को उत्तरीय सिलेसिया भी दे दिया और पूर्वी प्रशा ने दक्षिणी भाग को भी पोलेण्ड को देने का वादा किया। पोलेण्ड को बाल्टिक समुद्र - तट का उपयोग करने के लिए जर्मनी डेन्जिग को स्वतंत्र नगर बनाने की अनुमति प्रकट की।

Schlesvig और Holstein जर्मनी ने डेन्मार्क को दे दिये। और पन्द्रह वर्ष के लिए जर्मनी ने सार-प्रदेश को फ्रान्स के हित के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन के नियंत्रण में उसे सौंप दिया। पन्द्रह वर्ष के बाद सार-प्रदेश के लोकमत से यह निर्णय होगा कि सार का शासन जर्मनी को दे दिया जाय अथवा फ्रान्स के हाथ में रहे।

इसके अतिरिक्त जर्मनी ने अपने समुद्र - पार सब उपनिवेश और संरक्षण-राज्य (Protectorates) भी मित्र-राष्ट्रों को सौंप दिये। कियाको (KiaoKhow) का पट्टा और शांटुङ्ग प्रदेश में जर्मनी के हित एवं भूमध्य-रेखा के उत्तरीय प्रशान्त महासागर के द्वीप जापान को मिले। समोआ न्यूज़ीलैण्ड को मिला। जर्मनी के भू-मध्यरेखा के दक्षिणी द्वीप आस्ट्रेलिया को मिले। जर्मन-दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका ग्रेट-ब्रिटेन को मिला। उसके उत्तरीय और पश्चिमी कुछ भाग बेलजियम को मिले। केमेकनस और टोगोलैण्ड ग्रेट-ब्रिटेन तथा फ्रान्स को दिये गये। इनके अतिरिक्त चीन, मोरक्को और टर्की में जर्मनी ने अपने विशेष हित और विशेषाधिकार भी त्याग दिये।

जर्मनी ने अपनी सेना एक लाख तक कर देने की प्रतिज्ञा की। राइन नदी के पूर्व में ५० किलोमीटर के आगे और पश्चिमी सीमा के बीच में जर्मनी ने अपने किलों को नष्ट कर दिया। उसकी नाविक

सेना में ६ हलके क्रूज़र और १२ टारपीडो वोट रहने दिये गये। कील नहर सब राष्ट्रों के लिए खोल दी गई। हेलीगोलेण्ड में किले नष्ट कर दिये गये। अपने चौदह Submarine cables भी सौंप दिये। इस प्रकार जर्मनी को पूरा नपुंसक बना दिया गया। १६०० टन से अधिक समस्त व्यापारिक जहाज, १००० एवं १६०० टन के आधे व्यापारिक जहाज़ मित्र-राष्ट्रों को सौंप दिये गये। इनके अतिरिक्त जर्मनी को मित्र राष्ट्रों के लिए २००००० टन तक के जहाज ५ वर्ष तक बनाने के लिए विवश किया गया। इनका मूल्य हरजाना की रक़म में शामिल कर लिया जायगा। जर्मनी से बाहर के राज्यों में जर्मन-प्रवासियों की ११ Milliard Marks की सम्पत्ति जब्त कर ली गई। सार और रूर की घाटियों के पृथक्कीकरण से जर्मनी का उद्योग नष्ट हो गया।

२—शान्ति का पुरस्कार कलह

शान्ति-परिषद् (Peace conference) ने, जिसमें वर्सेलीज़ के सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये गये थे, विश्व में शान्ति की स्थापना नहीं की, प्रत्युत् घोर अशान्ति और कलह का वीजारोप किया। एशियायी राष्ट्र राष्ट्रपति विल्सन के आदर्शवादी सिद्धान्त को वेद-वाक्य की भाँति मानते थे। युद्ध काल में तथा युद्ध की शान्ति के उपरान्त राष्ट्रपति विल्सन ने जो घोषणाएँ और भाषण दिये, उनसे उसकी सद्भावना में किंचित् शंका न रही; परन्तु राजनीति का क्षेत्र इतना दूषित बन गया था, कि विल्सन को संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका एवं यूरोप के राजनीतिज्ञों के सामने नीचे झुकना पड़ा। विल्सन का आदर्शवाद शीत-कालीन मेघ-खण्ड की तरह विलीन हो गया। चीन, स्याम, भारत, फारस, अरब, तुर्की आदि राष्ट्रों को शान्ति-परिषद् से बहुत आशा थी। उनकी यह ध्रुव धारणा थी, कि शान्ति-परिषद् में धर्मावतार राष्ट्रपति विल्सन

जो निर्णय करेंगे, वह न्याय-संगत और सन्तोषजनक होगा। उससे हमारे अन्यायों का अन्त हो जायगा और हमारा भविष्य समुज्ज्वल बन जायगा ; परन्तु इन राष्ट्रों की आशा-लता पर तुषार पड़ गया। चीनी प्रतिनिधियों ने अपनी माँगों में शांटुङ्ग वापस दिलाये जाने की माँग पेश की ; परन्तु महाशक्तियों में, युद्ध-काल में, जो गुप्त सन्धियाँ हुईं, उनके अनुसार प्रशान्त महासागर के भूमध्य रेखा के उत्तरीय जर्मन द्वीप जापान को दे देने का निश्चय हुआ।

शांटुंग भी जापान को दे देने का वादा किया गया, तथा जर्मन-चीनी बन्दर कियोचाऊ भी जापान को देने का निश्चय हुआ। चीन में जर्मनी को जो आर्थिक और राजनीतिक विशिष्ट अधिकार प्राप्त थे, वे भी जापान को दे दिये गये। यद्यपि चीन मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में लड़ा ; परन्तु फिर भी उसके साथ इस प्रकार का अन्याय किया गया। इस प्रकार यह चीन के साथ एक भयंकर विश्वास-घात था, जिसने चीन में घोर असन्तोष और अशान्ति पैदा कर दी। अब चीन में पाश्चात्य राष्ट्रों की न्याय-प्रियता और स्वाधीनता-प्रेम के भाव के प्रति श्रद्धा की लता मुर्झा गई। प्रतिक्रिया-स्वरूप चीन में चीन के राष्ट्रीय-आन्दोलन को उत्तेजना मिली। श्याम ने अपनी माँगें पेश कीं कि उसके साथ जो पहले सन्धियाँ हुई थीं, वे विल्सन के १४ सिद्धान्तों के सामने अन्यायपूर्ण हैं। उन्हें रद्द कर देना चाहिए। और श्याम देश को विदेशियों के आतंक से मुक्त कर दिया जाय। जिससे वह स्वतंत्र रूप से अपने देश का आर्थिक-सुधार कर सके। यह बात मित्र-राष्ट्रों को कब पसन्द थी। इससे उनके अधिकार-प्रयोग में बाधा उपस्थित होती।

शान्ति-परिषद् में पराधीन भारत के प्रतिनिधि तत्कालीन भारत-सचिव (Secretary of State for India) मान्टेग्यू थे।

उनके साथ लॉर्ड सिनहा तथा महाराजा बीकानेर भी प्रतिनिधि बन-कर गये। भारत के राजभक्ति के आवेश में आकर धन-जन से मित्र-राष्ट्रों की युद्ध में सहायता की। सहस्रों ने बड़ी वीरता से बलिदान किया। लाखों रुपये स्वाहा किये! परन्तु इन सबके पुरस्कार में भारतीयों को रौलट क़ानून, और जलियानवाले बाग का रोमांचकारी हत्याकाण्ड मिला! भारत में ऐसे-ऐसे भयावह और हृत्कंपनकारी अत्याचार ढाये गये और संसार के लोकमत को धोखा देने के लिए उसके सामने अपनी न्यायप्रियता का शंखनाद बजाने के लिए ब्रिटिश-राज्य ने भारत को राष्ट्र-संघ और श्रमिक-संघ में स्थान-प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया; परन्तु इस दमन-नीति और अन्याय के फल-स्वरूप भारत में एक आश्चर्यजनक और अनोखे आन्दोलन का जन्म हुआ, जिससे समस्त जगत् विस्मित है। अब ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के सामने एक नवीन आपदा आई।

फारस को शान्ति-परिषद् से बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। यद्यपि वह महायुद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ—तटस्थ रहा; परन्तु वह युद्ध के दुष्परिणामों से न बच सका।

फारस के प्रतिनिधि शान्ति-परिषद् में नहीं बुलाये गये; परन्तु उन्होंने पेरिस में पहुँचकर शान्ति-परिषद् से बाहर उसके प्रतिनिधियों को अपनी दुःखद गाथाएँ कहीं और अपनी दस माँगें पेश कीं। अंग्रेज़ और रूसवालों ने फारस में अपना यथेष्ट आतंक जमा रखा था। उनको फारस में ऐसे राजनीतिक और आर्थिक अधिकार प्राप्त थे, जिनसे फारस का अधिक अहित था, इसलिए फारस आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में स्वतन्त्र रहना चाहता था; परन्तु फारस को साम्राज्यवादी विजयोन्मत्त राष्ट्र ऐसी स्वाधीनता देकर अपने व्यापार को कैसे नष्ट कर सकते थे!

इसी प्रकार तुर्की, अरब और सीरिया की लूट का आयोजन किया

गया। यूरोपीय राष्ट्रों की इस लूट से एशिया के राष्ट्रों में, जर्मनी की भाँति ही घोर असन्तोष को जन्म मिला। इससे ऐशिया पर जो प्रभाव पड़ा, उसका विवरण श्री डॉ० सत्यनारायणजी P. H. D. ने स्वरचित पुस्तक 'एशिया की क्रान्ति' में बड़ी सुन्दरता से दिया है। आप लिखते हैं—

'वास्तव में महायुद्ध के समय और उसके बाद यूरोपीय-शक्तियाँ एशियायी राष्ट्रों की दृष्टि में जितनी गिर गईं, उतनी और कभी नहीं गिरी थीं। अपनी पूर्व इज्जत को प्राप्त करना उन लोगों के लिए बहुत कठिन हो गया। जो लोग युद्धों में गोरों के साथ लड़ने गये थे, उन लोगों ने देख लिया था कि यूरोपियन वीरता में उनसे श्रेष्ठ होने का दावा नहीं कर सकते। फिर भी उन लोगों को यूरोपियन सैनिकों की अपेक्षा कम तनख्वाह दी जाती है। पहली बात से उनके भीतर यह भाव दृढ़ जम गया कि यूरोपियन श्रेष्ठ नहीं हैं और दूसरी से उसमें असन्तोष फैल गया। उन लोगों ने अपने-अपने ग्रामों में जाकर उसी प्रकार असन्तोष फैलाना प्रारम्भ किया।

युद्धोपरान्त समस्त एशिया से एक ही बात, केवल स्वभाग्य-निर्णय (Self determination) के अधिकार प्राप्त करने की आवाज़ उठ रही थी। यूरोप में यदि स्वभाग्य-निर्णय की नीति बरती जाती है, तो वह एशिया में भी बरती जानी चाहिए। यूरोपीय लोगों ने उसकी पुकार पर ध्यान नहीं दिया। न्याय और सचाई के नाम पर दुहाई देने-वाले बड़े-से-बड़े राजनीतिज्ञ भी अपने साम्राज्यान्तर्गत एशियायी देशों के साथ दूसरी नीति बरतने की सलाह देते रहे। फ्रान्स के एक राज-नीतिज्ञ एम० रिवेट्ट का कथन है—'शान्ति तभी स्थापित हो सकती है, जब प्रत्येक राष्ट्र को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार हो'; परन्तु उन्हीं लोगों के कथनानुसार यदि फ्रान्स के साम्राज्यान्तर्गत एशियायी राष्ट्रों

को वह अधिकार दिया जाने लगे, तो रिवेट्ट महाशय ही उसका विरोध करने के लिए सबसे पहले खड़े हो जायँगे। उस समय वे कहने लगेंगे कि उनका कहने का अभिप्राय केवल यूरोपीय राष्ट्रों के विषय में था। यूरोपियन शक्तियाँ जब तक एशियायी राष्ट्रों को अपनी ही तरह के अधिकार प्राप्त नहीं करने देतीं, तब तक शान्ति की समस्या की कल्पना को स्वप्न समझना चाहिए।'*

शान्ति-परिषद् में राष्ट्र-संघ की स्थापना के लिए प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। और उसका विधान (Covenant) स्वीकार किया गया। राष्ट्र-संघ का आदर्श एक महान् माननीय आदर्श है, जिसकी प्राप्ति के लिए विश्व को प्रयत्नशील होना अनिवार्य है। यह स्वीकार करते हैं कि विश्व में राष्ट्र-संघ की भावना नवीन और अनुपम है। इससे पूर्व हम ऐसी विश्व-संस्था किसी युग में नहीं पाते; परन्तु जिन उच्च उद्देश्यों को लेकर राष्ट्र-संघ ने जन्म लिया, वे यूरोपीय महाशक्तियों की साम्राज्यवादी नीति के झंझावात में पड़कर अपने ध्येय से पतित हो गई। राष्ट्र-संघ का विधान किस हद तक संसार में शान्ति-स्थापन की गारंटी देता है, इसका विवेचन आगामी अध्याय में किया जायगा।

---

*'एशिया की क्रान्ति'—डॉ॰ सत्यनारायण पी॰ एच॰ डी॰, सस्ता-साहित्य-मण्डल, दिल्ली।

तीसरा अध्याय

राष्ट्र-संघ का विधान और शान्ति-संधि

१—राष्ट्र-संघ का विधान (Covenant)

युद्ध-शान्ति और युद्ध-अवरोध के लिए राष्ट्र-संघ का विधान किन-किन उपायों और साधनों का प्रतिपादन करता है—इस पर विचार करना। पाठक सम्पूर्ण विधान परिशिष्ट में देखें। यहाँ केवल उसकी शान्ति-स्थापन-सम्बन्धी धाराओं पर ही विचार करना उचित है।

धारा ८—शस्त्रास्त्र-नियंत्रण

(१) 'प्रत्येक राष्ट्र को उतने ही शस्त्रास्त्र रखने चाहिए, जितने उसकी रक्षा और शान्ति के लिए आवश्यक हैं। और यह कार्य सब राष्ट्रों को समान रूप से अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञा समझकर करना चाहिए।'

राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति

प्रत्येक राष्ट्र की रक्षा के लिए शस्त्रास्त्रों की मर्यादा कितनी रक्खी जाय, इसका निर्णय राष्ट्र-संघ की कौंसिल के अधीन होगा। गुप्त रीति से युद्धास्त्र-निर्माण बहुत ही हानिकर है। इस तथ्य का ज्ञान कराना भी राष्ट्र-संघ का उद्देश्य है। इस धारा का स्पष्ट भाव यह है कि विश्व में युद्ध और अशान्ति का कारण शस्त्रास्त्रों की वृद्धि है; इसलिए जब तक शस्त्रास्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा का अन्त नहीं किया जायगा, तब तक विश्व-शान्ति के लिए भयंकर खतरा बना रहेगा। विधान सम्पूर्ण रूप से युद्धास्त्रों के परित्याग के लिए आग्रह नहीं करता। वह अस्त्रों की संख्या को परिमित कर देना चाहता है। राष्ट्र-रक्षा के लिए जितने अस्त्र-शस्त्रों की आवश्यकता हो, उतने ही रक्खे जायँ। राष्ट्र-संघ के विधान की दृष्टि में गुप्त कम्पनियों-द्वारा युद्ध के अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण आपत्ति-जनक है।

इस धारा में तीन मूल सिद्धान्तों की स्थापना की गई है—

(१) अखिल राष्ट्रों में युद्धास्त्रों की न्यूनता। सबसे पूर्व पराजित राष्ट्र निःशस्त्रीकरण को स्वीकार करे। तदुपरान्त फिर समस्त राष्ट्र उसे अपनावे।

(२) सेनाएँ इतनी कम कर दी जायँ कि केवल राष्ट्र के भीतर शान्ति-व्यवस्था और बाहरी आक्रमणों से रक्षा की जा सके।

(३) राष्ट्र-संघ का यह उत्तरदायित्व है कि वह इन सिद्धान्तों को कार्य-रूप में परिणत करे।

राष्ट्रपति विल्सन के चौदह सिद्धान्तों में से एक सिद्धान्त यह था कि 'इस बात की यथेष्ट गारन्टी दी जाय एवं ली जाय कि राष्ट्रीय-युद्धास्त्र उतनी सीमा तक न्यून कर दिये जावेंगे, जितने राष्ट्र-रक्षा के लिए आवश्यक होंगे।' इस सिद्धान्त का प्रयोग आरम्भ में केवल विजित राष्ट्रों के लिए किया गया और वर्सेलीज़ की सन्धि के अनुसार

जर्मनी, आस्ट्रिया आदि राष्ट्रों को निःशस्त्र कर दिया गया। जर्मनी पराजित राष्ट्र था, उसने विजेता राष्ट्रों के इस निर्णय को स्वीकार कर लिया। जर्मनी को यह आश्वासन दिया गया कि जर्मनी के निःशस्त्र हो जाने पर राष्ट्र-संघ के सदस्य भी अपने-अपने राष्ट्र के शस्त्रास्त्रों में कमी करने का प्रयत्न करेंगे।

इसी उद्देश्य को लेकर राष्ट्र-संघ में निःशस्त्रीकरण की समस्या खड़ी हो गई और उसके समाधान के लिए निःशस्त्रीकरण - कमीशन (Disarmament Commission) नियुक्त किया गया एवं निःशस्त्रीकरण-सम्मेलनों का आयोजन किया गया। परन्तु यह सब प्रयत्न विफल रहा। सत्य तो यह है कि सबल राष्ट्र अपने अस्त्र-शस्त्रों में कमी करना आत्मघातक समझते हैं। क्योंकि अस्त्रों की कमी हो जाने से वे अपने विशाल साम्राज्यों की रक्षा कैसे कर सकेंगे। जब-जब निःशस्त्रीकरण-सम्मेलन हुआ, तब-तब साम्राज्यवादियों ने यह तर्क पेश की कि—'सुरक्षा के बिना निःशस्त्रीकरण नहीं हो सकता।' (No disarmament without adequate Security.) जो राष्ट्र-संघ के सिद्धान्तों के समर्थक थे, उनका यह कहना था कि— 'बिना निःशस्त्रीकरण के सुरक्षा संभव नहीं।' इस प्रकार के वितण्डा-वाद में उलझकर राजनीतिज्ञों ने यह प्रमाणित कर दिया कि यथार्थ में शस्त्रास्त्र युद्ध के मौलिक कारण नहीं हैं। यह युद्धास्त्र तो किसी हित की रक्षा के लिए हैं, जिसके लिए लड़ाइयाँ लड़ी जाती हैं और वह है—साम्राज्यवाद। एशिया में यूरोप के साम्राज्यों की रक्षा के लिए यूरोप इस शस्त्रास्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा में उलझ गया है। अतः जब तक युद्ध के मौलिक और यथार्थ कारणों को खोजकर उनके निवारण का प्रयत्न न किया जायगा, तब तक निःशस्त्रीकरण - सम्मेलन सफल ही नहीं हो सकते। और न राष्ट्रीय-शस्त्रीकरण में ही परिवर्तन हो सकता है।

धारा १०—राष्ट्रों की राजनीतिक-स्वतंत्रता की रक्षा

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्त करने के लिए राष्ट्र-संघ को तीन प्रकार के अधिकार दिये गये हैं। सर्वप्रथम, राष्ट्र-संघ की कौंसिल एक मध्यस्थ की हैसियत से, दोनों दलों की सम्मति से विवाद का निर्णय कर सकती है।

द्वितीय, कौंसिल कार्य-कर्त्ता की हैसियत से सिफारिशें कर सकती है। अन्त में राष्ट्र-संघ को यह अधिकार दिया गया है कि वह शान्ति-भंग करनेवाले राष्ट्र को रोकने का प्रयत्न करे। विधान-धारा १० इस प्रकार है—

'संघ के सदस्य स्वीकार करते हैं कि किसी राज्य की सीमा पर आक्रमण न किया जाय और उसके राजनीतिक-स्वाधीनता को आघात न पहुँचाया जाय। यदि इस सिद्धान्त के विपरीत कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र पर चढ़ाई करने की धमकी दे, चढ़ाई करे या आक्रमण का भय हो, तो कौंसिल ऐसा परामर्श देगी, जिससे इस सिद्धान्त की रक्षा हो सके।'

राष्ट्रपति विल्सन की दृष्टि में यह धारा विधान की आधार-स्तम्भ थी। 'इसी धारा के कारण अमेरिकन सीनेट को विशाल बहुमत से विधान की स्वीकृति के विपरीत सम्मति देनी पड़ी।' * विगत चीन-जापान-युद्ध ने यह प्रमाणित कर दिया कि उपर्युक्त सिद्धान्त कोई मूल्य नहीं रखता। इसका कारण यह हो सकता है कि इसमें राष्ट्र-संघ

---

* It was largely responsible for the American Senate's refusal to vote by the necessary majority for the acceptance of the covenant.

—*Intelligent Man's way to prevent War p. 384.*

के उत्तरदायित्व को स्पष्ट नहीं किया गया है, अथवा राष्ट्र-संघ की कौंसिल अपनी अशक्ति के कारण सिद्धान्त का पालन नहीं कर सकी। वास्तव में आक्रमणकारी राष्ट्र के प्रतिकूल कोई कार्य करने के लिए उस कार्य में उस राष्ट्र की सम्मति लेना न्याय-संगत नहीं।

आक्रमण से चीन की सुरक्षा के लिए प्रयत्न करने में कौन्सिल ने जापान की सम्मति पाने की चेष्टा की। इसी के फलस्वरूप स्थिति भयंकर बन गई। क्या कौन्सिल का यह कार्य अपराधी को न्यायकर्त्ता का आसन देने से कुछ कम था? यदि राष्ट्र-संघ के समस्त सदस्यों के हृदय में शान्ति-स्थापन और चीन की रक्षा के लिए कामना होती, तो क्या वे चीन और जापान की सम्मति के बिना उस कामना को क्रियात्मक रूप नहीं दे सकते थे? वे जापान का विरोध करके चीन की रक्षा कर सकते थे; पर सबल राष्ट्र से कोई बैर क्यों ले? साम्राज्यवादी राष्ट्रों का यह मनोविज्ञान अपना काम कर रहा था।

धारा ११—शान्ति-स्थापन के लिए सदस्य एवं प्रधान-मन्त्री का उत्तरदायित्व

१—'यदि कोई युद्ध छेड़े या युद्ध की धमकी दे, जिसका संघ के किसी सदस्य-राष्ट्र पर तुरन्त ही प्रभाव पड़ना सम्भव हो, या न हो, संघ के लिए यह चिन्ता का कारण होगा। संघ ऐसा कार्य करेगा, जो राष्ट्रों की शान्ति-रक्षा के लिए विवेकपूर्ण और प्रभावशाली समझा जायगा। यदि किसी दशा में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय, तो संघ के किसी सदस्य-राष्ट्र की प्रार्थना पर प्रधान मंत्री तुरन्त कौंसिल का अधिवेशन निमन्त्रित करेगा।'

२—'यह प्रत्येक राष्ट्र का मित्रवत् अधिकार विघोषित किया जाता है, कि कौंसिल या असेम्बली के सामने वह उन परिस्थितियों को उप-

स्थित करेगा, जिनका उन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता है।'

युद्ध को रोकने के लिए समस्त विधान में केवल दो धाराएँ हैं—धारा ११ एवं १५; परन्तु इन धाराओं के अन्तर्गत कोई कार्य करने के लिए सबसे बड़ी बाधा है—'सर्वसम्मति-नियम' (Unanimity Rule); परन्तु यदि शान्ति के इच्छुक शक्तिशाली राष्ट्र यह चाहें कि युद्ध रुक जाय, तो वे विग्रही पक्षों को छोड़कर भी युद्धावसान का उपाय सोच सकते हैं और उसे काम में ला सकते हैं।

धारा १३

राष्ट्र अपने विवादों का निर्णय कराने के लिए उन्हें स्थायी न्यायालय (Permanent court of Internationl Justice) को सौंप सकते हैं। न्यायालय को सुपुर्द किये गये विवाद के निर्णय के सम्बन्ध में विधान-धारा १३ (४) में लिखा है—

'राष्ट्र-संघ के सदस्य यह स्वीकार करते हैं कि न्यायालय के निर्णय को पूरी सचाई के साथ कार्य-रूप में लायेंगे और वे उन राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध नहीं छेड़ेंगे, जिन्होंने न्यायालय के निर्णय को स्वीकार कर लिया हो। यदि किसी दशा में ऐसे निर्णय को कार्य-रूप में परिणित न किया जा सके, तो कौंसिल यह विचार करेगी कि किस उपाय से वह निर्णय काम में लाया जा सकता है।'

यदि दो राष्ट्र अपने विवाद को निर्णय के अर्थ न्यायालय को सौंप देंगे, तो उन्हें उसके निर्णय का पालन करना आवश्यक ही नहीं, स्वाभाविक भी है; परन्तु यदि विवाद सबल राष्ट्रों में हुआ, तो निर्णय को कोई भी राष्ट्र अस्वीकार कर सकता है। ऐसी दशा में, उस निर्णय का कार्य-रूप में लाने का दायित्व कौंसिल पर आ जाता है; पर कौंसिल क्या है, यह आप अब जान गये होंगे ! कौंसिल (Council) स्थायी

सदस्यों (सबल राष्ट्रों) की एक गुप्त-संस्था है। तब यह कैसे सम्भव हो सकता है, कि सबल राष्ट्रों की सभा एक सबल राष्ट्र के विरुद्ध कुछ कर सकेगी ?

धारा १५

यदि किसी विवाद के निर्णय के लिए धारा १३ के अन्तर्गत कार्य नहीं किया गया हो और भविष्य में, विवाद के युद्ध के रूप में बदल जाने की संभावना हो, तो संघ के सदस्य-राष्ट्र को उसे कौंसिल की जाँच, समझौता या रिपोर्ट के लिए सौंप देना चाहिए। यदि कौंसिल कोई निर्णय करने में विफल रहे, तो दो उपाय हो सकते हैं। कौंसिल विवाद के पक्षों को छोड़कर, सर्व-सम्मति से रिपोर्ट तैयार करेगी या सर्व-सम्मति से रिपोर्ट तैयार न कर सकेगी। यदि रिपोर्ट सर्व-सम्मति है, तो संघ का कोई भी सदस्य उस पक्ष के विरुद्ध युद्ध नहीं छेड़ सकता, जो उसकी रिपोर्ट की सिफारिशों को स्वीकार करता है। यदि कौंसिल सर्व-सम्मति से रिपोर्ट स्वीकार नहीं करती, तो ३ मास की अवधि के उपरान्त, सदस्य, जहाँ तक विधान का संबंध है, युद्ध कर सकते हैं। इस युद्ध को रोकने का राष्ट्र संघ पर कोई दायित्व नहीं है। विधान की यह सबसे बड़ी त्रुटि है। विधान-अन्तर्राष्ट्रीय-कानून (International law) की दृष्टि में युद्ध को अपराध घोषित नहीं करता। राष्ट्र-संघ युद्ध रोकने के लिए भी बहुत कम प्रभावशाली साधन प्रदान करता है। जो कुछ साधन उसके पास हैं, वे शक्तिशाली राष्ट्रों की सामरिक नीति के कारण व्यर्थ हैं।

यदि रिपोर्ट के विरुद्ध एक भी राष्ट्र की सम्मति प्राप्त हो गई (जिसका प्राप्त होना, वर्तमान परिस्थिति में पूर्णतः संभव है) तो युद्ध का मार्ग निष्कंटक हो जायगा। फिर तो राष्ट्र-संघ के सदस्य संघ के सिद्धान्तानुसार युद्ध में भाग ले सकते हैं।

धारा १६—व्यापारिक और आर्थिक-वहिष्कार

'यदि राष्ट्र-संघ का कोई सदस्य धारा १२, १३ या १५ की उपेक्षा कर युद्ध छेड़ दे, तो यह स्वभावतः समझा जायगा कि उसने अन्य सदस्यों के विरुद्ध युद्ध ठान लिया है। अन्य सब सदस्य उस राष्ट्र के साथ अपने व्यापारिक और आर्थिक संबंध तुरन्त त्याग देंगे ; राष्ट्र-संघ के विधान का उल्लंघन करनेवाले राष्ट्र और अन्य राष्ट्रों के सब संबंध-विच्छेद कर दिये जायेंगे।......'

यथार्थ में शान्ति-स्थापना की दृष्टि से यह धारा अधिक उपयोगी और आवश्यक है ; परन्तु इसकी उपयोगिता गुट्टबन्दियों के तथा शक्तिशाली राज्यों की कूटनीति के कारण कोई मूल्य नहीं रखती।

साम्राज्यवादी जापान ने धारा ४५ के अन्तर्गत किये गये कौंसिल के कार्य की उपेक्षा की। यही नहीं, उसने राष्ट्र-संघ से संबंध-विच्छेद की सूचना दे दी ; परन्तु राष्ट्र-संघ के समर्थक इस धारा का प्रयोग न कर सके। हमने अन्यत्र बतलाया है कि आर्थिक-वहिष्कार एक विशाल शस्त्र है, जिसके सामने बड़े-बड़े राष्ट्रों को भी झुकना पड़ता है। भारत ने विदेशी-वस्त्र-वहिष्कार-आन्दोलन से संसार को यह दिखला दिया कि कोई राष्ट्र रक्तपात किये बिना—जल, स्थल, आकाश-सेना के बिना—किस प्रकार आदर्श अहिंसा-व्रत का पालन कर अपने राष्ट्र में स्वदेशी का प्रचार कर सकता है।

हमारे कथन का सारांश यह है कि राष्ट्र-संघ का विधान स्पष्ट नहीं है। इसी स्पष्टता का बहाना लेकर संघ के सबल सदस्य अपने दायित्व का पालन नहीं करते। जहाँ राष्ट्र-संघ कौंसिल और असेम्बली के कर्त्तव्य और दायित्व स्पष्ट हैं, वहाँ महाशक्तियों की कूटनीति संघ को न्याय-पूर्वक कार्य करने में बाधा उपस्थित करती है। इस प्रकार राष्ट्र-संघ अपनी आन्तरिक त्रुटियों और कूटनीति-कुशल राजनीतिज्ञों की अधि-

कार-लिप्सा तथा राज्य-विस्तार के लालसा के कारण पौरुष-हीन बन गया है। वह वर्तमान स्थिति में, एक संगठित पाखण्ड के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

२—पेरिस की सन्धि (Pact of Paris)

अगस्त २७ सन् १६२८ ई० को विश्व-विख्यात पेरिस की सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये गये। यह सन्धि कैलौग-ब्रियान्ड-पैक्ट के नाम से भी प्रसिद्ध है। हम इसकी आलोचना करने से पूर्व पेरिस की सन्धि की प्रतिलिपि यहाँ देते हैं :—

धारा १—अपने-अपने राष्ट्रों की प्रजा के नाम पर बड़े-बड़े प्रतिज्ञा करनेवाले राष्ट्र यह घोषित करते हैं कि वे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने के निमित्त युद्धावाहन की निन्दा करते हैं और अपने पारस्परिक सम्बन्धों में युद्ध को राष्ट्रीय नीति का साधन स्वीकार नहीं करते।

२—बड़े-बड़े प्रतिज्ञा करनेवाले राष्ट्र यह स्वीकार करते हैं कि यदि उनमें किसी प्रकार का कोई विवाद उत्पन्न हो जाय, तो वे उसका निपटारा या निर्णय शान्तिमय साधनों के अतिरिक्त और किसी उपाय से नहीं करेंगे।

संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के स्वराष्ट्र सचिव (Secretary) Stimson ने पेरिस-सन्धि पर एक वक्तव्य में अपने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे विचारणीय हैं—

'War between nations was renounced by the Signatories of the Briand-Kellogg-Pact. This means that it has become illegal, throughout practically the entire world. It is no longer to be the source & subject of rights.'

'Again the Briand-Kellogg-Pact provides for no sanctions of force. It does not require any signatories to intervene with measures of force in case the Pact is violated. Instead it rests upon sanction of public opinion which can be made one of the most potent sanctions in the world.' *

सारांश यह है कि ब्रियान्ड-कैलोग-पैक्ट के कारण युद्ध गैरकानूनी बना दिया गया है। अब न यह स्वत्वों का आधार रहा, न अधिकारों का जनक ही। सन्धि में बल-प्रयोग (Force) के लिए भी कोई स्थान नहीं दिया गया है। यदि इस सन्धि का कोई उल्लंघन करे, तो उसके विरुद्ध सैनिक-शक्ति का प्रयोग करना आवश्यक नहीं है। यह सन्धि तो अपनी शक्ति लोकमत से प्राप्त करती है; इसलिए लोकमत ही इसका एकमात्र संरक्षक है।

इस सन्धि में यह तो स्पष्ट बतलाया गया है कि युद्ध राष्ट्रीय-नीति का साधन (Instrument of National policy) नहीं है— वह ग़ैर-कानूनी है; पर युद्ध क्या है और बल-प्रयोग क्या है?—इन पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया। यह सन्धि उस समय किस काम आयेगी, जब उस पर हस्ताक्षर करनेवाला कोई राष्ट्र युद्ध का शंखनाद हाथ में लेकर रंगभूमि की शरण लेगा? वह कौनसा साधन है, जिससे ऐसे संकट के समय सन्धि की सम्मिलित रूप से रक्षा की जा सकती है? यह तो ऐसा ही विधान हुआ है कि कोई राष्ट्रीय व्यवस्थापक कानून तो स्वीकृत कर ले; परन्तु उसको प्रजा-द्वारा मनवाने के लिए Executive Government सरकार कोई प्रयत्न न करे।

यह मान लिया गया कि युद्ध राष्ट्रीय-नीति का साधन नहीं है; पर

* International Conciliation-January 1933 p. 22-23. Carnegei Endowment for International peace Newyork U. S. A.

कोई लड़ाकू राष्ट्र अपने स्वार्थ-साधन के लिए उसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का साधन बना सकता है। ऐसा करने में उसे किसी बाधा का सामना न करना पड़ेगा।

हम यह स्वीकार करते हैं कि पेरिस की सन्धि युद्ध को ग़ैर-कानूनी घोषित करती है।

परन्तु प्रश्न तो यह है कि यदि कोई राष्ट्र (जिसने पेरिस-सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये हुए हैं) सन्धि का उल्लंघन कर युद्ध छेड़ता है, तो उस समय सन्धि-पत्र के हस्ताक्षर-कर्त्ताओं का क्या कर्त्तव्य होगा ! इसका कोई उत्तर सन्धि-पत्र में नहीं है ! क्या शान्ति के देवदूत, पेरिस-सन्धि के जनक संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका की तरह जापान द्वारा चीन के अपहरण को तटस्थ भाव से देखते रहना ही इस सन्धि का अभिप्राय है ! संसार में ऐसे सन्धि-पत्रों के होते हुए भी उनके समर्थकों-द्वारा युद्धों का आयोजन यह सिद्ध करता है, कि इन सन्धियों के पीछे कोई शक्ति नहीं ; इसीलिए असफलता का सामना करना पड़ता है।

जब पेरिस-पैक्ट पर हस्ताक्षर किये गये, तो सर्वप्रथम संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के सचिव कैलौग ने इस सन्धि की स्वीकृति के साथ कुछ संरक्षण पेश किये। कैलौग ने घोषित किया कि—

'हर समय प्रत्येक राष्ट्र को यह स्वतंत्रता प्राप्त है कि वह सन्धियों की शर्तों का विचार किये बिना विदेश के आक्रमण से अपने प्रदेशों की रक्षा करे। वह राष्ट्र ही यह निर्णय करने के योग्य है कि किन परिस्थितियों में आत्मरक्षा के लिए युद्ध किया जा सकता है।'

इस प्रकार फ्रान्स की सरकार ने 'आत्मरक्षा' का संरक्षण उपस्थित किया। ब्रिटिश सरकार ने कैलौग के मन्तव्य का समर्थन किया और साथ ही यह भी कहा कि संसार के कुछ भागों में, जिनकी समृद्धि और

अभ्युदय ब्रिटिश-शासन की शान्ति और सुरक्षा के लिए विशेष हित की बात है, ब्रिटिश-शासन को उन भागों में 'कार्य की स्वतंत्रता' (Freedom of action) होनी चाहिए। कहना न होगा कि यह संरक्षण स्वीकार कर लिये गये। जब जापान ने चीन पर आक्रमण किया, तो उसने बतलाया कि यह कार्य पेरिस-सन्धि (Pact of Paris) के प्रतिकूल नहीं ठहराया जा सकता; क्योंकि पेरिस-सन्धि 'आत्मा-रक्षा' के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। जापान ने 'आत्मरक्षा' के लिए ही ऐसा किया है। वह चीन पर आक्रमण करना नहीं चाहता था।

अब पाठक यह स्पष्टतः जान गये होंगे कि इन शान्ति-स्थापन के लिए की गई सन्धियों का यथार्थ में क्या उद्देश्य है, और इनसे कहाँ तक शान्ति-स्थापना हो सकती है? यह ठीक है कि अमेरिका संसार को यह दिखला देना चाहता है कि वह शान्ति की स्थापना के लिए सबसे अधिक प्रयत्नशील है; परन्तु चीन-जापान-युद्ध के पाठक क्या इस कथन को सत्य मान सकेंगे?

चौथा अध्याय

युद्ध के मौलिक कारण

१—आर्थिक कारण

संसार में युद्ध सदैव से होते आये हैं। राज-शक्ति के विकास से पूर्व भी मानव-समाज में सामरिक-प्रवृति के लक्षण विद्यमान थे। आज भी अर्द्ध-सभ्य या वन्य जातियों में युद्ध बड़े भीषण रूप में मिलता है ; पर इसका यह निष्कर्ष नहीं कि युद्ध सभ्यता के लिए अनिवार्य है। जिस प्रकार आदिकाल से मानव-स्वास्थ्य के लिए रोग नामक शत्रु पीछे लग गया है, उसी प्रकार मानव-सभ्यता के पीछे भी युद्ध का राजरोग लग गया है। युद्ध तो सभ्यता का रोग है।

युद्ध मानव-प्रकृति का स्वाभाविक गुण नहीं कहा जा सकता। युद्ध अनेक मानवीय दूषणों और दुर्बलताओं के समान ही एक महा-

दोष है। जब-जब संसार में भीषण महायुद्धों की सम्भावना प्रतीत हुई, तब-तब संसार के विचारकों ने एक-स्वर से उन्हें सभ्यता के लिए घातक बतलाया।

यह आप जानते हैं कि मानव-प्रकृति परिवर्त्तनशील है। प्रत्येक युग में उसमें आश्चर्य-जनक परिवर्त्तन होते रहे हैं। समाज, व्यवस्था, आचार-विचार, शासन-पद्धति, नियन्त्रण, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि ने प्रत्येक युग की मानवी-प्रकृति में बड़े-बड़े परिवर्त्तन किये हैं। आज हम जिन आचार-विचारों और संस्कृति को श्रेष्ठ समझते हैं, उन्हें हमारे पूर्वज असभ्यता का नाम देते थे। आज हम जिन विचारों और भावनाओं को युग-धर्म कहते हैं, सम्भव है, एक शताब्दी के बाद वे जंगलीपन के भाव कहे जायँ। क्या उन्नीसवीं शताब्दी का भारत यह कल्पना कर सकता था कि महात्मा गांधी के अहिंसात्मक-सत्याग्रह-द्वारा वह अपनी स्वाधीनता का युद्ध करेगा?

यह बिलकुल सत्य है कि यदि उन मनुष्यों को, जो रणभूमि में जाकर रक्तपात करते हैं, समुचित सैनिक-शिक्षण न दिया जाय, या उनको निन्यत्रण में रहना न सिखलाया जाय, तो वे कदापि एक सैनिक के कर्त्तव्यों का पालन न कर सकेंगे। इससे प्रमाणित है कि मनुष्यों में सैनिक-प्रवृत्ति जन्म से उत्पन्न नहीं होती, वह तो शिक्षण-द्वारा पैदा की जाती है। सैनिक-शिक्षणालय (Military Training Institute) मनुष्य की प्रकृति को कितना बदल देते हैं, यह इसी तथ्य से प्रकट हो जाता है।

प्राचीन युग में युद्ध शारीरिक-बल के प्रदर्शन के लिए होते थे। जिन मनुष्यों या राज्यों पर किसी राजा को अपना आतंक फैलाना होता, उनके विरुद्ध युद्ध ठान दिया जाता।

नेपोलियन, सिकन्दर, मुहम्मद गोरी, बाबर आदि जितने विजेता

हुए, सभी ने अपने बल की संसार में धाक जमाने की कोशिश की ; परन्तु राज्य-संस्था के किसान के साथ युद्ध के उद्देश्यों में भी परिवर्तन होते रहे। बाद में राज-विस्तार की आकांक्षा से प्रेरित होकर राजा अपनी सेनाओं को अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर राज्यों पर आक्रमण करने लगे। जो देश जीते, उन पर शासन किया। इस प्रकार साम्राज्यवाद को जन्म मिला।

वैसे तो युद्ध के अनेक प्रमुख और गौण कारण हैं। उनका कोई एक कारण बतलाना अज्ञानता होगी ; परन्तु वर्तमान युग में, जब संसार के राष्ट्रों के शासन का आधार आर्थिक है, राजनीतिक नहीं ; युद्ध के प्रमुख कारण भी आर्थिक ही हैं। राष्ट्रों की यह धारणा है कि अर्थ की अधिकाधिक प्राप्ति युद्ध-द्वारा ही संभव है। यदि स्थायी शान्ति रही, तो अर्थ प्राप्ति में बाधा उपस्थित होगी। यह ठीक है कि ऐसी सामरिक-मनोवृत्तिवाले राष्ट्र अपने इस मूल उद्देश्य को अपनी प्रजा पर प्रकट नहीं करते। प्रजा को यह बतला दिया जाता है कि यह राष्ट्र, स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय-स्वत्वों, राष्ट्र-सम्मान-रक्षा या निर्बल राष्ट्रों की राजनीतिक स्वतंत्रता तथा हितों की रक्षा के लिए युद्ध में भाग ले रहा है। जब शान्ति-सन्धि की शर्तों पर विचार करने का अवसर आता है, तब युद्ध के वास्तविक कारणों का पता चलता है।

२—औद्योगिक क्रान्ति—

आज से शताब्दियों पूर्व हमारा जीवन कैसा था और आज कैसा है ?—इस पर विचार करने से हमें विशाल अन्तर प्रतीत होगा। प्राचीन युग में मनुष्य अपनी जिन्दगी के निर्वाह के लिए सामग्री जुटाने में इतना व्यग्र रहता था कि उसे भोजन-वस्त्र की समस्या के अतिरिक्त और किसी बात पर विचार करने का समय बहुत कम मिलता था। पाठक यह ध्यान में रक्खें कि मैं यह बात भारत के वैदिक-काल के विषय

में नहीं कह रहा हूँ ; क्योंकि वह तो भारत का सुवर्ण-युग था। वह युग तो इतना अधिक उन्नत और समृद्धिशाली था कि आर्य विद्वानों ने भौतिक उन्नति के साधन सोचने के अतिरिक्त आध्यात्मिक-प्रयोग-शाला में आश्चर्य-जनक आविष्कार किये थे। यह बात तो तीन या चार शताब्दी पूर्व की है। मानव-मस्तिष्क उत्कर्षशील साधनों के सोचने और भौतिक अभ्युदय के साधन जुटाने में मग्न था। ज्ञान-विज्ञान का सूर्यो-दय होनेवाला तथा यूरोप में वैज्ञानिक-शिक्षा के लिए विद्यालय और विद्यापीठ स्थापित होने लगे। जहाँ पहले चर्खे से सूत कातकर, करघे से कपड़े बुनकर यूरोपवासी अपने शरीर को ढाँपने की कोशिश करते थे, अब वहाँ के नगरों में वैज्ञानिक-उन्नति के कारण मशीनों का उप-योग होने लगा। वाष्प-शक्ति से मशीनें चलाकर उद्योग में एक विचित्र क्रान्ति कर दी गई। इसका परिणाम यह हुआ कि कम मजदूरों के द्वारा अधिक परिमाण में माल तैयार होने लगा। कृषि में भी उन्नति हुई और भोजन की उपज भी बढ़ गई। ग्रामों के लोग अपने-अपने ग्रामों को छोड़-छोड़कर शहरों में बसने लगे। इस प्रकार यूरोप में बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों का विकास होने लगा। जब यातायात के साधनों में वाष्प-शक्ति का प्रयोग किया जाने लगा, तो बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। नाविक-शक्ति का भी विकास होने लगा। सन् १८१६ ई० में सबसे पहले जलयान पर स्टीम-इंजिन लगाकर यात्रा की गई। सन् १८३८ ई० में ब्रिस्टल और न्यूयार्क के बीच में स्टीमर-जहाज़ आने-जाने लगे। सन् १८४० ई० में रेलवे का आविष्कार हुआ और नई रेलवे लाइनें बनाई जाने लगीं। सन् १८५० ई० में समस्त संसार में केवल २३००० हज़ार मील रेलवे लाइन थी। प्रारम्भ में काष्ठ के जलयान बनाये जाते थे, उन्हीं में स्टीम-इंजिन लगा दिया जाता था ; परन्तु वाष्प के आविष्कार के बाद लकड़ी की जगह लोहे के जहाज

बनाये जाने लगे। विद्युत् के आविष्कार ने तो आश्चर्य-जनक भौतिक उन्नति करके दिखला दी। आज भौतिक-जीवन में विद्युत् का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोपवासियों ने नवीन-संसार (अमेरिका) की खोज की। इसी समय एशिया में प्रवेश के जल-मार्गों की खोज हुई। इन खोजों के कारण स्टीम से चलनेवाले जहाजों के निर्माण में विशेष सहायता मिली। नवीन संसार से जो बहुमूल्य सम्पत्ति और खनिज-पदार्थ यूरोप में आये, उनसे यूरोप की व्यावसायिक तथा व्यापारिक उन्नति में अधिक सहायता मिली। इन आविष्कारों और खोजों के परिणाम-स्वरूप उद्योगवाद का जन्म हुआ। सबसे पूर्व इसका प्रवेश यूलेण्ड में हुआ। तत्पश्चात् फ्रान्स, जर्मनी, केन्द्रिय यूरोप और रूस में भी उद्योगवाद ने प्रवेश किया।

३—पूँजीवाद

जब यूरोप में उद्योगवाद का विकास होने लगा, तो पूँजी का महत्त्व अधिक बढ़ गया। G. D.H. Cole के कथनानुसार—'पूँजी-वाद का अर्थ है—लाभ के लिए माल तैयार करने की वह विकसित उन्नत-प्रणाली, जिसमें माल तैयार करने के साधनों पर (सरकार का नहीं) व्यक्ति-विशेष का स्वामित्व अधिकार स्थापित हो जाता है। इस प्रणाली से अकाल ही होता है, सुकाल नहीं ; यद्यपि पूँजीपति बहुधा इसकी चेष्टा करते हैं कि खास-खास माल सस्ता पड़े। पूँजीवाद के लिए माल तैयार करने का मुख्य उद्देश्य है, लाभ उठाना। वह चाहता है कि मजूरी का खर्च बढ़ने न पावे, जिससे साधारण जनता की क्रम-शक्ति बढ़ने में बाधा पड़ती है।' *

* 'पूँजीवाद की परिभाषा'—लेखक, पं० जवाहरलाल नेहरू, 'आज' काशी २१ नवम्बर १९३३ ई०

मजदूर पूँजीपतियों के लिए धनोत्पत्ति का एक उपयोगी साधन है। उसके परिश्रम के फल-स्वरूप उसकी पूँजी में वृद्धि होती है। मजदूरों को मिल और कारखानों में इसलिए काम पर लगाया जाता है कि वे पूँजी-पति को अधिकाधिक सम्पत्ति प्रदान करें। अतः जब मजदूरों के द्वारा पूँजी में वृद्धि होना रुक जाता है, तब उन्हें काम नहीं दिया जाता। इस प्रकार वे बेकार होकर संसार में अशान्ति का कारण बनते हैं। मजदूर पूँजी को बढ़ाने में कब असफल होते हैं, यह प्रश्न विचित्र-सा प्रतीत होता है; पर है यह विचारणीय। इस प्रश्न पर आगे विचार किया जायगा।

जब यूरोप के राष्ट्रों में उद्योग की उन्नति के साथ-साथ पूँजीवाद का अधिक ज़ोर बढ़ गया, तब एक नवीन समस्या पैदा हो गई। माल की पैदावार इतनी अधिक हो गई कि अपने राष्ट्र की आवश्यकताएँ पूरी होने के अतिरिक्त माल अधिक बचने लगा। उसकी खपत के लिए उपाय सोचे जाने लगे। यूरोप के राष्ट्रों में अब व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा का आविर्भाव हुआ। अब प्रत्येक यूरोपीय देश अपने माल की खपत के लिए यूरोप से बाहर नवीन बाजारों की खोज करने लगा। जब तक यूरोप के राष्ट्र अपने समान राष्ट्रों की उन्नति के लिए पूँजी लगाते रहे, तब तक उन्हें विशेष लाभ नहीं हुआ। यथा, जब अंग्रेजों ने अमेरिका में अमेरिकन रेलवे के बनवाने में अपनी पूँजी लगाई, इससे उन्हें विशेष लाभ नहीं हुआ। यह तो प्रोफ़ेसर हेराल्डलस्की के शब्दों में—'लाभों का पारस्परिक विनिमय' (Reciprocal Interchange of benefits) ही कहा जा सकता है।

नेपोलियन युद्धों के उपरान्त ही वर्तमान उद्योगवाद का प्रारम्भ होता है। अपने जन्म-काल से अर्द्ध-शताब्दी तक यह खूब उन्नत हुआ। विज्ञान के आश्चर्यजनक विकास ने मशीन की शक्ति को अधिक

बढ़ा दिया। जब अधिक उत्पादन होने लगा, तब नवीन बाजारों के लिए खोज होने लगी। नवीन देश अपनी व्यापारिक उन्नति में अग्रसर होने लगे। उन्होंने अपने-अपने बाजारों में अन्य प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों के माल का वहिष्कार करना शुरू कर दिया। इसमें उन्हें खूब सफलता मिली ; परन्तु यूरोपीय राष्ट्र इससे निराश न हुए। उनकी नवीन बाजारों की खोज निरन्तर होती रही। इस प्रकार निरन्तर प्रयत्न के उपरान्त पूर्व अफ्रीका, और एशिया का द्वार खुल गया। उनकी मनोकामना पूर्ण हुई। उनके हाथ ऐसे बाजार लगे, जो उन्हें न केवल मालामाल ही कर सकते थे ; किन्तु उन्हें राजशक्ति प्राप्त करने के लिए भी सुयोग दे सकते थे। पूँजीवाद ने यूरोपीय देशों की सरकारों को एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए साधन प्रदान किये।

'व्यापार सदैव पताका (राज्य) के पीछे पीछे चला ; परन्तु अब व्यापार पूँजी के पीछे-पीछे चलने लगा। राज्य और पूँजी एक हो गये। कूटनीतिज्ञता और व्यवसाय ने मिलकर काम किया।'*

इस प्रणाली के अनुसरण से पूँजीपति की शक्ति बढ़ गई और एशिया, अफ्रीका आदि में लूट करने का पूरा सुयोग मिल गया। पूँजीपतियों ने अपने हितों की रक्षा करने के लिए अपनी-अपनी राष्ट्रीय सरकारों से सुसज्जित सेनाएँ उन-उन देशों से मँगवाईं, जहाँ-जहाँ वे अपने बाजारों की तलाश में प्रवेश करते गये। इस प्रकार पूर्वी बाजारों पर पूर्ण अधिकार स्थापित करने के लिए सैनिक आतंकवाद का आश्रय लिया गया। बस, इस समय से पूँजीवाद ने एक नवीन रूप धारण किया। यह नवीन रूप 'आर्थिक-साम्राज्यवाद' के नाम से प्रसिद्ध है।

---

* Vide The World crisis and the problem of Peace By S. D. Chitale, p. 26 (1933)

४—आर्थिक-साम्राज्यवाद

वर्तमान शासन और राजनीति का मूलाधार 'अर्थ' है ; अतः इस युग के साम्राज्यवाद की भावना में भी विशाल अन्तर हो गया। उसका 'अर्थ' से ही अधिक संबंध होने के कारण वह 'आर्थिक-साम्राज्यवाद' (Economic Imperialism) के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग में 'आर्थिक साम्राज्यवाद' भी एक नवीन आविष्कार है। यह पूँजीवाद का निखरा हुआ स्वरूप आर्थिक-साम्राज्यवाद ही संसार में युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का एक मौलिक कारण है ; इसलिए हमें इसके स्वरूप को ठीक प्रकार जान लेना उचित होगा।

'आर्थिक-साम्राज्यवाद' एक नवीन पद है, जिसे हम बीसवीं सदी से पहले के शब्द-कोषों में नहीं पाते। इसका विकास अपने वर्तमान रूप में Boer War के बाद ही हुआ है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तर भाग में उद्योगवाद और राजनीतिक-क्रान्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुके थे। अब वे साम्राज्यवाद की नवीन आत्मा को ग्रहण कर उन्नति करना चाहते थे। इंगलैण्ड ही व्यवसाय और उद्योग में अग्रगण्य था ; इसलिए उसे सबसे प्रथम अपना बाजार ढूँढ़ने के लिए उपनिवेशों की आवश्यकता पड़ी।

सन् १८७५ ई० में इंगलैण्ड में डिज़रेली ने सबसे पहले १७६, ६०२ सैकड़े डालर का, अँग्रेज़ी सरकार के लिए, स्वेज़ नहर में हिस्सा खरीदकर और महारानी विक्टोरिया को 'भारत की सम्राज्ञी' घोषित कर-आर्थिक साम्राज्यवाद की नींव डाली। १८८०-६० में मलाया, बर्मा और बिलोचिस्तान भी अँग्रेजी साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिये गये। इसके बाद Joseph Chamberlain डिज़रेली की नीति का समर्थन करते हुए अपने को एक दल का नेता बनाकर ब्रिटिश-साम्राज्य

की जड़ मज़बूत करने के लिए चेष्टा करने लगा। इसी बीच फ्रान्स के तृतीय प्रजातन्त्र-शासन ने, अल्सेसलोरेन के हाथ से निकल जाने पर बड़े उत्साह और ज़ोश के साथ राज्य-विस्तार के लिए प्रयत्न किया। केवल बीस वर्षों में ३५ लाख वर्ग मील के प्रदेश को, जिसमें २६० लाख मनुष्य रहते थे, फ्रान्स के साम्राज्य के अन्तर्गत किया गया। साम्राज्यवादी हमवर्ग के व्यापारियों ने विस्मार्क को अपने विचारों का अनुयायी बना लिया और जर्मन-साम्राज्य ने बहुत शीघ्र अफ्रीका में १० लाख वर्ग मील के प्रदेश पर अपना आधिपत्य जमा लिया। रूस, जापान, स्पेन, पुर्त्तगाल, और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका इस प्रतिस्पर्द्धा में पीछे न रहे। उन्होंने भी अपने साम्राज्यों में खूब वृद्धि की; यहाँ तक कि वेलज़ियम-जैसे छोटे राष्ट्र ने भी अपनी मातृभूमि से अस्सी गुना अधिक भू-खण्ड पर अपना उपनिवेश स्थापित किया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में यूरोप के राष्ट्रों ने समस्त संसार का बँटवारा कर लिया था। जब शुरू-शुरू में उपनिवेश हथियाये गये, तब समझौते और सहयोग से काम लिया गया। यदि फ्रान्स इन्डोचीन पर अपना अधिकार स्थापित करता, तो इंग्लैंड शान्त रहता; यदि इंग्लैंड शिंगापूर पर कब्ज़ा करता, तो फ्रांस चुप रहता; परन्तु जब सब देश अधिकृत हो चुके और बँटवारे के लिए अधिक प्रदेश न रहे, तब उपनिवेशों के लिए यूरोपीय राष्ट्रों में संघर्ष होने लगा।

प्रतिस्पर्द्धा का यथार्थ उद्देश्य

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, पूँजीवाद को अपनी सफलता के लिए बाजार की आवश्यकता थी। राष्ट्रीय बाजार, अनेकों पूँजी-पतियों के कारण, यथेष्ट लाभ-प्रद सिद्ध नहीं हुआ। अतः अपने देश से बाहर नवीन बाजारों की खोज हुई। इस प्रकार उपनिवेशों की

स्थापना हुई। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इन उपनिवेशों पर अधिकार जमाने का मूल उद्देश्य आर्थिक था। उनमें यूरोप में उत्पन्न तथा निर्मित वस्तुएँ अधिक मूल्य पर बेची जा सकती थीं और इन उपनिवेशों से खाद्य-सामग्री और कच्चा माल अधिक सस्ता मिल सकता था।

उपनिवेशों पर अधिकार जमाने से ही कोई देश कच्चे माल की प्रतिद्वंद्विता में अपने प्रतिद्वंद्वी देश को हरा सकता है। उपनिवेश यदि स्वतंत्र रहें, तो वे कच्चे माल पर एकाधिकार कर अपने देश के लिए अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करने की चेष्टा कर सकते हैं। ज्यों-ज्यों पूँजीवाद बढ़ता गया, कच्चे माल की माँग भी बढ़ती गई। कच्चे माल की प्रतियोगिता ज्यों-ज्यों बढ़ती गई, त्यों-त्यों उपनिवेशों पर आधिपत्य जमाने के लिए झगड़ा बढ़ता गया। प्रत्येक यूरोपीय राष्ट्र यह चाहता है कि अधिक-से-अधिक उपनिवेश उसके निज के अधिकार में रहें; क्योंकि वैसी अवस्था में ही वह अपने प्रतिद्वन्द्वी को परास्त करने और कम मूल्य में कच्चा माल प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है।*

पूँजीपति के पीछे सेना

जब व्यापारिक-प्रतिद्वन्द्विता विकट रूप धारण कर लेती है और पूँजीपति को अपने माल की खपत करने में असफलता मिलती है, तब विभिन्न देशों के पूँजीपतियों में संघर्ष होने लगता है। उनकी सहायता के लिए उनके राष्ट्रों की सशस्त्र सेनाएँ रणभूमि में आ जाती हैं। यह कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि ब्रिटिश ने मिश्र देश पर अधिकार इसलिए जमाया कि ब्रिटिश-पूँजीपति वहाँ अपनी पूँजी लगा सकें।

---

* देखिए 'एशिया की क्रान्ति'—ले० डॉ० सत्यनारायण शास्त्री, पी० एच्० डी०, पृ० ९

दक्षिणी अफ्रीका का युद्ध केवल सुवर्ण-खानों को अधिकृत करने के लिए ही हुआ था। फ्रान्स ने नेपोलियन तृतीय के अधीन मैक्सिको पर इसलिए आक्रमण किया था कि मैक्सिको में पूँजी लगानेवाले फ्रेञ्च पूँजीपतियों की रक्षा हो सके। अमेरिका ने पूँजीपतियों के हित के लिए ही निकारागुआ, हेटी, प्रेमिकों को अमेरिका के समान बना दिया। रूस-जापान का युद्ध मंचूरिया में लकड़ी की रियायतों की रक्षा के लिए ही किया गया था। कोङ्गो के बर्बरतापूर्ण आतंककारी अत्याचार, मेक्सिको के तेल के लिए ब्रिटिश और अमेरिका के पूँजीपतियों की लड़ाई, ट्यूनिस को फ्रेञ्च का पराधीन राज्य बनाना; जापान-द्वारा कोरिया की राष्ट्रीयता का विनाश। इन सब युद्धों का ध्येय एक ही था। यद्यपि युद्ध-घोषणा करते समय अपने-अपने विविध मानवीय लक्ष्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। पूँजीपतियों ने बड़ी सफलता-पूर्वक अपने हितों की रक्षा के लिए अपनी-अपनी सरकारों को आग्रह किया कि वे राष्ट्रीय हितों के लिए लड़ें। एक प्रकार से सरकार और पूँजीपति में अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हो गया। यहाँ तक कि पूँजीवादो के हितों पर आक्रमण राष्ट्रीय अपमान माना जाने लगा।

ऐसी स्थिति में राज्य के पास सेना के अतिरिक्त रक्षा का और क्या साधन रह जाता है। राजों ने अपने-अपने पूँजीपतियों की रक्षा के लिए सशस्त्र सेनाएँ भेजकर युद्ध किये।

पूँजीवाद के इस विकास को भली-भाँति हृदयंगम कर लेना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब आर्थिक-साम्राज्यवाद ने ऐसा स्वरूप धारण किया और राज्य के ऊपर पूँजीवादियों-द्वारा लगाई गई पूँजी के व्याज-संग्रह करने का भार सौंपा गया, तो व्यापारिक सम्बन्धों में बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया। इसके लिए शक्तिशाली राज्य अपेक्षित था और इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि राज्य की भौतिक शक्ति

यथेष्ट होनी चाहिए। इन बाहर लगाई गई पूँजियों की रक्षा के लिए स्थल-सेना और नौ-सेना में अधिक वृद्धि की गई; पर इस सैनिक-व्यय की वृद्धि का अर्थ यह था कि पूँजीपति नवीन जन-संहारी अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करने में अपनी पूँजी लगावें। इस प्रकार शस्त्र-निर्माता कारखाने और कम्पनियों की राज्य के परराष्ट्र-विभाग (Foreign Department) की नीति पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था।

इस प्रकार अस्त्र-शस्त्र-निर्माता कम्पनियों के हितों की रक्षा करना राज्य का एक विशेष कर्तव्य बन गया। 'जब पूँजीपतियों की सहायता के लिए राज्य अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित तैनात रहने लगे, तो स्वाभाविक रूप से राष्ट्र किसी युद्ध के लिए अपने राष्ट्र को सबल बनाने के निमित्त गुट (alliance) बनाने लगे। फ्रान्स से अपने मतभेदों को तय करने के लिए हमें १६०७ में रूस से गुटबन्दी करनी पड़ी।'*

आर्थिक-साम्राज्यवाद के पक्ष में

क्या वास्तव में आर्थिक साम्राज्यवाद राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को शान्तिमय बनाये रखने के लिए आवश्यक है?—इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व हमें आर्थिक-साम्राज्यवाद के समर्थकों की तर्कों पर विचार कर लेना चाहिए। आर्थिक-साम्राज्यवादी का यह कथन है कि हम अपना माल और पूँजी विदेशों में भेजकर ही अपनी जीविका उपार्जन करते हैं; इसलिए यदि हमें जीवन धारण करना है, तो हमें विदेशों में बाजारों की आवश्यकता पड़ेगी। वैज्ञानिक-आविष्कारों के कारण उद्योग-क्षेत्र में आश्चर्य-जनक उन्नति हुई है। माल इतना

* The Economic foundations of Peace By Prof. H. J. Laski (Intelligent Man's way to Prevent war) p. 509

अधिक तैयार होने लगा है कि उसे बाहर बेचने के लिए बाध्य होना पड़ता है। यदि हम बाहर अपना माल न बेचें, तो इसका अर्थ यह होगा कि हमारे राष्ट्र के नागरिक अपने जीवन के वर्तमान मापदण्ड (Standard) को क़ायम न रख सकेंगे। दूसरा तर्क यह है कि समस्त आधुनिक राज्य इसी काम में लगे हुए हैं। यदि हम इस प्रतिस्पर्द्धा में दूसरों से पीछे रह जायँ, तो हम अपनी अतिरिक्त पूँजी और तैयार माल की बिक्री के सुअवसर से वंचित रह जायँगे। इस प्रतिस्पर्द्धा में आगे बढ़ने से हम अपनी राष्ट्रीय-सम्पत्ति को बढ़ाते हैं, और हमारे जीवन का आदर्श भी इस प्रकार ऊँचा बनता है।

इसमें सन्देह नहीं कि इन तर्कों में सत्यता का कुछ अंश है। साम्राज्यवाद ने अन्य प्रदेशों और पिछड़े हुए प्रदेशों की स्थिति सुधारने में बड़ा योग दिया है। यह हो सकता है कि पूँजीपतियों ने अपने स्वार्थ के लिए ऐसा किया और उससे उन पिछड़े हुए देशों का भी कुछ हित साधन हुआ। वर्तमान आर्थिक-संगठन में प्रत्येक साम्राज्यवादी राष्ट्र के सामने आर्थिक साम्राज्यवाद की एक विकट पहेली है। इसका सुलझाना उनके लिए टेढ़ी खीर है। राजनीतिज्ञ इस पहेली को सुलझाने में असमर्थ हैं ; क्योंकि वे पूँजीवादियों के आतंक में हैं। पूँजीपति उनसे यह कहते हैं कि हमारे हितों की रक्षा न करने का अर्थ यह होगा कि आप अपने देश को समृद्धिशाली बनाना नहीं चाहते। आप उनकी आर्थिक उन्नति में बाधा डालते हैं।

क्या संयुक्तराज्य अमेरिका साम्राज्यवादी है ?

आर्थिक-साम्राज्यवाद अब इतना विकसित हो गया है कि वह भली-भाँति नहीं पहचाना जा सकता। इस साम्राज्यवाद के विकसित रूप को शान्तिमय साम्राज्यवाद का नाम दिया गया है। इस साम्राज्य-

वाद के अधीन जो देश होते हैं, उनका रक्त-शोषण कर अपने पूँजी-पतियों की पूँजी की वृद्धि करना इसका ध्येय है। इस साम्राज्यवाद के समर्थक शान्तिमय उपायों से कलह को रोककर, विजित राष्ट्र की सम्पत्ति और धन को लूट ले जाते हैं। उन विजित राष्ट्रों को यह ज्ञान भी नहीं होता कि उनका धन लूटा जा रहा है। ऐसे शान्तिमय आर्थिक-साम्राज्यवादियों का शिरोमणि अमेरिका है। सन् १८६७ ई० से संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में उद्योगवाद उन्नति कर रहा है। इस बीच में अमेरिका का निर्यात (Export) ३३ करोड़ ६० लाख डालर का हो गया। इसी समय वहाँ Steel Trust और Shipping Trust आदि बनाये गये। उसके उद्योगों में ऐसी आश्चर्यजनक उन्नति तथा तैयार माल की आय-वृद्धि से यूरोप चकित रह गया। उसके हृदय में स्पर्द्धा जाग्रत् हो गई। अमेरिका अपना तैयार माल यूरोप में भी भेजने लगा। उसकी सम्पत्ति खूब बढ़ने लगी। यूरोप के राष्ट्रों की भाँति वह भी अपनी पूँजी बाहर लगाने लगा।

अमेरिका अपने इस आर्थिक-अभ्युदय से उन्मत्त हो उठा। सन् १८६८ में अमेरिकन बैंकर एसोसिएशन के अध्यक्ष ने अपने एक भाषण में विजयोन्मत्त भावना में प्रेरित होकर कहा—

'We hold now three of the winning cards in the game for Commercial greatness to wit, iron, Steel & coal. We have long been the granary of the world, we now aspire to be its workshop, then we want to be its clearing house.'*

स्पेन-अमेरिका-युद्ध के बाद अमेरिका एक औपनिवेशिक-शक्ति

---

* Vide World crisis & the Problem of Peace By S. D. Chitale p. 50

बन गया। साम्राज्यवादी प्रवृतियों का विकास होने लगा। अमेरिका ने हवाई में सबसे पूर्व शक्कर का व्यवसाय और उसकी उपज शुरू की। बाद में हवाई को अमेरिका में मिलाने का प्रयत्न किया गया। प्रशांत-महासागर के दूसरे द्वीप—अरब सागर में पोर्टोरीलो भी अमेरिका में मिला लिये गये; अतः अमेरिका की उद्योग-वृद्धि और औपनिवेशिक साम्राज्य-विस्तार के साथ संयुक्तराष्ट्र की सम्पत्ति में काफ़ी वृद्धि हुई। जिससे न्यूयार्क विश्व का आर्थिक केन्द्र बन गया। किसी समय यह स्थिति लन्दन को प्राप्त थी; परन्तु अब न्यूयार्क ने संसार के अर्थ पर अपना अधिकार जमा लिया।

चीन और इंडोनेसिया एशियायी व्यापार के दो बड़े क्षेत्र हैं। चीन एक विशाल राज्य है, जिसकी-राष्ट्रीय सरकार अत्यन्त हीन दशा में है। अशक्त राष्ट्र तथा गृह-कलह के लिए उर्वरा भूमि होने के कारण चीन साम्राज्यवादी नीति का शिकार है, जापान अपने Asiatic Munroe Doctrine का प्रयोग कर एशिया से बाहर की शक्तियों को उसमें हस्तक्षेप करने से रोकना चाहता है। उसका सिद्धान्त है—'एशिया एशिया-वासियों के लिए है।' इसमें अमेरिका, ब्रिटेन और रूस आदि शक्तियों को बड़ा भय है। इस परिस्थिति में जब तक चीन पूर्ण रूप से जाग्रत् नहीं होता, साम्राज्यवादी राष्ट्र चीन और इन्डोनेशिया में शांति-पूर्वक अपनी लूट को कायम रखना चाहते हैं। अमेरिका इस लूट में सबसे आगे है। इन्डोनेशिया में अमित सम्पत्ति है, अब सब राष्ट्रों में इन्डोनेशिया के लिए प्रतिस्पर्द्धा का चक्र चल रहा है। इन्डोनेशिया के धन का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सन् १६२४ में डच-ईस्ट-ईन्डीज का पूरा निर्यात (Export) चीन के दो-तिहाई और भारत के एक-तिहाई निर्यात के बराबर था। अभी वहाँ व्यापारिक-क्षेत्र में उन्नति के लिए बहुत क्षेत्र है। वहाँ खानों की बहुतायत है।

एशिया में तेल की खानें केवल यहीं पर हैं। यहाँ लोहे की उत्पत्ति जापान से दस गुनी है। संसार में जितना टिन पैदा होता है, उसका एक चौथाई इसी देश में है। अमेरिका ने इंडोनेशिया में समस्त विदेशी पूँजी का १५ प्रतिशत हिस्सा लगा दिया है और अभी इस दिशा में उन्नति कर रहा है। यही कारण है कि वह इंडोनेशिया पर अपने आर्थिक-साम्राज्यवाद का चक्र चलाने के लिए फिलीपाइन द्वीपों को स्वतन्त्रता देना नहीं चाहता। ये द्वीप-समूह प्रशान्त महासागर में इंडोनेशिया के निकट ही हैं। इस प्रकार अमेरिका एशिया से ब्रिटेन और जापानी शक्तियों का विनाश कर अपना आतंक जमाने में लगा हुआ है। इसके लिए वह युद्ध करना नहीं चाहता। एक अमेरिकन लेखक ने लिखा है कि प्राचीन समय का साम्राज्यवाद विजित राष्ट्र की प्रजा को छोड़कर भूमि पर अधिकार जमाता था; लेकिन इस युग का साम्राज्यवाद प्रजा और भूमि को छोड़कर केवल सम्पत्ति के साधनों पर अधिकार जमा कर ही सन्तुष्ट होता है। साम्राज्यवाद का यह अन्तिम स्वरूप ही शान्तिमय आर्थिक-साम्राज्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है।

इतिहासज्ञ Ed. Driault ने अपनी उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में 'सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ' (Social and political problems at the End of 19 th. Century) में साम्राज्य-विस्तार की इस प्रतिस्पर्द्धा की आलोचना करते हुए लिखा है—

'यूरोप और अमेरिका ने हाल के कुछ वर्षों में चीन के अतिरिक्त संसार के सभी स्वतन्त्र प्रदेशों (Free territories) पर अपना अधिकार जमा लिया है। इन प्रदेशों के लिए बड़े संघर्ष हुए हैं।।भविष्य में, हितों की अधिक अस्त-व्यस्त और अव्यवस्थित होने की संभावना है; तथा यह स्पर्द्धा की अग्नि बड़े उत्तेजित रूप से भड़केगी। सभी

राष्ट्र जल्दी कर रहे हैं। जिन राष्ट्रों के पास उपनिवेश नहीं हैं, उन्हें भविष्य में भी मिलने की आशा नहीं है। यदि वे उपनिवेश प्राप्त न कर सके, तो बीसवीं शताब्दी में होनेवाली सम्पत्ति की लूट में वे भाग न ले सकेंगे। यही कारण है कि अखिल यूरोप और अमेरिका औपनिवेशिक राज्य-विस्तार और साम्राज्यवाद के पद से उत्पन्न हो गये हैं।—यह उन्नीसवीं सदी की अत्यन्त निंदनीय प्रवृत्ति है।*

राष्ट्र-संघ अशक्त है !

इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्र-संघ युद्ध के प्रति युद्ध का एक उत्कृष्ट साधन है। राष्ट्र-संघ का आदर्श माननीय है और शान्ति-स्थापन के लिए उसका जन्म हुआ है। उसका लक्ष्य और उसका कार्य प्रशंसनीय होने पर भी आज उसका गौरव और प्रभाव क्यों घटता जा रहा है? सब ओर से League is an Organized by hypocricy की आवाज़ें क्यों आ रही हैं? इसका मूल कारण यह है कि राष्ट्र-संघ विश्व में शान्ति स्थापित करने में अशक्त सिद्ध हुआ है। उसका शासन-सूत्र उन राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के हाथ में है, जो विश्व की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियाँ मानी जाती हैं। जब कोई ऐसी समस्या उपस्थित होती है, जिसका आर्थिक-साम्राज्यवाद के हितों से संघर्ष होता है, तो यह महान् राष्ट्र अपने साम्राज्यवाद की रक्षा के लिए उस समस्या को खटाई में डाल देते हैं। जिन्होंने ओटावा की विश्व-आर्थिक-परिषद् (World Economic Conference) और जिनेवा के निःशस्त्रीकरण-सम्मेलन की कार्य-पद्धति और संसार के बड़े राष्ट्रों की कूटनीति का गंभीरता से अध्ययन किया है; वे हमारी

* Lenin's Imperialism,

बात की सत्यता को स्वीकार करेंगे। प्रोफेसर हैराल्ड जे० लास्की का यह कथन सर्वांश में सत्य है कि—

'जब तक राष्ट्रों का आर्थिक अभ्युदय अतिरिक्त पूँजी और तैयार माल के लिए बाजारों की खोज के ऊपर निर्भर होता माना जायगा, तब तक वे बाजारों तक पहुँचने के लिए प्रयत्न करेंगे। और जैसा कि जापान की प्रवृत्तियों से यह सुस्पष्ट है, राष्ट्र बाजारों को शान्ति पूर्वक प्राप्त न कर सकेंगे, तो वे उन्हें यह युद्ध-द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे।'*

जब तक संसार का आर्थिक संगठन साम्राज्यवादी नीति पर आश्रित रहेगा, तब तक संसार में 'चीन-जापान-युद्ध' के नवीन संस्करण होते रहेंगे। राष्ट्र-संघ के सिद्धान्तों और आर्थिक-साम्राज्यवाद के मनोविज्ञान में पूर्व-पच्छिम की-सी विपरीतता है ; पर राष्ट्र-संघ का संगठन ऐसे ढङ्ग से किया गया है, कि इन दोनों में मेल-सा हो गया प्रतीत होता है ; इसलिए यदि राष्ट्र-संघ के सिद्धान्तों की संसार में विजय-पताका फहराती है, तो आर्थिक-साम्राज्यवाद पर बम वर्षा कर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देना होगा। आर्थिक-साम्राज्यवाद की छत्र-छाया में विश्व-शान्ति का जीवन सदैव संकट में रहेगा।

---

* Vide Economic Foundations of Peace p. 515. By Harold J. Laski.

पाँचवाँ अध्याय

आर्थिक-साम्राज्यवाद बनाम साम्यवाद

आर्थिक-साम्राज्यवाद के चक्र से संसार हा-हाकार कर रहा है। संसार की विचित्र दशा है। एक ओर साम्राज्यवादी राष्ट्र अपनी उन्नति के लिए अधिकृत परतंत्र उपनिवेशों और साम्राज्यों की रक्षा के लिए चिंतित हो रहे हैं, दूसरी ओर पूँजीवाद की जड़ें हिल रही हैं—ठीक ऐसे, जैसे भारत में विगत भूकम्प ने बिहार को हिला दिया। जिस पूँजीवाद के प्रताप से अपार सम्पत्ति और धन का उत्पादन हुआ, वही सम्पत्ति आज पूँजीवाद के नाश का साधन बन गई है। आज इस विचित्र दृश्य को देखकर पूँजीपतियों के होश-हवास गुम हो गये हैं।

इसका कारण यह नहीं है कि अब उपनिवेशों या साम्राज्यों से यूरोपीय राष्ट्रों का प्रभाव नष्ट हो गया है। प्रत्युत् इसका कारण कुछ और ही है। संसार में अपार सम्पत्ति है, अपरिमित धन है; आज संसार

पूर्व की अपेक्षा अधिक धनवान् है—समृद्धिशाली है ; परन्तु दरिद्रता भी उससे कहीं अधिक भयंकर रूप में है। अमेरिका सबसे बड़ा धन-पति देश है ; परन्तु वहाँ भी करोड़ों की संख्या में बेकार मनुष्य मौजूद हैं। हाल में, 'वर्त्तमान युवक' (Modern youth) नामक न्यूयार्क के पत्र की सम्पादिका Miss Viola Ilma ने लन्दन में अमेरिका की बेकारी का बड़ा रोमांचकारी वृत्तान्त प्रकाशित कराया है। सम्पादिका ने लिखा है—'अमेरिका में उद्योगवाद के पतन से एक बड़ी भयंकर समस्या पैदा हो गई है। दो लाख से अधिक बेकार और बे-घर-बार के नवयुवक और युवतियाँ छोटे-छोटे समूहों में एकत्र होकर देश के कोने-कोने में घूम रहे हैं। उनमें से कोई भी २५ वर्ष की आयु से अधिक नहीं है ; परन्तु सभी यौवन की आशावादिता से हाथ धो बैठे हैं। वे भूखे हैं। उन्हें अपनी मौत-ज़िन्दगी की चिंता नहीं है। वे जंगली लोगों के गिरोह नहीं हैं, वे मध्य श्रेणी के कुटुम्बों में पैदा हुए हैं, जो आर्थिक-संकट से पूर्व काफी धनी थे। इनमें से दो-तिहाई घुम्मकड़ युनिवर्सिटियों में पढ़कर डिग्री प्राप्त कर चुके हैं। बहुतेरे क़ानून, चिकित्सा और इञ्जिनियरी में भी निपुण हैं। वे नौकरियों की तलाश में एक शहर से दूसरे शहर में घूमते रहते हैं। वे भोजनालयों, कृषकों के घरों तथा दूकानों से भोजन माँगे लेते हैं। वे पार्क की बेंचों पर सो रहते हैं, वैसे वे छोटे-छोटे झुण्ड बनाकर घूमते हैं ; परन्तु रात को सोने के समय, ठंड से बचने के लिए, इकट्ठे ही सोते हैं।'

सम्पादिका आगे लिखती हैं—

'वे न्यूयार्क में मेरे दफ़्तर में आये और फ़र्श पर सोने के लिए आज्ञा माँगी। उनके जूते फटे हुए थे। उनके वस्त्रों में अनेकों छिद्र थे। युवतियाँ चपल प्रतीत होती थीं ; पर यथार्थ में वे बुढ़िया-जैसी बन गई थीं।

'उनमें से अधिकतर अपने विद्यार्थी-जीवन में प्रतिदिन एक डालर जेब-खर्च के लिए लेती थीं। उन्होंने सम्मानपूर्वक स्नातिका-पद प्राप्त किया। कुछएक युवतियाँ प्रेम-चक्र में फँस गईं। वे विवाह नहीं कर सकतीं ; पर साथ-साथ रहती हैं। वे नौकरियों की खोज में लगे रहते हैं। पिछले शीत में उनकी संख्या ७५,००० थी ; अब वह २ लाख पहुँच गई है। धर्मादा संस्थाओं से उन्हें कोई सहायता नहीं मिलती। × × × × यह दशा बड़ी तीव्र गति से बढ़ती जा रही है। पाँच वर्ष के बाद अपराधियों की एक भयंकर श्रेणी से सामना करना पड़ेगा।'

—(Hindustan Times (Delhi) 11 December 1933)

यह स्थिति उस देश की है, जो आज संसार के पूँजीपति देशों का शिरोमणि माना जाता है ; पर दूसरी ओर करोड़ों मन खाद्य पदार्थ इसलिए अग्नि की भेंट किया जाता है—समुद्र में फेंक दिया जाता है कि वस्तुओं का मूल्य बढ़े और बेकारों को मिले काम। हाल में लिवरपुल की नदी में डेढ़ करोड़ सन्तरे भाव घट जाने के कारण फेंक दिये गये ; यद्यपि लाखों मनुष्य उस नदी के किनारे पर थे। आज प्रत्येक चीज कम पैदा करने की योजना सोची जा रही है। ब्राज़ील में क़हवा अधिक होता है ; माल अधिक तैयार हो गया। खपत कम थी। इसलिए क़हवा बेहद सस्ती हो गई। फिर लाखों मन क़हवा समुद्र के उदर में डाल दिया गया, जिससे क़हवे का मूल्य बढ़े। मनुष्य हमेशा महँगी की शिकायत करता आया है। सदैव अधिक उत्पन्न करने की कोशिश की गई है ; पर अब विपरीत दशा है, अधिक उत्पादन होने पर भी अधिक लोग भूखों मरते हैं। पूँजीवादियों का मूल्य बढ़ाने का उपाय बड़ा विचित्र है ; पर वह विफल सिद्ध हो रहा है ; क्योंकि इस हास्यास्पद उपाय से न तो मूल्य में ही वृद्धि हुई और न बेकारों को

रोजगार ही मिला। यह आर्थिक-साम्राज्यवाद का प्रसाद है। सोवियट रूस ने जन-समाज को इस महामारी से बचाने के लिए एक उपाय सोच निकाला है और उसका वह परीक्षण भी कर रहा है। वह है—साम्यवाद (Socialism)।

सम्पत्ति-विभाजन में समता

साम्यवादियों के सिद्धान्तानुसार वर्त्तमान आर्थिक-संकट का कारण है—सम्पत्ति-विभाजन की आर्थिक विषमता। व्यक्ति-द्वारा व्यक्ति और समूह-द्वारा समूह का रक्त-शोषण ही इसका परिणाम है ; इसलिए कार्ल-मार्क्स ने इस लूट को बचाकर आर्थिक समता स्थापित करने के लिए साम्यवाद के सिद्धान्तों का विकास किया। विचारकों ने यह निश्चय किया कि आर्थिक समता स्थापित करना हमारा ध्येय होना चाहिए और इस ध्येय की पूर्ति के लिए उन्होंने यह प्रयत्न किया कि माल तैयार करने के साधनों पर राष्ट्र का समाज या नियंत्रण हो और व्यक्तिगत सम्पत्ति की सीमा परिमित कर दी जाय।

भारत में साम्यवाद के प्रमुख समर्थक श्रीयुत सम्पूर्णानन्दजी ने विगत वर्ष (नवम्बर १९३३ ई०) काशी में 'व्यावहारिक साम्यवाद' पर एक व्याख्यान दिया। आपने उसमें बतलाया—

'व्यापार का काम भिन्न-भिन्न लोगों के हाथ में रहने से हरएक व्यक्ति यह समझता है कि सारी दुनिया का बाज़ार मेरा है ; परन्तु रूस में उपज का हिसाब लगा लिया गया है कि इस वर्ष में इस मेल की इतनी चीज़ों की ज़रूरत पड़ेगी और इतना माल तैयार किया जाय। संभव है, पहले एक-दो वर्षों में चीज़ घट-बढ़ जाय ; परन्तु वे बराबर हर तीसरे-छठे महीने हिसाब लगाते रहते हैं। व्यापारी तो खपत होने पर, माँग ज्यादे होने पर मूल्य बढ़ावेंगे ; पर रूस में सरकारी प्रबन्ध होने

से, उसी के अनुसार अगले वर्ष प्रबन्ध करते हैं। वहाँ दाम घटाने-बढ़ाने का प्रश्न ही नहीं उठता; उनका आदर्श तो रुपये को उठा देता है। प्रजा की पैदा की हुई चीज है। राष्ट्र की चीज में से राष्ट्र के व्यक्ति चाहे जितना ले लें, जमा करने की ज़रूरत न होगी। अभी तक आदर्श का पूरा पालन नहीं हुआ .... वहाँ ऐसा नहीं है कि सब लोगों को बराबर-बराबर जायदाद बाँट दें। कल, कारखानों, बैंक, रेल, जितनी व्यापारिक वस्तुएँ हैं, सब निजी नहीं सरकारी समझी जाती हैं। इसका फल यह होता है, कि जो लाभ होता है, वह राज्य का होता है। ...... रूस में किसी का निज का मकान नहीं है। बड़े-बड़े महल भी साधारण रीति से किसानों के काम में लाये गये हैं। योजना के अनुसार हर वर्ष नियत संख्या में मकान बनते हैं।' *

इससे आपको साम्यवाद के सिद्धान्त की सूक्ष्म रूपरेखा का ज्ञान हो गया होगा। साम्यवाद साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के विपरीत है। साम्राज्यवाद पूँजीपतियों की पूँजी की रक्षा करता है, उनके लिए सैनिकों और अस्त्र-शस्त्रों, जलयानों तथा आकाश-सेना को जुटाता है, तथा संसार में युद्ध के लिए पूरा वातावरण पैदा करता है। दूसरी ओर साम्यवाद निजी सम्पत्ति का विनाश कर पूँजीवाद पर कुठाराघात करता है। सम्पत्ति के उत्पादक साधनों पर समाज का पूरा नियंत्रण होने के कारण व्यक्तिगत व्यापारिक प्रतियोगिता को भी अवसर नहीं मिलता।

रूस में साम्यवाद का परीक्षण सन् १९१७ ई० की राज्यक्रांति के बाद से शुरू हुआ है। रूसी साम्यवाद को विश्वव्यापी सिद्धान्त बना देना चाहते है; इसीलिए वे उसका प्रयोग न केवल अपने देश में ही करते हैं, प्रत्युत् समस्त संसार में करने का प्रयत्न करते हैं।

---

* 'व्यावहारिक साम्यवाद'—ले० श्री सम्पूर्णानन्दजी ('आज') दैनिक-पत्र २३ नवम्बर १९३३ काशी।

राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति

उनका आदर्श है—अखिल संसार में साम्यवादी शासन (Socialist Government) की स्थापना। यह उद्देश्य महान् है। इस समय जब कि, साम्यवाद का प्रयोगशाला में परीक्षण हो रहा है, उस पर कोई निश्चयात्मक अन्तिम सम्मति देना न्यायसंगत नहीं हो सकता ; इसलिए साम्यवाद के सम्बन्ध में हम अगले पृष्ठों में जो कुछ लिखेंगे, वह वर्तमान युग की स्थिति के आधार पर ही होगा। प्रकृति की भाँति राजनीति भी परिवर्तनशील है ; अतः यह भविष्य-वाणी करना उचित न होगा, कि साम्यवाद विश्व-शान्ति की स्थापना में सफल होगा ; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि साम्यवाद आर्थिक-साम्राज्यवाद के लिए एक ख़तरा है।

अतिरिक्त पूँजी और युद्ध

अधिक शक्तिशाली राष्ट्रों में आवश्यकता से अधिक पूँजी उत्पन्न हो जाती है। इस पूँजी का स्वदेश में कोई उपयोग नहीं होता। इसी-लिए उसे निर्बल और पिछड़े राष्ट्रों में Invest किया जाता है। इस प्रकार उसके व्याज से खूब लाभ उठाना ही उस पूँजी की उपयोगिता है। पूँजीपति अपनी पूँजी से इस प्रकार का लाभ उठाने के लिए क्यों प्रयत्नशील रहते हैं ?

इस विशाल पूँजी की बचत का मूल कारण है, आर्थिक विषमता। पूँजी के उत्पादक श्रमिकों को इतना वेतन नहीं मिलता कि वे इस अतिरिक्त पूँजी का उचित बँटवारा कर, उसे समाज के लिए उपयोगी बना सकें। स्वदेश में ठीक उपयोग न होने के कारण, पूँजी विदेशों में जाती है। पिछड़े राज्यों में पूँजी लगाने से बहुत बड़ा लाभ है। वहाँ मजदूर बहुत सस्ते मिल सकते हैं। उनसे अधिक घण्टे काम लिया जा सकता है। कम वेतन दिया जाता है ; उनके स्वास्थ्य और सफाई

के लिए कोई विशेष प्रबन्ध नहीं करना पड़ता। सुसंगठित व्यापार-संघों (Trade Unions) की कमी के कारण पूँजीपतियों को अधिक लाभ का सुयोग मिलता है। इस तरह लूट के लिए मार्ग खुला हुआ है। यदि आप अपने देश और अफ्रीका के भारती मजूरों की दशा का करुणाजनक वर्णन पढ़ें, तो यह सब आपको भलीभाँति मालूम हो जायगा। लाभ—अमित लाभ की प्राप्ति में यदि कोई संकट उपस्थित होता है। अथवा संकट की सम्भावना होती है, तो कूटनीतिज्ञता और सैनिक-शक्ति उस संकट को दूर करने के लिए आगे बढ़ते हैं।

साम्राज्यवाद का एक और भयंकर परिणाम है। व्यापार के लिए शान्तिपूर्ण देश की आवश्यकता होती है और शान्ति-स्थापन के लिए सिविल और फौज़ी प्रबन्ध की आवश्यकता पड़ती है।

इन सिविल और फौजी नौकरियों में उन प्रदेशों के मध्य व उच्च श्रेणी के लोग बहुसंख्या में शामिल होते हैं। इन नौकरियों से उन्हें काफी बड़ी-बड़ी तनख्वाहें मिलती हैं। भारत, मिश्र तथा अफ्रीका के बहुतेरे प्रदेशों में इसी प्रकार की सिविल-सर्विस आर्थिक-साम्राज्य-वाद की रक्षा क लिये मौजूद हैं। भारत पर इन सर्विसों का एक बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। एक ओर इन सिविल और सैनिक नौकरशाही ने भारत में स्वराज्य के पति विरोध का बीजारोपण कर दिया है; क्योंकि राष्ट्रीय आन्दोलन इस नौकरशाही पर ही आक्रमण करता है। दूसरी ओर इन प्रदेशों की रक्षा के लिए बड़ी-बड़ी फौजें रक्खी जाती हैं। इस प्रकार सैनिकवाद को अधिक पुष्टि मिलती है।

आर्थिक-संकट

आर्थिक-साम्राज्यवाद का एक और भयंकर परिणाम है। जब तक औद्योगिक प्रतियोगिता पश्चिमी देशों में ही सीमित रही, तब तक तो

वह उन देशों में चलती रही जिनमें जीवन के औद्योगिक माप-दण्ड (Standards) समान थे। जब प्राच्य राष्ट्रों ने औद्योगिक क्षेत्र में पदार्पण किया, तो स्थिति में बड़ा परिवर्तन हो गया। जापान, चीन, भारत आदि देशों में मजदूरों का वेतन बहुत ही कम है। पश्चिमी मजदूरों की तुलना में प्राच्य मजदूर का जीवन बहुत सादा है; उनके जीवन की आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी हैं; इसलिए पाश्चात्य देशों को जापानादि से प्रतिस्पर्द्धा करने में बहुत हानि उठानी पड़ती है। भारत आदि में उग्र राष्ट्रीयता के कारण जकात की बड़ी-बड़ी दीवारें भी खड़ी होने की सम्भावना है। स्वदेशी आन्दोलन का उत्कर्ष भी स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थिति में भारत तथा जापान पाश्चात्य देशों के प्रतिद्वन्द्वी व्यापारियों को सफलता-पूर्वक हरा सकते हैं। इस सबका परिणाम वही हुआ, जो स्वाभाविक था। सन् १९२५ ई० से संसार के बाजार में मन्दी शुरू हुई। सन् १९२९ में जिस चीज की कीमत १००) थी, वह सन् १९२८ ई० में ७९) और सन् १९३२ ई० में २६) रह गई। जो मूल्य १०० वर्ष में बढ़ा था, वह १० वर्ष में चौथाई रह गया। आर्थिक संकट को दूर करने के लिए सरकारों ने अपने सिक्कों की कीमत घटाना शुरू किया। सबसे पहले जर्मनी ने अपने सिक्कों की कीमत गिराना शुरू किया। 'मार्क' का सिक्का गिराकर कागजी सिक्का चलाया गया। इङ्गलैण्ड ने कागजी नोट (Currency notes) और सोने को मिला दिया, जैसे एक पौण्ड का करेन्सी नोट है, तो उसके बदले २० शिलिङ्ग सोना देना निश्चय किया।

इसके पूर्व काग़ज़ी पौण्ड और सोने का भाव अलग-अलग था। इससे इंगलैण्ड को घाटा हुआ। तब इस क्षति को पूरा करने के लिए सन् १९२८ ई० में भारतीय रुपये की दर एक शिलिंग ४ पेंस से १ शिलिंग ६ पेंस कर दी गई। इस विनिमय से इंगलैण्ड को लाभ हुआ

और भारत के किसानों को बड़ा नुकसान पहुँचा। सभी देशों ने अपने-अपने व्यापार का संरक्षण करने के लिए विदेश से आनेवाले माल पर अधिक कर लगाकर जकात की ऊँची दीवार खड़ी करने लगे। इससे भी काम न चला, तो सिक्कों की दर गिराना शुरू किया गया। इसमें जापान सबसे आगे बढ़ा। जापानी सिक्के येन की दर हद से ज्यादे घटने के कारण भारत में जापानी माल खूब सस्ता बिकने लगा। अब इंगलैण्ड को भी चिन्ता हुई। जापान ने इंगलैण्ड के व्यापार को नष्ट कर दिया। इंगलैण्ड ने पौण्ड को सोने से अलग कर उसे भारतीय रुपये से बाँध दिया। इसके परिणाम-स्वरूप भारत का दो अरब का सोना विदेश को चला गया। इस प्रकार व्यापार और उद्योग स्वयं अपने-आप अपने विनाश के साधन तैयार कर रहे हैं। वर्तमान परिस्थिति में सुधार होना कठिन ही है।

अतः शान्ति के इच्छुक के सामने एक बड़ी विकट पहेली है। जब तक राष्ट्रों का आर्थिक-संगठन साम्राज्यवाद की नींव पर आश्रित रहेगा और जब तक पूँजी की रक्षा के लिए राष्ट्र सशस्त्र सेना से तैनात रहेगा, तब तक पूँजीवाद का अन्त नहीं हो सकता। जब तक आर्थिक साम्राज्य-वाद निर्विघ्न रूप से चक्र चलाता रहेगा, तब तक कोई भी संस्था संसार में शान्ति की स्थापना नहीं कर सकती। यदि राष्ट्र इस आर्थिक साम्राज्यवाद से अपना नाता तोड़ दे, तो शान्ति की समस्या का समा-धान बहुत अधिक संभव हो जाय।

राष्ट्र-संघ के द्वारा आर्थिक-साम्राज्यवाद का नाश असंभव है; क्योंकि संघ का संगठन ही उस पर आश्रित है। राष्ट्र-संघ से साम्राज्य-वादी राष्ट्रों को विशेषाधिकार प्रदान किया जाना, यह सिद्ध करता है कि वह आर्थिक-साम्राज्यवाद के विरुद्ध कोई आन्दोलन न खड़ा करे।

छठा अध्याय

आर्थिक शान्ति-पथ

ब्रिटिश विद्वान् राजनीति-के पंडित Harold-J. Laski की सम्मति में युद्धावरोध का सच्चा मार्ग है—आर्थिक साम्राज्यवाद पर आक्रमण ; क्योंकि यह हमने देख लिया है कि युद्धों का कारण एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका की लूट भी है।

यदि यह बात सत्य है (जिसके सत्य होने में किंचित् सन्देह नहीं), तो इसका अर्थ यह है कि संसार के आर्थिक-संगठन में परिवर्तन होना चाहिए। पूँजीपति जिस पूँजी का स्वदेश के बाज़ार में प्रयोग नहीं कर सकता, वह यथार्थ में मजदूर-वर्ग की दूषित क्रय-शक्ति का फल है। सम्पत्ति का कुप्रबन्ध और विषम-विभाजन ही इस 'बेकार-पूँजी' (Surplus capital) का कारण है। पूँजीपतियों का एक छोटा-सा समूह इतना अधिक माल तैयार करता है कि जन-समाज उसे नहीं

खरीद सकता। विद्वान् लेखक ने अपने विचार बहुत ही उत्तम ढंग से व्यक्त किये हैं। प्रत्येक विचारशील पुरुष को इन पंक्तियों पर मनन करना चाहिए—

'The future of peace depends upon the intense development of the home-market as a means of preventing the competition for markets abroad by capitalists who use the pressure of diplomacy, with all that it implie,to effect their entrance and the establishment at the expense of their rivals.'

इसलिए मज़दूरों के वेतनों में यथेष्ट वृद्धि करने से उनकी क्रय करने की शक्ति बढ़ेगी। दूसरी ओर पूँजीपतियों की बड़ी आय पर बड़े-बड़े कर लगाये जायँ, जिसका धन, शिक्षा, मातृत्व, शिशुरक्षा, पार्क, उद्यान तथा आमोद-प्रमोद के साधनों में व्यय किया जाय। इस प्रकार सम्पत्ति का विभाजन अधिक समता से हो सकेगा। इस दृष्टि से साम्यवाद और Trade Unions संसार में शान्ति स्थापना के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं।

सातवाँ अध्याय

सुरक्षा

Disarmament is not only a Question of vital importance but it is the acid test of the peaceful intentions of nations, and must be included among the essentials of a durable peace.

—*Arthur Henderson*
President, Disarmament conference.

निःशस्त्रीकरण-परिषद् के अध्यक्ष आर्थर हेन्डरसन के स्मरणीय शब्दों में 'निःशस्त्रीकरण केवल-मात्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न ही नहीं है ; किन्तु राष्ट्रों के शान्तिमय मनोभावों की सच्ची कसौटी है और स्थायी शान्ति के प्रमुख तत्वों में इसे भी स्थान मिलना चाहिए।'

यथार्थ में जैसा कि बहुतेरे लोगों का विचार है—विश्वास है,

शस्त्रीकरण संसार में अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध मौलिक कारण नहीं है। अस्त्र-शस्त्र तो किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन हैं और वह उद्देश्य है आर्थिक-साम्राज्यवाद। इसी उद्देश्य के हेतु विशाल संहारक स्थल-सेना, नाविक सेना और आकाश-सेना का निर्माण किया गया है। रासायनिक युद्ध-प्रणाली तथा वैज्ञानिक प्रयोगों के कारण युद्ध की भीषणता अत्यधिक बढ़ गई है; पर यह तो स्पष्ट ही है कि यह सब किया जाता है पूँजीवाद की रक्षा के लिए। राष्ट्र-संघ ने युद्ध के निदान को ठीक प्रकार से जानने का प्रयत्न नहीं किया। यदि युद्ध के मौलिक कारणों को जानकर उन्हें समूल नष्ट करने के लिए सबल राष्ट्र (Great powers) सद्भावना से प्रयत्नशील हो जायँ, तो इन निःशस्त्रीकरण-सम्मेलनों की आवश्यकता ही न रहे। यही कारण है कि आज इतने वर्षों के निरन्तर परिश्रम के बाद इन सम्मेलनों से कोई लाभ नहीं हुआ। ज्यों-ज्यों इन सम्मेलनों के कार्य की प्रगति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों यह समस्या और भी उलझती जाती है और संसार के बड़े-बड़े राष्ट्र शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्द्धा में आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील देख पड़ते हैं।

यदि निःशस्त्रीकरण की समस्या का सफलता-पूर्वक समाधान हो जाता, तो यह सिद्ध हो जाता कि अब राष्ट्र युद्ध की कामना नहीं करते। अब वे शान्ति के लिए इच्छुक हैं; परन्तु इन निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों की विफलता इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि राष्ट्र अभी शान्ति नहीं चाहते। अभी वे किसी बड़े महाभारत की तैयारी में लगे हैं।

निःशस्त्रीकरण की समस्या पर विचार करने से पूर्व हम विवादों के शान्ति-पूर्ण निपटारे, शान्ति-पूर्ण परिवर्त्तन, और सुरक्षा पर विचार कर लेना उचित समझते हैं; क्योंकि इनका हमारे विषय से संबंध है।

विवादों का शान्ति-पूर्ण निर्णय

केवल युद्ध को अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के विरुद्ध घोषित करने से संसार में शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। इसके लिए सबसे पूर्व विवादों का शान्ति-पूर्ण निर्णय अत्यन्त आवश्यक है। विवादों की पंचायती-निर्णय-द्वारा निपटारे की प्रणाली उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग से स्थापित है ; परन्तु उसमें अनेक दोष थे ; इसलिए यूरोपीय महासमर के बाद जब राष्ट्र-संघ की स्थापना की गई, तब अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय की स्थापना के लिए भी प्रस्ताव रखा गया। न्यायालय की स्थापना हो गई। उसी समय से यह न्यायालय बड़ी कुशलता-पूर्वक अपना कार्य-सम्पादन कर रहा है।

राष्ट्र-संघ के सदस्यों को अपने विवादों का निपटारा शान्ति-पूर्वक करना चाहिए। इसके लिए तीन मार्ग हैं—(१) क़ानूनी निर्णय (२) जाँच (३) समझौता। यह आवश्यक है कि जब किसी विवाद पर निर्णय दे दिया जाय, या जाँच की जाय अथवा समझौता कर लिया जाय, तब उसके तीन मास बाद तक वे युद्ध नहीं कर सकते। यदि राष्ट्र-संघ के सदस्य प्रथम मार्ग को स्वीकार करते हैं, तो उन्हें निर्णय की शर्तों का पालन करना अनिवार्य है। यह निर्णय चाहे स्थायी-न्यायालय-द्वारा दिया गया हो, चाहे विशेष पंचायत-द्वारा। यदि सदस्य निर्णय के अनुसार कार्य नहीं करते, तो कौंसिल को ऐसे उपाय सोचने पड़ेंगे, जिनसे वे उसे मानने के लिए बाध्य हों।

यदि विवाद के पक्ष क़ानूनी निर्णय के स्थान में समझौते (Conciliation) के द्वारा अपना फैसला करना चाहते हैं, तो कौंसिल को विवाद की जाँच कर अपना निर्णय देना चाहिए। कौंसिल जिस पद्धति से जाँच करती है, यह हम अन्यत्र बतला चुके हैं। अब संक्षेप में हम

उन सन्धियों का उल्लेख करना चाहते हैं, जिनके अनुसार राष्ट्रों ने अपने विवादों का निर्णय करना स्वीकार किया है।

१—Optional Clause

जब अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी-न्यायालय के विधान की तैयारी की जा रही थी, उस समय ऐसा सोचा गया, कि क़ानूनी विवादों में क़ानूनी निर्णय अनिवार्यतः स्वीकार किया जाना चाहिए।

संसार के बड़े-बड़े कानून-विशारदों और विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की गई, जिसको यह कार्य सौंपा गया। समिति ने यह प्रस्ताव रखा कि जो राष्ट्र स्थायी न्यायालय के विधान (Statute) को स्वीकार करेंगे, वे अनिवार्यतः न्यायालय के कानूनी निर्णय को स्वीकार करेंगे ; परन्तु राष्ट्र-संघ की कौंसिल ने ब्रिटेन और फ्रान्स के आग्रह पर इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। असेम्बली में इस प्रस्ताव का ज़ोरदार समर्थन हुआ। अन्त में न्यायालय के विधान में इस आशय का संशोधन कर दिया गया कि प्रत्येक विवाद में प्रत्येक राष्ट्र अपनी इच्छानुसार ही न्यायालय के निर्णय को स्वीकार करने के लिए अपनी स्वीकृति दे सकता है ; परन्तु जो राष्ट्र Optional Clause पर हस्ताक्षर कर देंगे, उन्हें अनिवार्यतः न्यायालय का निर्णय मानना पड़ेगा। साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने बड़े सोच-विचार के साथ इस पर हस्ताक्षर तो किये; परन्तु उसके साथ, अपने साम्राज्यों की रक्षा के लिए, कुछ महत्त्व-पूर्ण संरक्षण भी जोड़ दिये। यह बात क़ानूनी-विवाद में क़ानूनी-निर्णय की रही। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे समझौते भी हुए, जिनके अनुसार समस्त प्रकार के विवादों का शान्ति-पूर्वक निर्णय स्वीकार किया गया।

२—जिनेवा प्रोटोकल

'जिनेवा प्रोटोकल' जिनेवा की एक अत्यन्त प्रसिद्ध सन्धि है ;

परन्तु ब्रिटिश-साम्राज्य-द्वारा अस्वीकृत हो जाने के कारण मार्च १९२५ ई० में इसका गर्भ में ही विनाश हो गया; परन्तु इसके सिद्धान्तों का भविष्य पर प्रभाव पड़ा; इसलिए संक्षेप में इसके सिद्धान्तों के उल्लेख वांछनीय हैं। प्रोटोकल का मूल उद्देश्य निर्णय, सुरक्षा, और निःशस्त्रीकरण की साथ-साथ प्राप्ति था।

(१) प्रोटोकल ने उन राष्ट्रों में, जिन्होंने उस पर हस्ताक्षर किये, आक्रमणकारी युद्ध को क़ानून के विरुद्ध बतलाया।

(२) उसने आक्रमण की परिभाषा की। सामान्यतया जो राष्ट्र शान्तिपूर्ण निर्णय को ठुकराकर युद्ध की तैयारी करता है, वही आक्रमणकारी मानना चाहिए।

(३) यदि कौंसिल आक्रमणकारी का निश्चय नहीं कर सकती, तो उसे शान्ति की घोषणा (Declaration of Armistice) करनी चाहिए, जिसको राष्ट्र अनिवार्यतः मानेंगे।

(४) समस्त अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निर्णय के लिए साधन निश्चय किये जायँ।

(५) दण्डाज्ञाओं (Sanctions) के बारे में राष्ट्र-संघ के सदस्यों के क्या कर्त्तव्य हैं, आर्थिक बहिष्कार के साधनों को प्रयोग में लाने के उपाय आदि का निश्चय। प्रोटोकल ने यह भी अधिकार दे दिया कि राष्ट्र विशेष सन्धियाँ कर सकते हैं।

(६) निःशस्त्रीकरण परिषद् के लिए निश्चय किया गया।

३—लोकार्नो-सन्धि (Locorno Treaties)

विशेष आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए विशेष सन्धियों की चर्चा होने लगी। बड़े राष्ट्रों को भय था कि कहीं यह भेद-भाव संघर्ष में घृता-

हुति का काम न करे। इस बात से जर्मनी भी सहमत था। फलतः जर्मनी, बेलजियम, फ्रांस, ग्रेट-ब्रिटेन, इटली, जेकोस्लावेकिया और पोलेण्ड में परस्पर लोकार्नो की संधियाँ हुईं। इनमें से पहले पाँच राष्ट्रों ने जर्मनी, बेलजियम या फ्रांस-द्वारा जर्मनी की पश्चिमी सीमा पर आक्रमण से रक्षा के लिए गारंटी दी। जर्मनी, फ्रांस और बेलजियम ने स्वीकार किया कि—'जो कोई समस्या उनके बीच में पैदा होगी, उसका निर्णय शान्ति-पूर्ण उपायों से किया जायगा।' समस्त क़ानूनी विवादों के संबंध में एक ओर जर्मनी ने और दूसरी ओर फ्रांस, बेलजियम, पोलेएंड तथा जेकोस्लावेकिया ने अनिवार्यतः पंचायती निर्णय को स्वीकार किया। अन्य प्रश्न समझौता-कमीशन को सौंपने का निश्चय हुआ। यदि यह कमीशन असफल रहे, तो मामला कौंसिल में पेश किया जाना चाहिए। यदि कौंसिल सर्वसम्मति से रिपोर्ट तैयार न कर सके, तब भी विग्रही पक्षों को युद्ध न छेड़ना चाहिए। इस प्रकार लोकार्नो राष्ट्र-संघ के विधान की अपेक्षा शान्ति-पूर्ण निर्णय के प्रश्न को अधिक उत्तमता से सुलझाता है; पर यहाँ एक बात याद रखने योग्य है, वह है ग्रेट-ब्रिटेन की स्थिति। जर्मनी और फ्रांस इस सन्धि के अनुसार अपने विवादों का शान्ति-पूर्वक निर्णय करने के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध हो गये; पर ग्रेट-ब्रिटेन इस मामले में स्वतंत्र रहा।

४—सामान्य क़ानून (General Act)

प्रोटोकल की अस्वीकृति के बाद इस बात के लिए निरंतर प्रयत्न होता रहा कि कोई ऐसी सन्धि की जाय, जिसके अनुसार सभी राष्ट्र अनिवार्य रूप से विवादों का शान्ति-पूर्ण निर्णय करें। इस प्रकार दो-दो, चार-चार राष्ट्रों में विशेष संधियाँ अधिक उपयोगी और सुविधा-जनक सिद्ध नहीं हो सकतीं; इसलिए असेम्बली के नवें अधिवेशन में १९२८ ई०

में निर्णय और समझौते के मसविदे एक में मिला दिये गये और उसका नाम 'जनरल एक्ट' रखा गया।

यह एक्ट चार अध्यायों में है। यह संपूर्ण या आंशिक स्वीकार किया जा सकता है। यह दो राष्ट्रों या अधिक राष्ट्रों में परस्पर स्वीकार किया जा सकता है। जो राष्ट्र-संघ के सदस्य नहीं हैं, वे भी इसे स्वीकार कर सकते हैं।

प्रथम अध्याय में समझौता (Conciliation) का विधान है। जिन विवादों का निर्णय कूटनीतिज्ञ राजदूत-पद्धति से न कर सकेंगे, वे समझौता-कमीशन को सौंप दिये जायँगे। यह कमीशन लोकार्नो के नमूने पर ही बनेंगे। विवाद से यहाँ हर प्रकार के विवाद से तात्पर्य है।

दूसरा अध्याय न्यायालय के निर्णय (Decision) का प्रतिपादन करता है। कानूनी-विवाद निर्णय के लिए स्थायी-न्यायालय में पेश होने चाहिए। यदि विग्रही-राष्ट्र पंचायती-निर्णय चाहते हैं, तो ऐसा किया जा सकेगा।

तृतीय अध्याय में पंचायती-निर्णय (Arbitration) का उल्लेख है। यह नवीन विवादास्पद अध्याय है। बहुतेरे राष्ट्रों ने 'जनरल एक्ट' को स्वीकार कर लेने पर भी इस अध्याय को स्वीकार नहीं किया।

चतुर्थ अध्याय में शान्ति-स्थापन के कुछ साधनों पर प्रकाश डाला गया है।

शान्ति-पूर्ण परिवर्तन

अन्तर्राष्ट्रीय-संघ का प्रथम कर्तव्य है—शान्ति की सुरक्षा। शान्ति की सुरक्षा उसी समय हो सकती है, जब अन्तर्राष्ट्रीय-जगत् से अराज-

कता का विनाश कर उसकी जगह अन्तर्राष्ट्रीय न्याय (Internationas justice) और व्यवस्था (Law) का राज्य स्थापित किया जाय ; परन्तु व्यवस्था में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। प्रकृति परिवर्तन-शील है, युग-युग में परिवर्तन होते रहते हैं, फिर मानव-निर्मित नियमों में भी समयानुसार परिवर्तन आवश्यक है। यदि नियमों में समयानुसार परिवर्तन न किया जायगा, तो उसका फल, न्याय और व्यवस्था के विरुद्ध घोर विद्रोह होगा।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय-जगत् में परस्पर राष्ट्रों में जो सन्धियाँ होती हैं, उनमें युग-परिवर्तन के समय संशोधन होना आवश्यक है। परिवर्तन दो प्रकार से हो सकते हैं। एक शान्ति-पूर्ण समझौते से, और दूसरा युद्ध से।

शान्ति-पूर्ण परिवर्तन के साधन

यहाँ हम संक्षेप में शांतिपूर्ण परिवर्तन के उन साधनों पर विचार करना चाहते हैं, जिनका राष्ट्र-संघ व अन्तर्राष्ट्रीय समाज प्रयोग कर शान्ति-महायज्ञ में सहायक बन सकते हैं—

(१) परिवर्तन की आवश्यकता को कम करने का प्रयत्न।

(२) स्वतः परिवर्तन की प्रवृत्ति को उत्तेजना।

(३) न्यायालय के निर्णय का प्रयोग।

(४) न्याय के आधार पर निष्पक्ष-निर्णय के लिए प्रयत्न।

(५) व्यवस्थापक-निर्णय के अधिकार।

आठवाँ अध्याय

निःशस्त्रीकरण

प्रत्येक साम्राज्यवादी राष्ट्र का यह विश्वास है कि जितनी अधिक सैन्य-शक्ति होगी, उतनी ही अधिक सुगमता से शान्ति-स्थापन हो सकेगा। हाल में ब्रिटिश प्रथम लार्ड एडमिरल्टी ने घोषित किया है कि शक्तिशाली नाविक-सेना ब्रिटिश-सेना की सहायता से युद्ध नहीं किये जाते ; युद्ध तो उनसे रोके जाते हैं। ब्रिटिश नौ-सेना न केवल ब्रिटेन की ; किन्तु संसार की शान्ति-रक्षा के लिए है ; परन्तु इन शान्ति के देवदूतों का तब क्या हाल होगा, जब यह परस्पर मुठभेड़ करने लग पड़ेंगे। सत्य तो यह है कि वर्तमान राष्ट्रों की सुरक्षा की भावना बहुत ही पुरानी है। आज अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में उसका व्यवहार ही अशान्ति का एक बड़ा कारण है।

सुरक्षा का प्राचीन अर्थ, जो आजकल भी अधिकता से प्रचलित

है, यह है कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने हितों की रक्षा के लिए योग्य होना चाहिए। अपने बल से या अन्य राष्ट्रों की गुट्टबन्दी की सहायता से विदेशी राष्ट्र-द्वारा किये गये आक्रमण से रक्षा करने का नाम सुरक्षा है। सुरक्षा की इस भावना ने इतनी उथल-पुथल मचा रखी है कि जब निःशस्त्रीकरण पर विचार करने के लिए राजनीतिज्ञ एकत्र होते हैं, तो उनमें से प्रत्येक अपने राष्ट्र की सुरक्षा की पहेली पेश करता है ; इसलिए अनेक राजनीतिज्ञों ने अपना 'मोटो' बना लिया है—'बिना सुरक्षा के निःशस्त्रीकरण नहीं हो सकता।' दूसरी ओर निःशस्त्रीकरण के समर्थक कहते हैं—'बिना निःशस्त्रीकरण के सुरक्षा असम्भव है।'

सुरक्षा का इस युग में अर्थ बदल गया है। अब तो एक राष्ट्र की सुरक्षा राष्ट्रों के लिए समस्त राष्ट्रों की सामूहिक सुरक्षा वांछनीय है। अधिकांश में राष्ट्रीय सुरक्षा राष्ट्रों के पारस्परिक सद्भाव और विश्वास पर ही निर्भर है। आंशिक रूप में शान्ति-संस्थापक संघ से भी सहायता मिल सकती है। जिनका यह विचार है कि अस्त्र-शस्त्रों की वृद्धि से ही राष्ट्र की सुरक्षा हो सकती है, वे भूलते हैं। वास्तव में शस्त्रीकरण की प्रतियोगिता ने संसार में विश्व-युद्ध का एक खतरा पैदा कर दिया है। सुरक्षा के लिए विश्वास की कितनी आवश्यकता है, इसको स्पष्ट करने के लिए यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है—

यदि कलकत्ता में चौरङ्गी सड़क पर आने-जानेवाले मनुष्यों के जीवन और सम्पत्ति-रक्षा के लिए कोई सारजेंट चौराहे पर न खड़ा किया जाय और प्रत्येक यात्री, प्रत्येक मोटर का मालिक, प्रत्येक बाइसिकलवाला, प्रत्येक रिक्शा स्वयं निजी सुरक्षा के लिए व्यक्तिगत (सामूहिक नहीं) प्रयत्न करे, तो क्या आप यह आशा कर सकते हैं कि यह सभी निर्विघ्न स्वतंत्रतापूर्वक यात्रा कर सकेंगे ? ऐसी स्थिति में मुठभेड़ तो स्वाभाविक है और ऐसी अनियमित, मर्यादा-हीन स्वतन्त्रता

के लिए अनेकों को अपने जीवन से हाथ धोने होंगे। कलकत्ता नगर का प्रत्येक नागरिक एक सारजेण्ट को अपनी सुरक्षा का भार सौंपकर जिस स्वतंत्रता का अनुभव करता है, वह वास्तव में मानवीय विकास का सूचक है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है, कि सुरक्षा की समस्या सामाजिक है—व्यक्तिगत नहीं।

१—नैतिक निःशस्त्रीकरण

संसार में शान्ति-स्थापना के लिए लोकमत बनाना अत्यन्त आवश्यक है। लोकमत में शान्ति के लिए सदिच्छा का जाग्रत् होना ही आशा के लक्षण हैं; परन्तु यूरोप में तो शान्ति के लिए कभी लोकमत बनाया ही नहीं गया। जनतन्त्रवाद का विनाश कर उसकी जगह सैनिकवादी अधिनायकवाद (Dictatorship) का आतंक छा रहा है। प्रत्येक अधिनायक अपने राष्ट्र में सैनिक के शिक्षण के लिए नवीन—नूतन साधन व्यवहार में ला रहा है। विद्यालयों, भोजनालयों, उद्यान-गृहों, आमोद-गृहों (Clubs), सिनेमा-गृहों, न्यायशाला, नाट्य-मन्दिर, राज्य-परिषद्, बाज़ार आदि सभी स्थानों में सैनिकवादी प्रवृत्तियों की प्रचुरता दीख पड़ती है। सब यूरोपीय राष्ट्र अपने-अपने नागरिकों को यह प्रोत्साहन दे रहे हैं—'आगामी युद्ध हमारे दुखों का अन्त कर हमारे राष्ट्र को समृद्धिशाली बना देगा; बस तन-मन-धन से उसमें सफलता पाने के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए।'

२—युद्ध का संपूर्णतः परित्याग

पेरिस-सन्धि युद्ध को पूर्णतः अन्तर्राष्ट्रीय अपराध घोषित नहीं करती। उसमें आत्म-रक्षा के नाम पर युद्ध करने के लिए काफ़ी मौका है। जापान ने संसार के देखते-देखते चीन पर आक्रमण किया; परन्तु बतलाया उसे 'आत्मरक्षा'।

३—सामुद्रिक स्वाधीनता

विल्सन ने अपने चतुर्दश सिद्धान्तों में इसे भी स्थान दिया था ; परन्तु वह स्वीकार नहीं किया गया। किसी राष्ट्र को समुद्र का अवरोध करने का अधिकार न होना चाहिए। तटावरोध (Blockade) को राष्ट्रीय नीति न माना जाय। केवल अन्तर्राष्ट्रीय समझौते से किसी निश्चय को काम में लाने के लिए सामुद्रिक अवरोध उचित है।

४—शान्ति-पूर्ण निर्णय

इस विषय पर पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है।

५—निःशस्त्रीकरण

इस विषय पर आगामी अध्याय में प्रकाश डाला जायगा।

६—आर्थिक-निःशस्त्रीकरण

वर्तमान युग में आर्थिक-शस्त्रीकरण (Economic armament) सबसे अधिक शक्तिशाली शस्त्र है। फौजी शस्त्रागार तो इसकी रक्षा के निमित्त है। आर्थिक-जगत् में इस अराजकता का मूल कारण यही है। प्रत्येक राष्ट्र स्वयं इतना माल तैयार करता है कि उसकी खपत अपने देश में नहीं हो सकती। आत्मनिर्भरता के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक राष्ट्र यह भी चाहता है कि वह विदेशी राष्ट्र का माल न खरीदे मजदूरों में हलचल मच रही है। बेकारी का बाजार गर्म है और पूँजीपति मालामाल बनने के साधन सोचने में जुटे हुए हैं।

७—युद्ध और शस्त्रनिर्माता

युद्ध के संकट को दूर करने के लिए शस्त्र-निर्माता कारखानों पर

अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण की आवश्यकता है। राष्ट्रीय युद्ध-विभागों (National war Departments) पर शस्त्र-निर्माता कारखानों का पूरा नियंत्रण और प्रभाव है। शस्त्रीकरण की प्रतियोगिता में इन युद्ध-विभागों से काफी प्रोत्साहन भी इनको मिलता है। इनके अनेकों समाचार-पत्र निकलते हैं, जिनमें पूँजीपति अपने विचारों का लोकमत पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं। शान्ति का पुजारी ब्रिटिश-साम्राज्य संसार को सबसे अधिक अस्त्र-शस्त्र देता है।

८—आदेशयुक्त-शासन (Mandate System)

आदेशयुक्त-शासन राष्ट्र-संघ के साम्राज्यवादी मनोविज्ञान का नवीन आविष्कार है। Mandate के बहाने उपनिवेशों में लूट का यह उत्तम साधन है। शान्ति की रक्षा के लिए यह आवश्यक है, कि इस लूट को बन्द कर दिया जाय और उन उपनिवेशों को जो आजकल Mandatory के अधीन हैं, स्वतन्त्रता दे दी जाय; पर इसके साथ ही पराधीन राष्ट्रों (Dependency) को भी आत्म-निर्णय का अधिकार देकर उनको स्वाधीनता के भोग का अधिकार दिया जाय। इस दिशा में भारत की समस्या विशेष-रूपेण विचारणीय है। हम प्रथम अध्याय में इस समस्या पर विचार करेंगे।

९—अल्प-संख्यकों के अधिकार

यूरोपीय महासमर के पश्चात् यूरोप के मानचित्र में बहुत ज्यादा परिवर्तन हो गया है। विजित राष्ट्रों से उनके प्रदेश छीनकर स्वतन्त्र राज्य दिये गये। इस प्रकार अल्प-संख्यकवाली जातियों की समस्या उत्पन्न हुई। आज भी यूरोप में ऐसे अनेकों राष्ट्र हैं, जो अपने नागरिकों को मौलिक अधिकारों के भोग करने का अधिकार जाति, धर्म या मत के आधार पर देते हैं। ऐसी बहुत-सी अल्प जातियाँ हैं, जिनको अपनी मातृ-भाषा के प्रयोग का अधिकार नहीं है।

श्रौर न अपने बालकों को उस भाषा में शिक्षा ही देने के अधिकारी हैं। यूरोप में शान्ति-रक्षा के लिए यह समस्या महत्त्वपूर्ण है।

१०—संकट के समय सम्मेलन

जब विश्व-शान्ति के लिए कोई खतरा उपस्थित हो, तो उस समय संसार के राजनीतिज्ञों को सम्मेलन विशेष-लाभ-प्रद सिद्ध हो सकता है ; परन्तु ऐसे सम्मेलन संकुचित राष्ट्रीयता और स्वार्थनीति के कारण असफल सिद्ध हो चुके हैं ; पर इसका यह अर्थ नहीं कि वे भविष्य में उपयोगी नहीं बनाये जा सकते।

११—अस्वीकार (Non-Recognition)

इस सिद्धान्त का जन्म हाल ही में संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में हुआ है। इसके अनुसार अमेरिका ने यह घोषित किया कि वह किसी स्थिति या समझौते को स्वीकार न करेगा, जो पेरिस की सन्धि के खिलाफ किया गया हो या पैदा की गई हो ; इसलिए अमेरिका ने 'मन्चूखो' राज्य को स्वीकार नहीं किया है।

१२—आक्रमण की कसौटी

निःशस्त्रीकरण-परिषद् की सुरक्षा-समिति (Security committee) ने आक्रमण की जो परिभाषा तैयार की है, वह इस प्रकार है—

'१—विवाद के पक्षों में स्थापित समझौतों की शर्तों का विचार करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में आक्रमणकारी राज्य वही माना जायगा, जो सर्वप्रथम निम्नलिखित कोई काम करेगा।

(१) दूसरे राज्य के विरुद्ध युद्ध-घोषणा।

(२) दूसरे के राज्य में, बिना युद्ध-घोषणा, या घोषणा के साथ सशस्त्र-सेना का आक्रमण।

(३) नाविक, स्थल और आकाश-सेना-द्वारा दूसरे के राज्य, जल-यान, वायु-यान पर आक्रमण।

(४) दूसरे राष्ट्र के बन्दर या तट का अवरोध।

(५) उन सेनाओं की सहायता, जिसने दूसरे के राज्य पर आक्रमण किया हो।

२ - उपर्युक्त वर्णित आक्रमणों के लिए किसी आर्थिक, सैनिक, राजनीतिक अथवा अन्य किसी विचार का बहाना नहीं लिया जा सकता।'

१३—शान्ति-घोषणा

जब संघर्ष प्रारम्भ हो जाय, तो उसके बन्द करने के लिए अस्थायी शान्ति की घोषणा की जा सकती है। ग्रीक-बलगेरिया-संघर्ष के समय राष्ट्र-संघ ने सफलता-पूर्वक इसका प्रयोग किया।

१४—आर्थिक सहायता

इसका तात्पर्य यह है कि एक आर्थिक सहायता—समझौता किया जाय। जो राष्ट्र उस पर हस्ताक्षर करे, यदि उस पर आक्रमण किया जाय, तो उसकी सहायता के लिए सब धन दें। *

* सुरक्षा (Security) पर यह प्रकरण लिखने में हमें W. Arnold forster के एक निबन्ध से बहुत सहायता ली गई है; अतः हम आपके अत्यन्त कृतज्ञ हैं।—लेखक

नवाँ अध्याय

शान्ति का अग्रदूत भारत

राष्ट्रपति विल्सन ने अपने चतुर्दश सिद्धान्तों में से एक सिद्धांत में यह बतलाया है कि 'प्रत्येक राष्ट्र को अपने राष्ट्रीय-शस्त्रीकरण में इतनी न्यूनता करनी चाहिए, जितनी राष्ट्रीय-रक्षा के लिए आवश्यक हो।' महासमर के बाद वर्सेलीज़ की सन्धि हुई। सन्धि-पत्र में कुछ ऐसी धाराएँ इसी सिद्धान्त के आधार पर रक्खी गईं, जिनके द्वारा पराजित राष्ट्रों को निःशस्त्रीकरण स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। उस समय शान्ति के समर्थक राजनीतिज्ञों की ओर से जर्मनी आदि विजित राष्ट्रों को यह आश्वासन दिया गया कि जर्मनी को निःशस्त्र करने का अभिप्राय विश्व के राष्ट्रों में भी इसी सिद्धान्त को प्रयोग में लाना है। जर्मनी समस्त राष्ट्रों के लिए आदर्श का काम देगा; परन्तु प्रारम्भ से ही राजनीति-क्षेत्र में समर-मनोविज्ञान अपना प्रभाव डालता रहा।

यूरोप में दो शिविर कायम कर दिये गये । एक मित्र-राष्ट्रों (विजेता-राष्ट्रों) का और दूसरा पराजित राष्ट्रों का । विजयी राष्ट्र निरन्तर इसी विश्वास पर काम करते रहे कि जर्मनी अपराधी है, युद्ध का सारा दायित्व जर्मनी पर है ; इसलिए उसे सदैव के लिए निःशस्त्र कर देना ही उचित है । अन्यथा वह पुनः अपनी सेना को सुसज्जित कर आक्रमण कर बैठेगा ; परन्तु जर्मनी ने राष्ट्र-संघ में प्रवेश करने के समय से ही 'समानता' (Equality of Rights) के लिए युद्ध छेड़ दिया । वह निरन्तर प्रत्येक परिषद्, सम्मेलन, समिति और अधिवेशन में अपने इस दावे की याद दिलाता रहा ; परन्तु विजयोन्मत्त शक्तिशाली सैनिकवादी महाराष्ट्रों को उनके गौरव और गर्व ने इस न्यायपूर्ण माँग पर विचार करने से रोका । यह मामला १९३२ तक खटाई में पड़ा रहा । तब अन्त में ११ दिसम्बर सन् १९३२ ई० को जर्मनी का 'समानता का सिद्धान्त' सुरक्षा के कुछ संरक्षणों के साथ, स्वीकार किया गया । इस समय हिटलर का भाग्योदय हो रहा था । यह काम बहुत देर से हुआ ।

सन् १९१९ ई० में जब शान्ति-सन्धि हुई, तो यह निश्चित रूप से स्पष्ट कर दिया गया कि पराजित राष्ट्रों पर तुरन्त निःशस्त्रीकरण का सिद्धान्त लागू करने के साथ ही यह निश्चय किया गया कि विजयी राष्ट्र भी शीघ्र-से-शीघ्र अपने राष्ट्रों में निःशस्त्रीकरण करेंगे । यह ध्रुव सत्य है कि जब तक उपर्युक्त प्रतिज्ञा का पूर्णतः सच्चाई से पालन नहीं किया जायगा, तब तक संसार में शान्ति का राज्य स्थापित नहीं हो सकता ।

जो राष्ट्र बिना निःशस्त्रीकरण किये सुरक्षा चाहते हैं, वे महा-पाखण्डी और अशान्ति के प्रचारक तथा युद्ध के दैत्य हैं । जब तक संसार में शस्त्रों की अधिकता से वृद्धि होती रहेगी, तब तक राष्ट्रीय सुरक्षा स्वप्न है । हर समय प्रत्येक राष्ट्र को, उचित कारण के अभाव में भी यह भय बना रहेगा कि पड़ोसी राज्य न जाने कब चढ़ाई कर बैठे ।

विश्व-शान्ति

राष्ट्र-संघ की स्थापना को आज पन्द्रह वर्ष होते हैं। वह अपन जन्म-काल से राष्ट्रीय सुरक्षा और निःशस्त्रीकरण की समस्या को हल करने में लगा हुआ है। अनेकों सम्मेलन और परिषदें हुईं। स्थायी समितियों एवं विशेष समितियों ने वर्षों काम किया; परन्तु आज की अवस्था में सन् १९१९ ई० की अवस्था की अपेक्षा तिलमात्र भी परिवर्त्तन नहीं हुआ है।

शस्त्रों पर व्यय

शस्त्रों की प्रतियोगिता बड़ी तेज गति से उन्नति कर रही है। सैनिक व्यय के बजटों से त्रस्त जनता में हा-हाकार मच रहा है। कर के भार से प्रजा में असन्तोष फैल रहा है। विशाल नगरों की सड़कों के किनारे के फर्शों पर क्षुधा से पीड़ित मनुष्य रोटियों के लिए मुहताज नज़र आते हैं; परन्तु निर्दयी सरकार उन कंकालों के रक्त का शोषण कर अपनी सेनाओं को खूब मज़बूत बना रही है। इन राष्ट्रीय सरकारों पर साम्राज्यवाद का ऐसा भूत सवार है कि इन्हें अपनी प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्य का ज्ञान भी न रहा। प्रजातंत्रवाद की दुहाई देनेवाले राष्ट्र आज पूँजीवाद का पोषण करने में लगे हुए हैं। 'राज्य प्रजा के आनन्द के लिए है।' 'प्रजा राजा का पुत्र है।' इन सिद्धान्तों को आज यह पूँजीवादी सरकार भूल बैठी है।

लंकाशायर के मज़दूर भूखों मर रहे हैं; पर ग्रेट-ब्रिटेन की सरकार के फ़ौजी बजट में कोई कमी नहीं की गई। सन् १८८६ में ग्रेट-ब्रिटेन ने अपने शस्त्रों के लिए २ करोड़ ८० लाख पौण्ड व्यय किये। महायुद्ध से पूर्व वर्ष में ७ करोड़ ७० लाख पौण्ड केवल अस्त्र-शस्त्रों पर खर्च किये गये। और अब राष्ट्र-संघ की स्थापना के बाद, पेक्ट आफ़ पेरिस, वाशिंगटन और लन्दन नाविक सन्धियों एवं जर्मनी के निःशस्त्री-

करण के बाद भी, ग्रेट-ब्रिटेन ११ करोड़ ४० लाख पौण्ड प्रतिवर्ष अस्त्र-शस्त्रों पर व्यय करता है।

संसार में सन् १६२५ ई० में ३५०००, लाख डालर तथा सन् १६३० ई० में ४१२८०, लाख डालर केवल अस्त्र-शस्त्रों पर व्यय किये गये। यह ६२ राष्ट्रों का व्यय है। यह व्यय का हिसाब राष्ट्र-संघ द्वारा तैयार किया गया है। यह बिलकुल सच्चा तो नहीं हो सकता; परन्तु इससे आप वर्तमान परिस्थिति का अनुमान लगा सकते हैं।

महासमर की तैयारी के समय सन् १६१३-१४ में ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस, इटली ने मिलकर ६०००, लाख डालर से अधिक व्यय किया। जब उनकी विजय हो गई, तब १६३०-३१ में उन्होंने १२५००, लाख डालर व्यय किये।

संयुक्त-राष्ट्र महायुद्ध से पूर्व अस्त्र-शस्त्रों से इतना अधिक सुसज्जित न था। सन् १६१३-१४ में संयुक्त-राष्ट्र ने अपने अस्त्र-शस्त्रों पर २४४, लाख डालर व्यय किये। इस प्रकार युद्ध-काल से २००% प्रतिशत की वृद्धि हुई। जापान युद्ध के समय ६६०, लाख डालर खर्च करता था; पर वह अब २३२०, लाख व्यय करता है।

रूस ने युद्ध के समय ४४८०, लाख डालर शस्त्रों पर व्यय किये; पर १६२६-३० ई० में ५७६०, लाख डालर व्यय किये। इस प्रकार उसके व्यय में २६% की वृद्धि हुई। जर्मनी ने सन् १६१३-१४ में अपने शस्त्रों पर ४६३०, लाख डालर व्यय किये; परन्तु महासमर के बाद वह निःशस्त्र कर दिया गया; इसलिए १६३०-३१ ई० में उसका व्यय पूर्व की अपेक्षा घटकर १७००, लाख डालर हो गया। इस प्रकार ६३% प्रतिशत कम खर्च होने लगा।

अस्त्र-शस्त्रों पर शक्तिशाली राष्ट्रों का व्यय
(१९१३ और १९३० ई० में) डालरों में
७२८
२४५
१९३०-१९१३
संयुक्तराष्ट्र अमेरिका
५७९
४४८
१९३०-१९१३
रूस
५३५
३७५
१९३०-१९१३
ग्रेटब्रिटेन
४५५
३४९
१९३०-१९१३
फ्रान्स
२५९
१७९
१९३०-१९१३
इटली
२३२
९६
१९३०-१९१३
जापान
१७०
४६३
१९३०-१९१३
जर्मनी

१५
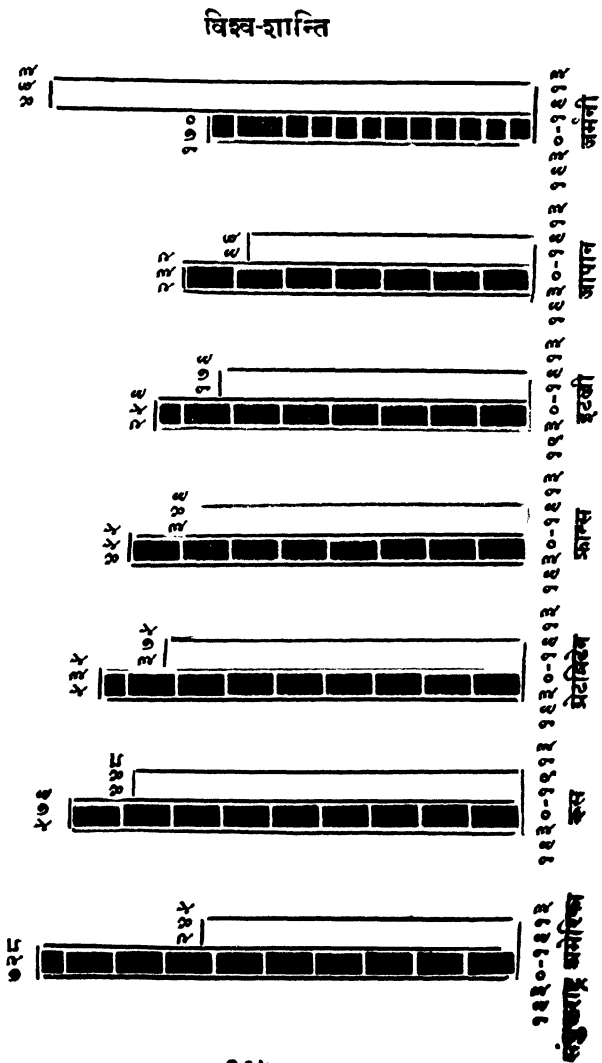
शस्त्रीकरण का व्यय राष्ट्र के प्रति मनुष्य पर
(१९३० में डालरों में)

फ्रान्स	ग्रेटब्रिटेन	इटली	अमेरिका	जापान	रूस	जर्मनी
१३	११	८	७	४	४	३
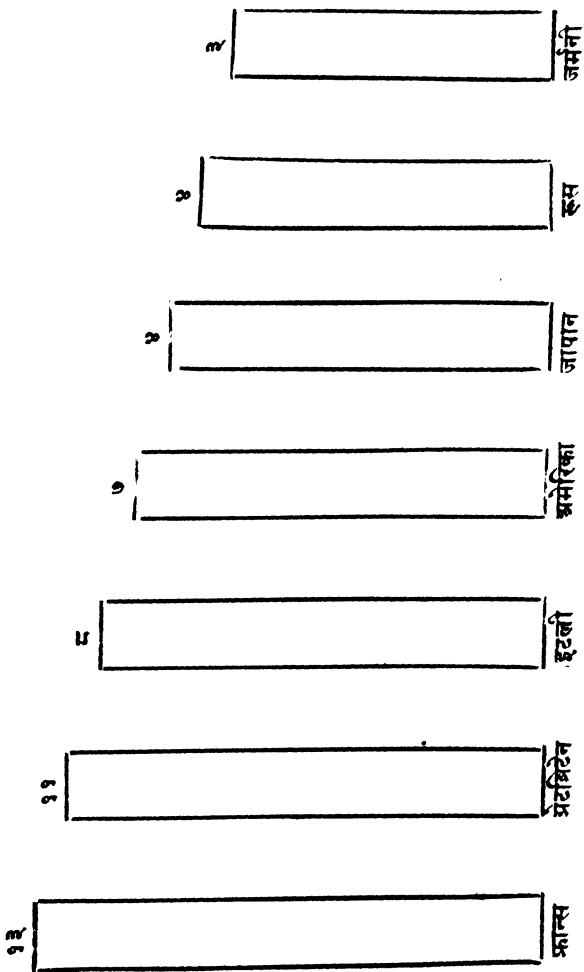
अस्त्र-सम्बन्धी बजट-व्यय की तुलना से किसी राष्ट्र की सैनिक-शक्ति की तुलना करना भ्रम-पूर्ण है ; क्योंकि सेना की शक्ति का अनुमान करने के लिए हमें अन्य आवश्यक बातों पर विचार करना उचित है। नौ-सेना (Naval armament) अधिक व्ययशील है। सैनिकों के प्रकारों में भेद के कारण तथा विविधि देशों के जीवनादर्श में भेद होने के कारण सेना पर भी विशेष प्रभाव पड़ता है। सेनाओं की शक्ति का ठीक ठीक अनुमान लगाना सम्भव नहीं ; क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र स्पष्ट रूप से अपनी सेना का समुचित वृत्तान्त बतलाने से संकोच और भय का अनुभव करता है। 'Headway' नामक पत्र के १९२९ दिसम्बर के अंक में जनरल सर फेड्रिक मौरिश ने एक लेख लिखा है, उसमें सन् १९१३, १९२५ ई० और १९२८ ई० के सैनिक आँकड़ों की तुलना की गई है। उनके आधार पर G. D. H. Cole ने अपनी पुस्तक में यह निष्कर्ष निकाला है—

संसार के बड़े राष्ट्रों की नाविक-सेना

जनवरी १९३२—U. S. A.

	जर्मनी	ब्रिटिश-साम्राज्य	अमेरिका	जापान	फ्रांस	इटली	रूस
युद्ध के जहाज और क्रूजर	४+२	१५	१५	१०	९	४	३
क्रूजर	६	५३+७	१९+७	३१+७	२२+५	१७+९	४
टौरपीडो वोट	२६	१३४+२०	२५१+५	११०-१०	६५	९९+११	१७
Mine Sweepers	२९	३२	४३	१०+२	२६	४८	६
Aircraft careers	—	२४+३	३+१	३+१	१४+१९	२१	—
Gunboat motorboats	३+१	५१+१०	२०	१५	६५+२५	७०+३	४
Submarines	५२+१०	८१+३	६७+५	६५+४५	४६+१९	—	१६

(जहाँ + ऐसा चिह्न बना है, उसका आशय यह है कि जहाज़ बन रहे हैं।)

यूरोप के सैनिक आकाश-यान।सन् १९३२

ग्रेटब्रिटेन	१४३४+१२७	जापान	१६३६
फ्रान्स	२३७५	स्पेन	४६२+१८७
इटली	१५०७	पुर्तगाल	१५६
जर्मनी	—	ग्रीस	४०+८०
रूस	७५०	अलवेनिया	—
पोलेण्ड	७००	बलगेरिया	—
जेकोस्लावाकिया	५४६+१४१	टर्की	—
रूमानिया	७६६	अस्ट्रिया	—
युगोस्लाविया	६२७+२६३	हंगरी	—
बेलजियम	१६५+११३	स्विटज़रलैण्ड	३००
हॉलेण्ड	३२१	लिथूनियन	७०
डेनमार्क	२४	लटाविया	७६
स्वीडेन	१६७	इस्टोनिया	५४
नारवे	१७६	लक्समवर्ग	—
फिनलैण्ड	६०	आयरलेण्ड	२४

अमेरिका (U. S. A.) १७५२+५६६

जिन अंकों के आगे + चिह्न लगे हैं, वे जहाज सैनिक-कार्य के अयोग्य हैं।

इन विशाल आकाश-सेना और स्थल-सेना के अतिरिक्त रासायनिक युद्ध (Chemical War) सबसे अधिक भयानक जन-संहारकारी है। फ्रान्स आदि देशों में ऐसी गैसें तैयार की जा रही हैं, जो मिनटों में अपार जन-समूह का नाश कर दें।

इस प्रकार हमने देख लिया कि राष्ट्रों के राजनीतिज्ञ जिनेवा में

एकत्र होकर निःशस्त्रीकरण की योजनाओं पर गरमागरम बहस करते हैं; शस्त्रीकरण की कमी के लिए प्रस्ताव रखते हैं। सैनिक वायुयानों को नष्ट करने के उपाय सोचते हैं; पर उनके राष्ट्र अपने-अपने यहाँ बड़ी ज़ोरदार तैयारी में लगे हुए हैं। वास्तव में निःशस्त्रीकरण की समस्या बड़ी विकट है; क्योंकि इसका आर्थिक-साम्राज्यवाद से घनिष्ठ सम्पर्क है। आर्थिक-साम्राज्यवाद की रक्षा के लिए ही विशाल भयंकर सशस्त्र सेनाएँ रक्खी जाती हैं; इसलिए जब तक आर्थिक-साम्राज्यवाद के विनाश का उपाय न सोचा जायगा और जब तक उसका संहार न किया जायगा, तब तक शस्त्रीकरण की प्रतियोगिता कम नहीं हो सकती। यदि निःशस्त्रीकरण की समस्या हल हो गई, तो समझा जायगा कि यूरोप के राष्ट्रों में हार्दिक परिवर्तन होने लगा है। Viscount Cecil ने ठीक कहा है—

'........ for the most part the delegates have been governed by the temper of the Parliamentary majorities at home, the bewilderment of the public, confused by untelligible technicalities, exaggerated demands of some peace enthusiasts on one hand, the sinister activities of armament interests on the other. *

---

* The Newyork Times, August 28, 1932.

दसवाँ अध्याय

राष्ट्र-संघ का भविष्य

वसुधैव कुटुम्बकम्

भारत अपनी अनुपम स्थिति के कारण, विश्व की राजनीति में विशेष महत्त्व रखता है। यद्यपि इस समय भारत स्वतंत्र राष्ट्र नहीं है—वह विदेशी सत्ता के अधीन है, तथापि इसका अर्थ यह नहीं कि भारत का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर कोई प्रभाव नहीं है। इस समय एशिया और विशेषतया भारत में जो राष्ट्रीय-जागरण हो रहा है—स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए जो संग्राम हो रहा है, वह विश्व की राजनीति में क्रांतिकारी परिवर्तन किये बिना न रहेगा। यही कारण है कि संसार के प्रख्यात और कुशल राजनीतिज्ञों की आँखें भारत पर लगी हुई हैं। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के राजनीति के विद्वान् पण्डित Alfred Zimmern ने अपने एक निबंध में लिखा है—

राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति

'India is the pivot of world-politics in coming generation. To put it more specifically, if India preserves her association with the British commonwealth, and the commonwealth, on its side gives India the place in its system, in its councils which is due to her, the prospects for world peace & general human progress will be immeasurably increased. If on the other hand, the efforts to establish an equal partnership between, India & the other British Dominions shoud break down the consequences would recoil, not simply on the parties immediately concerned but on the whole human family. The stage would be set for an inter-racial conflict of incalculable dimensions.' *

* 'भावी युग में भारत विश्व-राजनीति का परिवर्त्तक होगा। और स्पष्ट रूप से कहा जाय, तो यदि भारत ब्रिटिश कामन-वैल्थ से अपना संबंध कायम रखेगा, और दूसरी ओर कामन-वैल्थ अपने संगठन में भारत को समुचित पद देगा, तो विश्व-शान्ति और मानव-समाज के अभ्युदय का मार्ग बहुत ही अधिक प्रशस्त हो जायगा। यदि दूसरी ओर, भारत और अन्य ब्रिटिश-उपनिवेशों से समान रूप से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न विफल रहा, तो उसका परिणाम न केवल कामन-वैल्थ पर ही—बल्कि समस्त मानव-समाज पर पड़ेगा। अन्तर्जातीय (International) संघर्ष के लिए एक विशाल रंगमंच तैयार हो जायगा।'

प्रोफ़ेसर ज़िमर्न का उपर्युक्त कथन कितना गंभीर और विचारपूर्ण है। यह कथन इस पुस्तक में 'शान्तिवादी भारत' पर एक पृथक् अध्याय लिखने की आवश्यकता पर प्रकाश डालता है।

वश्व-शान्ति

यथार्थ में आज समस्त संसार भारत की ओर टकटकी लगाकर देख रहा है। अब भौतिकवाद की विफलता और उससे उत्पन्न सँसार-संकट का अनुभव कर पाश्चात्य जगत् के मनीषी विद्वान भारत—आस्तिक-वादी दार्शनिकों के देश—से शान्ति का संदेश सुनने के लिए इच्छुक हैं। विगत महासमर में संसार के राष्ट्रों ने अपार धन और जन-शक्ति का संहार कर यह अनुभव किया कि युद्ध वास्तव में सभ्यता का संहारक है। यह तो अनुभव किया; पर युद्ध संसार से कैसे मिट सकता है—इस पर सचाई से विचार नहीं किया गया। यदि किसी अंश में विचार भी किया, तो वह व्यवहार में नहीं लाया गया।

जिस समय यूरोपीय महायुद्ध अपनी भीषणता की चरम सीमा पर था, उस समय 'शान्ति का देवदूत' संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका संसार को अपने आदर्शवाद की व्याख्या सुना रहा था। उसका राष्ट्रपति विल्सन अपने वक्तव्यों, भाषणों से सब संसार को यह विघोषित कर रहा था कि विश्व में शांति-स्थापना अमेरिकन सिद्धान्तों के पालन करने से ही हो सकती है। अमेरिका ने संसार को स्वतंत्रता, विश्व-बन्धुत्व और समानता का सन्देश दिया। महासमर होने पर एक ऐसी विश्व-संस्था स्थापित की जाय, जो भविष्य में न केवल युद्धों को ही असम्भव कर दे, प्रत्युत् संसार में शान्ति, स्वतन्त्रता और समानता को जन्म दे।

परन्तु जब वर्सैलीज़ की सन्धि हुई और उसकी शर्तों पर विचार करने के लिए शान्ति-परिषद् की योजना की गई, तो अमेरिका का आदर्शवाद शरद्काल के मेघ-मंडल की भाँति विलीन हो गया। संसार के निर्बल राष्ट्र और विशेषरूपेण एशिया के पिछड़े राष्ट्र अमेरिका से बड़ी आशा लगाये बैठे थे; परन्तु शान्ति-सन्धि ने उन्हें निराश कर दिया, जिसे वे साक्षात् धर्मराज समझे थे, वही उनका गुप्तवेषी रक्त-शोषक सिद्ध हुआ। अतः संसार ने अमेरिका से अपनी दृष्टि फेर ली और

एशिया की ओर लगाई। इन छल-प्रपञ्चों और यूरोपीय कूटनीतिज्ञों के फल-स्वरूप एशिया में राष्ट्रीय-जागरण का आन्दोलन बड़ी उग्रता से शुरू हुआ।

१—भारत और अन्तर्राष्ट्रीयता

अब इसमें तो किसी को किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है कि भारत की आदि-संस्कृति सबसे अधिक प्राचीन है। परा और अपरा, ज्ञान-विज्ञान का जैसा उत्कृष्ट और मानवोपयोगी भांडार वेदों में है, वैसा आज तक कहीं नहीं मिला। हम यहाँ वैदिक-संस्कृति अथवा प्राचीन आर्य-गौरव के विषय में कुछ लिखना नहीं चाहते और न उसके लिखने का यहाँ प्रसंग ही है; परन्तु हम यहाँ यह बतला देना चाहते हैं कि भारत के समस्त साहित्य में विश्व-बन्धुत्व और विश्व-संस्कृति के विचारों का समावेश है। विश्व-बंधुत्व (World Brotherhood) केवल साहित्य-क्षेत्र तक ही सीमित न रहा; प्रत्युत् व्यवहार-क्षेत्र में उसका प्रत्यक्षीकरण किया गया।

वैदिक-संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता 'लोक-संग्रह' परमार्थ-चिंतन रही है। आप वैदिक जीवन के चाहे जिस क्षेत्र को लीजिए—पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक अथवा अन्तर्राष्ट्रीय—सभी में लोक-संग्रह (Happiness of the people) को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इसलिए भारत की भूमि में विश्व-भावना से समन्वित राष्ट्रीयता का उदय हुआ है। वैदिक-संस्कृति के अनुसार विश्व-प्रेम और देश-प्रेम एक दूसरे के विरोधी नहीं; किन्तु पूरक भाव हैं। जिस प्रकार एक मनुष्य अपने कुटुम्ब से अनुराग रखता हुआ भी देश-भक्ति से मुख नहीं मोड़ता, राष्ट्र-हित के लिए अपने व्यक्तिगत हितों का बलिदान करने के लिए तत्पर रहता है, उसी प्रकार एक सच्चा देश-भक्त भी विश्व-हित

के लिए अपना सब कुछ अर्पण कर सकता है। जिन विचारकों का यह कथन है कि राष्ट्रीयता (देश-भक्ति) विश्व-प्रेम के लिए घातक है, उनको अपना यह कथन वर्तमान उग्र राष्ट्रीयता के लिए ही सीमित रखना चाहिए। जो राष्ट्रीयता हमें दूसरों से द्वेष रखना नहीं सिखलाती, वह किस प्रकार विश्व के लिए अवांछनीय हो सकती है!

वेद में ऐसी ही लोक-कल्याणकारी देश-भक्ति और राष्ट्रीयता का विधान है। हम यह दावे के साथ कह सकते हैं कि राष्ट्रीयता का ऐसा सुन्दर आदर्श आपको अन्य किसी देश की संस्कृति में नहीं मिल सकता। अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का पहला सूक्त पृथ्वी-सूक्त है। उसमें राष्ट्रीयता का बहुत ही दिव्य वर्णन है।

असंवाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः सम बहु।
नानावीर्य्या ओषधीर्या विभर्त्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥२॥

[जिस भूमि के मननशील मनुष्यों में रुकावट नहीं है और जिसके अन्दर बहुत ऊँचे स्थान, नीचे स्थान तथा समतल हैं अथवा जिसके मनुष्यों के अन्दर उत्तम और श्रेष्ठ उन्नतिकारी तथा अत्यन्त समता के भाव हैं और जो अनेक शक्तियोंवाली औषधियों को धारण करती है, वह हमारी पृथ्वी हमारे यश को प्रसिद्ध करे अथवा वह पृथ्वी हमारे लिए खुली रहे और हमारे लिए समृद्ध हो।]

याणर्वेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां माया भिरच चरन्मीवीणः ॥
यस्या हृदयं परमे व्योमन् सत्येतावृत समृतं पृथिव्याः।
सानो भूमिस्त्विषि बलं राष्ट्रे दधातूत्तये ॥ ८ ॥

[जो पहले, सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व समुद्र में, अन्तरिक्ष में जल-रूप द्रवावस्थावाली थी, जिसकी बुद्धिमान् ज्ञानी जन बुद्धियों से, शक्तियों से,

एशिया की ओर लगाई। इन छल-प्रपञ्चों और यूरोपीय कूटनीतिज्ञों के फल-स्वरूप एशिया में राष्ट्रीय-जागरण का आन्दोलन बड़ी उग्रता से शुरू हुआ।

१—भारत और अन्तर्राष्ट्रीयता

अब इसमें तो किसी को किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है कि भारत की आदि-संस्कृति सबसे अधिक प्राचीन है। परा और अपरा, ज्ञान-विज्ञान का जैसा उत्कृष्ट और मानवोपयोगी भांडार वेदों में है, वैसा आज तक कहीं नहीं मिला। हम यहाँ वैदिक-संस्कृति अथवा प्राचीन आर्य-गौरव के विषय में कुछ लिखना नहीं चाहते और न उसके लिखने का यहाँ प्रसंग ही है; परन्तु हम यहाँ यह बतला देना चाहते हैं कि भारत के समस्त साहित्य में विश्व-बन्धुत्व और विश्व-संस्कृति के विचारों का समावेश है। विश्व-बंधुत्व (World Brotherhood) केवल साहित्य-क्षेत्र तक ही सीमित न रहा; प्रत्युत् व्यवहार-क्षेत्र में उसका प्रत्यक्षीकरण किया गया।

वैदिक-संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता 'लोक-संग्रह' परमार्थ-चिंतन रही है। आप वैदिक जीवन के चाहे जिस क्षेत्र को लीजिए—पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक अथवा अन्तर्राष्ट्रीय—सभी में लोक-संग्रह (Happiness of the people) को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इसलिए भारत की भूमि में विश्व-भावना से समन्वित राष्ट्रीयता का उदय हुआ है। वैदिक-संस्कृति के अनुसार विश्व-प्रेम और देश-प्रेम एक दूसरे के विरोधी नहीं; किन्तु पूरक भाव हैं। जिस प्रकार एक मनुष्य अपने कुटुम्ब से अनुराग रखता हुआ भी देश-भक्ति से मुख नहीं मोड़ता, राष्ट्र-हित के लिए अपने व्यक्तिगत हितों का वलिदान करने के लिए तत्पर रहता है, उसी प्रकार एक सच्चा देश-भक्त भी विश्व-हित

के लिए अपना सब कुछ अर्पण कर सकता है। जिन विचारकों का यह कथन है कि राष्ट्रीयता (देश-भक्ति) विश्व-प्रेम के लिए घातक है, उनको अपना यह कथन वर्तमान उग्र राष्ट्रीयता के लिए ही सीमित रखना चाहिए। जो राष्ट्रीयता हमें दूसरों से द्वेष रखना नहीं सिखलाती, वह किस प्रकार विश्व के लिए अवांछनीय हो सकती है!

वेद में ऐसी ही लोक-कल्याणकारी देश-भक्ति और राष्ट्रीयता का विधान है। हम यह दावे के साथ कह सकते हैं कि राष्ट्रीयता का ऐसा सुन्दर आदर्श आपको अन्य किसी देश की संस्कृति में नहीं मिल सकता। अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का पहला सूक्त पृथ्वी-सूक्त है। उसमें राष्ट्रीयता का बहुत ही दिव्य वर्णन है।

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः सम वहु।
नानावीर्य्या ओषधीर्या विभर्त्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥२॥

[जिस भूमि के मननशील मनुष्यों में रुकावट नहीं है और जिसके अन्दर बहुत ऊँचे स्थान, नीचे स्थान तथा समतल हैं अथवा जिसके मनुष्यों के अन्दर उत्तम और श्रेष्ठ उन्नतिकारी तथा अत्यन्त समता के भाव हैं और जो अनेक शक्तियोंवाली औषधियों को धारण करती है, वह हमारी पृथ्वी हमारे यश को प्रसिद्ध करे अथवा वह पृथ्वी हमारे लिए खुली रहे और हमारे लिए समृद्ध हो।]

याणर्वेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां माया भिरच चरन्मीवीणः ॥
यस्या हृदयं परमे व्योमन् सत्येतावृत समृतं पृथिव्याः।
सानो भूमिस्त्विषि बलं राष्ट्रे दधातूत्तये ॥ ८ ॥

[जो पहले, सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व समुद्र में, अन्तरिक्ष में जल-रूप द्रवावस्थावाली थी, जिसकी बुद्धिमान् ज्ञानी जन बुद्धियों से, शक्तियों से,

युक्तियों से अनुकूलतया सेवा करते आये हैं, जिस पृथ्वी का हृदय परम आकाश में है और जो सत्य से, अबाध नियम से ढका है और अवि-नाशी है, ऐसी हमारी मातृ-भूमि उत्तम श्रेष्ठ राष्ट्र में हमें क्रांति और बल दे।]

गौरांग जातियों का मनोविज्ञान रंगीन जातियों को भूमि का अधिकारी नहीं बतलाता। वर्तमान समय में एशिया तथा अफ्रीका के निवासियों पर गोरी जातियाँ शासन कर रही हैं, वे अपने अधिकार के समर्थन में यह तर्क देती हैं कि परमात्मा ने गोरी जातियों (White Races) को ही संसार पर शासन करने के लिए बनाया है। रंगीन जातियों को भूमि पर शासन करने का कोई अधिकार नहीं है। यह आजकल की उग्र राष्ट्रीयता का एक विशेष लक्षण है। यही कारण है कि इस जातीयता (Racialism) के आन्दोलन के सामने विश्व-शान्ति की भावना उनके मस्तिष्क में पैदा नहीं होती; पर वैदिक-संस्कृति के विश्व-हितकारी आदर्श को देखिए। यह समानता का कैसा ऊँचा सिद्धान्त हमारे सामने रखती है।

हे मातृभूमे! मरणधर्मा तुझसे उत्पन्न होते हैं और तुझमें ही विचरते हैं, तू द्विपदः (मनुष्यों) और चतुष्पदः (पशुओं) को धारण करती है—पोषण करती है। जिन मनुष्यों के लिए उदय होता हुआ सूर्य किरणों के द्वारा जीवन-प्रद प्रकाश भली प्रकार देता है, ये पंच-मानव (गौरांग, लाल, पीत, धूसर और कृष्ण) तेरे ही हैं। *

सब संसार के मनुष्य मित्र हैं; वसुधा के सब मानव एक कुटुम्ब है,

---

* त्वज्जाता स्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पंच-मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्यः
उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

—अथर्व १२-१-१५

यह संक्षेप में वैदिक राष्ट्रीयता—भारतीय राष्ट्रीयता—का आदर्श है।

अब आप वैदिक-काल और महाभारत-काल को छोड़कर उस काल की ओर आइए, जिसे इतिहासज्ञ ऐतिहासिक-काल कहते हैं। जिस समय यूरोप अपनी सभ्यता के शिशुकाल में था; सभ्यता का विकास पूरी तरह नहीं हुआ था। लोग यह भी नहीं जानते थे कि 'राज्य क्या है!' जनतंत्रवाद क्या चीज है? जब अर्द्ध-सभ्य जातियाँ यूरोप के नगरों में जंगली जातियों के समान लड़ती-झगड़ती रहती थीं—लूट-पाट करती थीं—उस काल में भारत में सम्राट् अशोक राज्य करते थे।

२—अशोक का विश्व-प्रेम

अशोक ने वैदिक-आदर्श को विश्व के सामने कितने त्याग और प्रेम से निभाया, यह भारत के इतिहास में एक अनुपम घटना है। विशाल साम्राज्य के अधिपति, विराट् सशस्त्र सेना के अध्यक्ष सम्राट् अशोक ने यह प्रत्यक्षीभूत किया कि संसार से विद्वेष और वैमनस्य को दूर करने का साधन युद्ध नहीं है—प्रतिस्पर्द्धा नहीं है; किन्तु सच्ची विजय-प्राप्ति का साधन प्रेम है।

'राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद सम्राट् अशोक ने कलिंग देश को विजय किया। वहाँ डेढ़ लाख मनुष्य बन्दी बनाये गये और इससे कई गुना आदमी महामारी आदि से मरे।......कलिंग को जीतने पर देवताओं के प्रिय को बड़ा पश्चात्ताप हुआ; क्योंकि जिस देश की पहले विजय नहीं हुई है, उस देश की विजय होने पर लोगो की हत्या तथा मृत्यु अवश्य होती है। और न जाने कितने मनुष्य कैद किये जाते हैं। देवताओं के प्रिय को इससे बहुत दुःख और खेद हुआ।...' *

अशोक का इतिहास में इतने अधिक महत्त्व का कारण यही है

---

* देखिए, मौर्य्य-साम्राज्य का इतिहास—प्रो० सत्यकेतु विद्यालंकार पृ० ४४५-४४६ (सं० १९८५ वि०)

कि उसने शस्त्र-द्वारा—युद्ध-द्वारा—देश-विजय की कामना का त्याग कर धर्म-द्वारा संसार की विजय की ; पर अशोक के धर्म-विजय का तात्पर्य यह नहीं है कि उसने किसी धर्म-विशेष या बौद्ध-धर्म का संसार में प्रचार किया। यद्यपि अशोक की प्रवृत्ति बौद्ध-धर्म की ओर थी ; परन्तु उस न्यायमूर्ति धर्मराज अशोक ने बौद्ध-धर्म के प्रचार में अपनी राज्यसत्ता का प्रयोग नहीं किया। अशोक का 'धर्म' से क्या तात्पर्य था ; उसमें किन-किन सिद्धान्तों का समावेश था, यह उसने अपने शिला-लेखों में स्पष्टतया अंकित किया है। अशोक लिखता है—

'धर्म यह है कि दास और सेवकों से उचित व्यवहार किया जाय, माता और पिता की सेवा की जाय। मित्र, परिचित, सम्बन्धी, श्रमण और ब्राह्मणों को दान दिया जाय और प्राणियों की हिंसा न की जाय।'*

एक दूसरे स्थान पर लिखा है।

'......धर्म यही है कि पाप से दूर रहे, बहुत से अच्छे कार्य करे, दया, दान, सत्य और शौच का पालन करे।'

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि अशोक ने किसी धर्म-विशेष का प्रचार नहीं किया। उसके धर्म के सिद्धान्त सब धर्मों में मिलते थे ; इसलिए उसका धर्म विश्व-धर्म था। प्रोफेसर सत्यकेतु विद्यालंकार लिखते हैं—

'इस तरह जिस धर्म-विजय को स्थापित करने का उद्योग अशोक ने भारत में किया, उसी को विदेशों में भी स्थापित करने के लिए प्रयत्न किया गया। वह इसमें सफल भी हुआ ; क्योंकि वह स्वयं लिखता है— 'इस प्रकार सर्वत्र जो विजय हुई है, वह विजय, वास्तव में, सर्वत्र आनन्द देनेवाली है। धर्म-विजय में जो आनन्द मिलता है, वह बहुत प्रगाढ़ आनन्द है।' सम्राट् अशोक इस धर्म-विजय को इतना महत्त्व

देते थे कि वे एक स्थान पर लिखते हैं—'यह लेख इसलिए लिखा जा रहा है कि मेरे पुत्र और पौत्र जो हों, वे नया देश-विजय करना अपना कर्त्तव्य न समझें। यदि कभी वे नया देश-विजय करने में प्रवृत्त हों, तो उन्हें शान्ति और नम्रता से काम लेना चाहिए और धर्म-विजय को ही यथार्थ विजय समझना चाहिए। इससे लोक और परलोक दोनों जगह सुख-लाभ होता है।'

(मौर्य-साम्राज्य का इतिहास पृष्ठ ४८५)

विश्व के सम्राटों में अशोक का स्थान सर्वोच्च है। वह संसार के सम्राटों में शिरोमणि माना जाता है। इसलिए सुविख्यात इतिहास-लेखक श्री० एच० जी० वेल्स ने अपने इतिहास The Outline of History में लिखा है—

"For eight & twenty years Asoka worked surely for the real needs of men. Amidst the tens of thousands of names of monarchs that crowd the columns of history, their majesties, and graciousness and serenities & royal highnesses & the like, the name of Asoka shines almost alone, a star.

From the Valga to Japan his name is still honoured China, Tibet, & even India, though it has left his doctrine preserve the tradition of his greatness. More living men cherish his memory to-day than have even heard the names of Constantine or Charlemque'

(The out line of History By H G. Wells p. 212)

अशोक ने इतना शक्तिशाली सम्राट् होते हुए भी, देश-विजय का त्याग कर धर्म-विजय का पथ क्यों अपनाया? इसका उत्तर, जैसा कि उसके एक लेख से विदित होता है, यही है कि सेना-द्वारा विजय सच्ची विजय नहीं होती। उससे मानव-संहार होता है, प्रजाजन का कल्याण

नहीं। कलिंग देश की विजय से अशोक के हृदय को घोर कष्ट हुआ। क्या आज के राष्ट्र-नायक कभी यह कल्पना कर सकते हैं कि विजय से कैसा दुःख होता है ? यह कल्पना-शक्ति के अभाव का कारण है। इस युग के राष्ट्र-नायक तथा सेनापति राष्ट्रीय प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं करते, अथवा जानते हुए भी स्वार्थ-पूर्ति के लिए उसकी अवहेलना करते हैं !।

अशोक सम्राट् था और था बौद्धधर्म का सच्चा अनुयायी। यदि वह चाहता, तो अन्य धर्मों के अनुयायियों पर अत्याचार करके संसार में बौद्ध धर्म का प्रचार करता ; परन्तु वह तो इसे हिंसा समझता था— इसे वह राजधर्म (Hindu Polity) के विरुद्ध समझता था। जिसे लोग आदर्श समझते थे, उसी सत्य और अहिंसा के तथ्य को क्रियात्मक-रूप से अशोक ने रखकर संसार को धर्म की महानता दिखला दी।

बहुत प्राचीन-काल से भारत का मिश्र, चीन, यूनान, रोम, फारस प्रभृति देशों से सम्बन्ध रहा है। भारत की विचारधारा और वैदिक संस्कृति का प्रवाह मुक्त रीति से इन देशों में जारी रहा। अनेकों विद्वान् और ज्ञान-जिज्ञासु इस ऋषि-भूमि में आकर यहाँ से ज्ञान-विज्ञान को सीखकर गये और उसका पाश्चात्य-जगत् में प्रचार किया। यूनान की सभ्यता का भारत पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। इस प्रकार भारत प्राचीन समय से विश्व-बंधुत्व और अन्तर्राष्ट्रीयता का पुजारी रहा है। उसने आज पर्यन्त किसी देश पर अपना धर्म फैलाने के लिए आक्रमण नहीं किया और न कभी राज्य-विस्तार के लिए रक्तपात ही किया। संसार में विश्व-शान्ति का ऐसा सच्चा समर्थक राष्ट्र मिलना संभव नहीं।

३—राष्ट्र-संघ और भारत

विगत यूरोपीय महायुद्ध की समाप्ति पर जब सन्धि हुई, तो उस पर

भारत के प्रतिनिधियों ने भी हस्ताक्षर किये ; इसलिए स्वाभाविक रूप से भारत राष्ट्र-संघ का मौलिक सदस्य (Original Member) बन गया। महासमर में सहस्रों भारतीय वीरों ने साम्राज्य-रक्षा के लिए इसलिए रक्त बहाया, कि विजय प्राप्त होने पर भारत को अवश्य ही स्वराज्य मिल जायगा। *

साम्राज्य की रक्षा हो गई ; परन्तु भारत की आकांक्षाएँ पूरी नहीं हुईं। युद्धावसान पर भारत में जो आन्दोलन हुआ, उसे हम आगे बतलावेंगे। यहाँ उसका उल्लेख अप्रासंगिक होगा।

हाँ, भारत वर्सेलीज़ के सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करने के कारण, राष्ट्र-संघ का मौलिक सदस्य तो बन गया ; परन्तु एक बड़ी विचित्र दशा पैदा हो गई। भारत पराधीन राष्ट्र है ; इसलिए ब्रिटिश-साम्राज्य

---

* खेड़ा के सत्याग्रह में विजय प्राप्त करने के उपरान्त महात्मा गान्धी के सामने राजभक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ। लार्ड चेम्सफोर्ड ने दिल्ली में समस्त प्रसिद्ध भारतीय नेताओं की सभा बुलाई। उसमें यह प्रस्ताव रखा गया, कि भारतीय सैनिक महासमर में जाकर लड़े और रंगरूट भरती किये जायँ। गान्धीजी ने प्रस्ताव का समर्थन किया। महात्मा गान्धी ने जुलाई १९१८ ई० में खेड़ा जिले में एक भाषण दिया, जिसमें आपने कहा—

'Partnership in the Empire is our definite goal. We should suffer to the utmost of our ability & even lay down our lives to defend the Empire.

If the Empire perishes, with it perishes our cherished aspirations.'

The easiest & the straightest way, therefore to win Swarajya is to participate in the defence of the Empire,

—*Speeches & Writing of M. K. Gandhi,*
(G. A. Natesan Co, Madras) p. 418

के अधीन रहकर वह समानता का दावा कैसे कर सकता था। वह असेम्बली का सदस्य बना लिया गया; परन्तु जब कौंसिल में जाने के लिए भारत के प्रतिनिधियों ने प्रयत्न किया तो किसी ने सहयोग नहीं दिया। फलतः प्रत्येक निर्वाचन के समय उसके पक्ष में केवल २ या ३ वोट से अधिक न प्राप्त हुए। ब्रिटिश-उपनिवेशों को भी कौंसिल-प्रवेश के लिए बहुत कुछ प्रयत्न करना पड़ा; परन्तु उन्हें इसमें सफलता मिल गई। सबसे पूर्व कौंसिल में कनाडा को स्थान मिला।

यद्यपि राष्ट्र-संघ के विधान (Covenant of the League) की दृष्टि से भारतीय सदस्य तथा अन्य सदस्यों के अधिकार में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता; परन्तु सत्य तो यह है कि राष्ट्र-संघ में जानेवाले 'प्रतिनिधि' भारत-राष्ट्र के प्रतिनिधि नहीं होते; क्योंकि उनका चुनाव भारत की व्यवस्थापक-सभा-द्वारा नहीं किया जाता। वे तो भारत-सचिव (Secretary of State for India)-द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें भारतीय हितों पर कोई प्रकाश डालने की सुविधा भी नहीं; क्योंकि उन्हें विचार-स्वाधीनता प्राप्त नहीं है। सितम्बर के असेम्बली-अधिवेशन (League Assembly) से पूर्व भारत का प्रतिनिधि-मंडल लन्दन के लिए प्रस्थान करता है। वहाँ भारत-सचिव-द्वारा उन्हें आदेश मिलते हैं। बस उन्हीं के अनुसार वे जिनेवा के सम्मेलनों में अपने भाषण देते हैं—प्रस्ताव पेश करते हैं। चाहे उनसे भारत का हित हो या अनहित; इसीलिए भारतीय प्रतिनिधि-मंडल की आवाज़ भारतीय होते हुए भी उसके विचार पूर्ण-रूपेण विलायती होते हैं।

ऐसी परिस्थिति में भारत प्रतिवर्ष ७२४९९ सोने के पौण्ड जिनेवा की भेंट करता है। यह धन भारत की आर्थिक-हीनता तथा राष्ट्र-संघ में उसकी स्थिति को देखते हुए बहुत ही अधिक है। राष्ट्र-संघ की

कौंसिल के स्थायी सदस्यों (Permanent Members)* को छोड़कर कोई राष्ट्र इतना धन राष्ट्र-संघ की भेंट नहीं करता।

सबसे अधिक धन ग्रेटब्रिटेन देता है, उससे कम जर्मनी और फ्रान्स तथा इनसे कम जापान और इटली। इस प्रकार भारत का चौथा स्थान है। इस विपुल धन-राशि को देने का कई बार घोर विरोध किया गया; परन्तु संघ के सदस्यों ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। यथार्थ बात यह है कि स्वार्थी-राष्ट्र भारत के चन्दे में कमी करना इसलिए नहीं चाहते कि उसकी पूर्ति उन्हें स्वयं करनी पड़ेगी और संभव तो यही है कि यह क्षति-पूर्ति ब्रिटेन के मत्थे पड़े; इसलिए ग्रेटब्रिटेन भी इस ओर से उदासीन है। भारत को प्रतिवर्ष जितना धन चन्दे के रूप में राष्ट्र-संघ को देना पड़ता है, उससे उसका उस अनुपात में तो क्या, उससे दशमांश भी लाभ नहीं होता।

भारत की स्वाधीनता, स्वायत्त-शासन तथा अल्प-मत की समस्या आदि तो ब्रिटिश-शासन के आन्तरिक प्रश्न हैं; इसलिए राष्ट्र-संघ इन मामलों में कोई हस्तक्षेप ही नहीं कर सकता। क्या भारतीय मंडल के सदस्य यह बतला सकते हैं कि आज तक राष्ट्र-संघ ने भारत के हित के लिए क्या विशेष कार्य किया है?

राष्ट्र-संघ से सम्बन्धित एक और अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है। इसका नाम है अन्तर्राष्ट्रीय-श्रमिक-संघ (International Labour Organization)। जब इस संघ की योजना तैयार की गई, तो उसमें भारत को स्थान नहीं दिया गया। विदेशी राष्ट्रों ने भारत की सदस्यता का घोर विरोध किया; परन्तु ब्रिटिश प्रतिनिधि-मण्डल ने भारत को संघ में स्थान देने के लिए बहुत प्रयत्न किया।

अन्त में प्रयत्न सफल हुआ और भारत को श्रमिक-संघ में स्थान

* इटली, जापान, फ्रांस, जर्मनी और ग्रेट-ब्रिटेन स्थायी सदस्य हैं।

मिल गया। जब अन्तर्राष्ट्रीय-श्रमिक-संघ में भारत का प्रवेश हो गया, तब उसकी कार्य-समिति (Governing Body) में स्थान प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया गया। अन्य राष्ट्रों का यह आक्षेप था कि यदि २४ सदस्यों में से १२ कार्य-कारिणी के लिए चुन लिये गये, तो ग्रेट-ब्रिटेन 'कामनवेल्थ' की ओर से अधिक संख्या में सदस्य भेज सकेगा, ब्रिटिश सरकार ने इस आशय का एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि इन १२ सदस्यों में से ८ उन देशों के प्रतिनिधि होंगे, जो संसार में विशेष औद्योगिक महत्त्व रखते हैं। इस प्रस्ताव की स्वीकृति से भारत को श्रमिक-संघ की कार्यकारिणी में प्रवेश मिल गया।

यह निःसन्देह स्वीकार किया जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय-श्रमिक-संघ में भारत को ऐसा सुयोग दिया गया है, जिससे वह स्वतंत्र रीति से अपने कार्य की रूप-रेखा निश्चय कर सकता है। राष्ट्र-संघ में भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल में देशी राज्यों की ओर से भी एक प्रतिनिधि लिया जाता है। यह ५६२ देशी राज्यों का नरेश-प्रतिनिधि यथार्थ में प्रतिनिधि नहीं होता। इन राज्यों की ओर से उसे इस आशय का कोई आदेश नहीं मिलता कि संघ में जो कुछ प्रतिनिधि के द्वारा मंजूर कर लिया जायगा, उसे समस्त देशी राज्य (Indian States) भी स्वीकार कर लेंगे; परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ में देशी राज्य का कोई प्रतिनिधि नहीं है; क्योंकि वर्सेलीज़ की सन्धि की ४०५ धारा के अनुसार वह समस्त निश्चय और निर्णय, जिनको किसी देश ने मंजूर कर लिया हो, उस देश की व्यवस्थापिका या अन्य राज्य संस्था में कानून का रूप देने के लिए प्रस्तुत किये जाने चाहिए। यह स्पष्ट ही है कि देशी राज्यों में कुछ अपवादों को छोड़कर, व्यवस्थापिका का अभाव है। इसी असुविधा के कारण उनका सदस्य नहीं लिया जाता। वह सब मुक्त-कण्ठ से स्वीकार करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय निर्णयों, निश्चयों

से राष्ट्रीय श्रमिक-व्यवस्था पर बहुत प्रभाव पड़ा है। कोई बुद्धिमान् मनुष्य यह अस्वीकार नहीं कर सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय-श्रमिक-संघ में भारत का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण और महत्त्वपूर्ण है। भारत के विख्यात राजनीतिज्ञ सर अतुल चटर्जी को सन् १६२७ ई० में सर्व-सम्मति से अन्तर्राष्ट्रीय-श्रमिक-परिषद् (International labour Conference) का सभापतित्व प्रदान कर भारत की प्रतिष्ठा की गई।

अक्टूबर १६३२ ई० में सर अतुल चटर्जी अन्तर्राष्ट्रीय-श्रमिक-संघ की कार्यःकारिणी समिति के प्रधान निर्वाचित किये गये।

भारतीय श्रमिकों के अभ्युत्थान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय-श्रमिक-संघ में भारतीय प्रतिनिधि-मंडल हितकारी सिद्ध हुआ है और भविष्य में भी उससे बहुत कुछ आशा की जा सकती है; पर यह निर्विवाद है कि राष्ट्र-संघ (League of Nations) में भारतीय प्रतिनिधि-मंडल ने कोई हितप्रद काम नहीं किया। अपनी सहायता के लिए भारत जितना धन प्रतिवर्ष संघ को देता है, उसका उसे कुछ भी लाभ नहीं होता; इसलिए भारत के हित की दृष्टि से यही उत्तम है कि भारत राष्ट्र-संघ से अपना संबंध त्याग दे।

पर इससे यह तात्पर्य नहीं है कि भारत विश्व-शांति-स्थापन-कार्य में सहायता ही न दे सकेगा। आज भी ऐसे अनेकों राष्ट्र हैं, जो राष्ट्र-संघ के सदस्य नहीं हैं; पर उसके निःशस्त्रीकरण, सम्मेलन, विश्व-आर्थिक सम्मेलन आदि में भाग लेते रहते हैं। भारत को अमेरिका का ढंग अपनाना चाहिए। अमेरिका और रूस राष्ट्र-संघ के सदस्य नहीं हैं। श्रमिक-संघ का सदस्य बनने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह राष्ट्र-संघ का भी सदस्य हो। विधान में ऐसा कोई नियम नहीं है। ऐसे भी अनेकों राष्ट्र हैं, जो राष्ट्र-संघ के सदस्य नहीं हैं; परन्तु श्रमिक-संघ के सदस्य हैं।

४—भारतीय-स्वाधीनता और विश्व-शान्ति

भारतवासियों ने स्वराज्य प्राप्त करने की आशा से विगत महासमर में अँगरेजों की सहायता की थी; परन्तु पुरस्कार में रौलेट-एक्ट, जलियानावाला बाग-हत्याकाण्ड तथा मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार मिले। इनसे भारत में असन्तोष की प्रबल लहर चली। महात्मा गान्धी ने अपने असहयोग (Non-co-operation) अस्त्र का प्रयोग किया। यहाँ हम भारत की राष्ट्रीय-जागृति का इतिहास नहीं लिख रहे हैं; इसलिए असहयोग-आन्दोलन का विवरण यहाँ प्रासङ्गिक न होगा। हम तो उस पर केवल सिद्धान्त की दृष्टि से विचार करना चाहते हैं—

'सत्याग्रह का अर्थ है, सत्य के लिए आग्रह; इसलिए सत्याग्रह आत्मिक शक्ति है, सत्य आत्मा है। आत्मिक-शक्ति में हिंसा के लिए स्थान नहीं है; क्योंकि मानव पूर्ण सत्य को जानने में असमर्थ है; इसलिए वह किसी को दण्ड देने के अयोग्य है।......

निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistence) निर्बल का अस्त्र माना गया है; क्योंकि वह दुर्बल होने के कारण हिंसा से दूर रहता है; पर वह हिंसा के अस्त्र को अवसर प्राप्त होनेपर काम में ला सकता है।......

सविनय अवज्ञा का अर्थ है अनैतिक कानून का उल्लंघन। जहाँ तक मुझे ज्ञान है, यह पद एक पराधीन राज्य के क़ानूनों का प्रतिरोध करने के लिए Thoreau ने आविष्कृत किया था। उसने सविनय अवज्ञा पर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखा है; परन्तु थ्यूरो अहिंसा का सच्चा समर्थक नहीं था। सविनय अवज्ञा (Civil dis-obediances) सत्याग्रह का एक अंग है......

असहयोग का अर्थ है, राज्य के साथ सहयोग न देना—ऐसे राज्य

के साथ जो असहयोगी की दृष्टि में कुत्सिक बन गया हो ; परन्तु उसमें उग्र प्रकार की सविनय अवज्ञा सम्मिलित नहीं है।

असहयोग ऐसा सरल अस्त्र होने के कारण समझदार बालकों-द्वारा भी व्यवहार में लाया जा सकता है। सविनय अवज्ञा की तरह असहयोग भी सत्याग्रह की एक शाखा है।' *

यह महात्मा गांधी के शब्दों में सत्याग्रह की सूक्ष्म व्याख्या है। सत्याग्रह निर्बल का सहारा नहीं है, जैसा कि बहुतेरे आलोचकों का यह विचार है। वह आध्यात्मिक अस्त्र होने के कारण उन्हीं मनुष्यों-द्वारा प्रयोग में लाया जा सकता है, जिनमें यथेष्ट आत्मिक-बल हो। वह कायर या भयभीत मनुष्यों-द्वारा प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। शत्रु से भयभीत होकर उसे क्षमा करना, आततायी या अत्याचारी के डर से शान्ति-ग्रहण करना कदापि सत्याग्रह नहीं ; बल्कि निर्भयता-पूर्वक अहिंसा और सत्य का मार्ग अवलम्बन कर पशु-बल पर आत्म-बल की विजय करने के लिए सत्याग्रह किया जाता है। सन् १९२० और सन् १९३० का सत्याग्रह-आन्दोलन हमारे समक्ष प्रत्यक्ष रूप से इस सिद्धान्त को रखता है।

स्वदेशी-आन्दोलन का आर्थिक-महत्त्व

असहयोग-आन्दोलन के साथ ही देश में स्वदेशी-आन्दोलन ने जोर पकड़ा। स्वदेशी-आन्दोलन में विदेशी-वस्तुओं के बहिष्कार पर अधिक जोर दिया गया। और साथ-ही-साथ स्वदेशी वस्तुओं की उपज तथा प्रयोग के लिए भी जोरदार आन्दोलन हुआ। स्वदेशी-प्रदर्शिनियों की भी आयोजना की गई, जिनसे स्वदेशी की विशेष उन्नति हुई। इस

---

* Vide Young India (Ed. M. K. Gandhi)
March 21, 1921 p. 110-111.

आन्दोलन में खादी और चरखे का विशेष महत्त्व है। महात्मा गांधी ने सब देश का भ्रमण किया और असहयोग-आन्दोलन का काम जनता के सामने रखा ; पर विशेषरूपेण आपने खद्दर को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया। स्थान-स्थान पर विदेशी वस्त्रों की होलियाँ जलाई गईं और स्वदेशी का व्रत लिया गया।

कहना नहीं होगा, कि खादी के प्रचार से राष्ट्रीय-एकता की भावना का उदय हुआ। किसी समय खादी दरिद्रता का चिह्न समझी जाती थी ; वह गरीबों की लज्जा के ढकने का साधन-मात्र थी ; परन्तु अब वह देश-भक्ति और राष्ट्रीयता का चिह्न मानी जानी लगी। 'एशिया में क्रान्ति' के विद्वान् लेखक डा० सत्यनारायण पी० एच०.डी० लिखते हैं—

'असहयोग-आन्दोलन ने गाँव-गाँव में चरखा चलवा दिया। यह केवल भारतवर्ष ही नहीं ; परन्तु सारे संसार की भलाई के लिए महान् अस्त्र है। कार्ल मार्क्स का सिद्धान्त जहाँ पर खतम होता है, चर्खे का सिद्धान्त उसकी कमी पूरी करने के लिए वहीं से प्रारम्भ होता है। कार्ल मार्क्स ने कोई वैसा पथ नहीं बतलाया, जिस पर चलने से मनुष्य-मात्र की उन्नति हो, वह दिन-दिन खून-खराबी से हटकर शान्ति क ओर बढ़ता जाय। उनके रास्ते में भी खून-खराबी है। चरखा ही एक ऐसी चीज़ है, जो मनुष्य-समाज के भीतर शान्ति तथा सुख स्थायी रूप से बनाये रख सकता है। मानव-समाज की शान्ति तथा सुख स्थायी रखने के लिए उत्पत्ति का केन्द्रीभूत न होने देना आवश्यक है। चरखे से उत्पत्ति केन्द्रीभूत नहीं होती।.........साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के अस्त्र की अपेक्षा चरखे का अस्त्र अधिक शक्तिशाली है।'

—(पृ० ३४७)

स्वदेशी का सिद्धान्त पर-राष्ट्र-द्रोह-मूलक नहीं है। प्रत्येक राष्ट्र

का यह जन्म-सिद्ध अधिकार है, कि वह अपने भोजन-वस्त्र का स्वयं प्रबन्ध करे। यदि गम्भीरता से विचार किया जाय, तो विदित होगा कि यह स्वदेशी का सिद्धान्त दुर्बल राष्ट्रों पर किये जानेवाले अत्याचार और आर्थिक-शोषण की नीति का उन्मूलन करनेवाला है। इसके द्वारा प्रत्येक देश स्वावलम्बी बनकर संसार का उपकार कर सकता है। यदि आज संसार के राष्ट्र इस सिद्धान्त का पालन करने लगें, तो संसार से आर्थिक-साम्राज्यवाद का नाम मिट जाय और फल-स्वरूप जो अशान्ति फैली हुई है, वह दूर हो जाय। स्वदेशी-आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीयता के विपरीत नहीं है; क्योंकि वह मानव-संसार में प्रतिस्पर्द्धा की भावना का विनाश कर उसकी जगह सहकारिता के सिद्धान्त का आरोप करता है।

गान्धी-वाद

महात्मा गान्धी आर्थिक-साम्राज्यवाद को विश्व-शान्ति के लिए एक खतरा मानते हैं। गान्धीजी का यह विचार है, कि जब तक यूरोप के राष्ट्र एशिया और अफ्रिका के राष्ट्रों की लूट को बन्द न करेंगे, तब तक शान्ति स्थापना का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता।

यूरोप के एक लेखक ने महात्मा गांधी के 'यंग-इण्डिया' पत्र के लिए The Kellogg Pact पैरिस-सन्धि नामक एक लेख भेजा। महात्माजी ने उसे अपने 'यंग-इंडिया' में प्रकाशित किया और उस पर एक टिप्पणी लिखी, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

'The parties to the pact are mostly partners in the exploitation of the peoples of Asia and Africa; India is the most exploited among them all. The peace pact, therefore, in substance means a desire to carry on the joint exploitation peacefully....At last that is how the pact appears to me to be at present...—

राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति

......The way she (i.e.India) can promote peace is to offer successful resistence to her exploitation by peaceful means...That is to say she has to achieve her undependence, for this year to be known, as Dominion States, by peaceful means. If she can do this, it will be the greatest contribution that any single nation will have made towards world peace '*

[कैलौग-पेक्ट पर हस्ताक्षर करनेवाले राष्ट्रों में अधिकांश ऐसे राष्ट्र हैं, जो एशिया और अफ्रिका की जातियों की लूट में सामिल हैं। उन सबमें भारत को सबसे अधिक लूटा गया है ; इसलिए इस शांति पेक्ट का सारांश सम्मिलित होकर शान्ति-पूर्वक लूट को क़ायम रखने की कामना है। कम-से-कम इस समय इस पेक्ट का स्वरूप मुझे ऐसा ही प्रतीत होता है। भारत का विश्व-शान्ति-स्थापन का मार्ग यही है कि वह इस लूट का सफलता-पूर्वक प्रतिरोध करे। इसका अर्थ यह है कि भारत को शान्तिमय साधनों से अपनी स्वाधीनता, जो इस वर्ष औपनिवेशिक स्वराज्य के नाम से विख्यात है, प्राप्त करना है। यदि भारत अपनी स्वाधीनता प्राप्त कर सका, तो विश्व-शांति के लिए भारत की सबसे बड़ी देन होगी।]

महात्मा गान्धी ने बहुत स्पष्ट रूप में अपने मन्तव्य को संसार के सामने रक्खा है। यह भावना उग्र राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित नहीं हुई है ; प्रत्युत् इसके मूल में मानवता है। महात्मा गांधी ने अनेक बार अपने भाषणों और लेखों में यह घोषित किया है कि यद्यपि मेरा समस्त जीवन भारत के लिए स्वाधीनता प्राप्ति में लगा हुआ है, तथापि उसके द्वारा मैं विश्व-बन्धुत्व की प्राप्ति करना चाहता हूँ। महात्मा गान्धी की भावना उदार और व्यापक है। उसमें एक राष्ट्र-द्वारा दूसरे के दमन

* Vide Young India July 4, 1929 p 218.

और लूट को स्थान नहीं है। महात्मा गान्धी अहिंसा के अवतार हैं और उनका सत्याग्रह-आन्दोलन उसी के समुज्ज्वल आलोक में अपने पथ का अनुसरण करता है।

संक्षेप में महात्माजी राजनीति में आध्यात्मवाद (Spiritualism) का पुट देकर लोक-कल्याणकारी बना देना चाहते हैं। महात्माजी की यह धारणा है कि 'यदि सत्याग्रह विश्व-व्यापी हो गया, तो वह सामाजिक आदर्शों में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर देगा और उस स्वच्छंदता तथा सैनिकवाद में घोर क्रान्ति कर देगा, जिसके कारण पश्चिम के राष्ट्रों में हा-हाकार हो रहा है।'

आर्थिक-साम्राज्यवाद विश्व-शांति के लिए ख़तरा

आर्थिक-साम्राज्यवाद विश्व-शान्ति की स्थापना में सबसे बड़ी रुकावट है। यह हम विगत अध्याय में बतला चुके हैं। यहाँ हम कुछ विद्वान् राजनीतिज्ञों के विचार इस संबंध में बतला देना चाहते हैं। श्रीमती मेरी एडम्स (Mary Adams)-द्वारा सम्पादित 'आधुनिक राज्य' (The Modern State) में प्रकाशित 'क्या जनतंत्रवाद पुनर्जीवित हो सकता है?' विद्वान् लेखक श्री ल्योनार्ड वुल्फ लिखते हैं—

'मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि साम्राज्यवादी-प्रणाली में जनतंत्रवाद का निषेध है; क्योंकि उसके अनुसार यह कल्पना की गई है कि यूरोपवालों को अपने जीवन का ढंग निर्णय करने का अधिकार है; वे अपने देशों की राजनीति का अपनी पद्धति के अनुसार संचालन करने योग्य हैं; पर एशिया और अफ्रीका-निवासी ऐसा करने के अयोग्य हैं। साम्राज्यवादी यह मानते हैं कि एशिया और अफ्रीका-निवासी अपनी प्रकृति से अँगरेजों, फ्रान्सीसियों, और डचवासियों की अपेक्षा

राजनीतिक दृष्टि से हीन हैं; इसलिए यही उचित और योग्य है कि अँगरेज, फ्रेन्च, और डच एशिया और अफ्रीका के निवासियों पर शासन करें और राजनीतिक दृष्टि से हीन जातियों की राजनीति और समाज-नीति का निर्णय करें।'

इस साम्राज्यवादी प्रवृत्ति में जातीय मनोविज्ञान (Race Psychology) कितने भयंकर रूप से अपना काम कर रहा है, यह उपर्युक्त कथन से मालूम हो जाता है। इसके आगे लेखक ने लिखा है कि समस्त एशिया में चीन, जापान, भारत, ब्रह्मा, अरब, फ़ारस और अफ्रीका में यूरोप की इस भावना के खिलाफ़ बड़ा भयंकर विप्लव छिड़ा हुआ है। वे यूरोप की श्रेष्ठता के दावे के विरुद्ध विद्रोह कर रहे हैं। Charles Roden Buxton ने भी यूरोप की इस भावना के विरुद्ध एशियायी विद्रोह के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डाला है—

'एशिया में शक्तिशाली राष्ट्रीय आन्दोलनों के कारण स्थिति बड़ी पेचीदा हो गई है। बीसवीं शताब्दी की दूसरी दशाब्दी तक यह धारा एक ही ओर प्रवाहित रही। एशिया में यूरोपीय विचारों, भावनाओं, पद्धतियों का दृढ़ता से और निर्बाध गति से प्रवेश हुआ'। इसके बाद प्रतिक्रियाओं का समय आया। तुर्की, चीन और अफगानिस्तान में राज्यक्रान्तियाँ हुईं। भारतवर्ष में यूरोपीय-सभ्यता के आदर्श के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हुईं। उसकी आन्तरिक मान्यताओं में संदेह किया जाने लगा। ये क्रान्तियाँ आंशिक रूप में देश में अत्याचार और कुशासन के कारण हुईं; परन्तु वे वैदेशिक प्रभाव और आधिपत्य के विरुद्ध भी थीं।' *

---

* Intercontinental peace (Way to prevent War) *By C. R. Buxton p. 220*

राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति

परिशिष्ट

१

इटली-अबीसीनिया-संघर्ष

जिन विज्ञ पाठकों ने इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ा होगा, उनकी धारणा राष्ट्र-संघ के संबन्ध में क्या होगी—यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। आपके सामने राष्ट्र-संघ क्या है!—सजीव चित्र उपस्थित किया गया है और विश्व-शान्ति की समस्या पर भी अनेक पहलुओं से प्रकाश डाला गया है। तब उनसे निष्कर्ष निकालने में कोई कठिनाई न होनी चाहिए।

राष्ट्र-संघ की भावना का मूलाधार विविध राष्ट्र हैं; इसलिए स्वायत्त सदस्य राष्ट्रों से पृथक् उसकी कोई निजी सत्ता नहीं है। राष्ट्र-संघ विश्व के राष्ट्रों का एक संगठित समाज है; अतः जो त्रुटियाँ और दोष उसके सदस्य-राष्ट्रों में होंगे, वे स्वभावतः राष्ट्र-संघ में भी होने चाहिए।

पाठकों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि राष्ट्र-संघ अब

विश्व के राष्ट्रों का प्रतिनिधि नहीं रहा, वह यूरोपीय राष्ट्रों की एक गुप्त सभा के रूप में परिवर्तित हो गया है। यूरोप के राष्ट्रों की गति-विधि कैसी है, इससे भी आप भली-भाँति परिचित हैं। यूरोप के अधिकांश राष्ट्र आज अधिनायक-तंत्र के उपासक बन रहे हैं और राष्ट्रीयता—उग्र राष्ट्रीयता की पूजा ही उनका धर्म है।

अपने-अपने राष्ट्रों के अभ्युदय के लिए वे सब कुछ कर रहे हैं। इटली के भाग्य-विधाता मुसोलिनी ने सन् १६३२ में यह स्पष्ट घोषित किया—'फासिज्म शान्ति के सिद्धान्त को अस्वीकार करता है—इस सिद्धान्त की संघर्ष परित्याग से हुई है और यह कायरता का लक्षण है।'

जर्मनी के चान्सलर हिटलर ने अपनी पुस्तक 'आत्म-संघर्ष' (My Struggle) में एक स्थान पर यह घोषित किया है कि—'वह गुट्ट-बन्दी जिसके ध्येय में युद्ध-कामना को कोई स्थान नहीं दिया जाता, बिलकुल हेय अपदार्थ है।'

इस प्रकार यूरोपीय राष्ट्रों के नेता अपने-अपने राष्ट्रों में इस प्रकार की बर्बर नीति का अवलम्बन लेकर खुल्लमखुल्ला युद्ध का प्रचार कर रहे हैं; अपने-अपने देश के आयुधागारों में नवीन-नवीन नर-घातक अस्त्रों का निर्माण करा रहे हैं; राजदूत और अधिनायक (Dictators) परस्पर गुट्टबन्दी (Alliances) कर युद्ध के क्षेत्र को प्रशस्त कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में आप राष्ट्र-संघ के सिद्धान्तों की कैसे रक्षा कर सकते हैं। यूरोप ने इस समय, एक सशस्त्र शिविर का रूप धारण कर लिया है। केवल एक चिनगारी की आवश्यकता है।

'युद्ध-अवरोध का मार्ग' (Intelligent's Man's way to Prevent War) के विद्वान् सम्पादक के पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है—

'जंगली इस समय ऊँचे आसन पर हैं; उन्होंने सभ्यता की मर्यादा

को तहस-नहस कर दिया है और अब वे उसकी आत्मा का विध्वंस करने पर उतारू हो रहे हैं। क्या वे अपने ध्येय में सफलीभूत होंगे अथवा सभ्यता की शक्तियाँ शक्ति-सम्पन्न होकर यूरोपीय समाज पर नियंत्रण करेंगी—दो बातों पर निर्भर है। प्रथम—क्या पाश्चात्य जगत् अपनी आर्थिक-समस्या के हल करने में समर्थ है...? द्वितीय—लोकमत की युद्ध के प्रति मनोवृत्ति। यदि भविष्य में कोई बात निश्चित है, तो यही है कि भावी विश्व-संग्राम के उपरान्त सभ्यता जीवित न रहेगी।'

हमने अनेक बार अपनी यह निश्चित धारणा अभिव्यक्त की है कि यद्यपि राष्ट्र-संघ की भावना मौलिक और नवीन नहीं है, तथापि वर्तमान समय में उसका क्रियात्मक रूप एक सर्वश्रेष्ठ मानवीय आदर्श है, जिसके सामने प्रत्येक राष्ट्र को अपना सिर झुकाना चाहिए; परन्तु राष्ट्र-संघ के संगठन में अनेकों मौलिक दोष (Fundamental Defects) हैं, जिनके कारण उसकी मशीन सुगमता से भली-भाँति अपना कार्य संचालन नहीं कर सकती। इन दोषों पर हमने पुस्तक के द्वितीय भाग में विशद रूप से प्रकाश डाला है; अतः उनकी पुनरुक्ति अनावश्यक है। भारत के विद्वान लेखक S. D. Chitale ने अपनी 'विश्व-संकट और शान्ति-समस्या' नामक पुस्तक के अन्तिम अध्याय में विश्व-शान्ति स्थापना के लिए जो प्रस्ताव रखे हैं, उन पर भी यहाँ विचार कर लेना अप्रासङ्गिक न होगा। सुयोग्य विद्वान लेखक की योजना का सार इस प्रकार है—

'युद्धावसान और शान्ति-स्थापन के लिए यह आवश्यक है कि संसार के शान्ति-प्रिय मनुष्य एक स्थायी विश्व-शान्ति-समिति (World Peace Committee) की स्थापना करें। इस समिति में प्रत्येक देश का एक प्रतिनिधि लिया जाय। यह प्रतिनिधि प्रत्येक देश की जनता-द्वारा निर्वाचित हो।'

इस समिति के अतिरिक्त एक स्थायी न्याय-सभा की स्थापना की जाय, जिसमें निम्न-लिखित सदस्य बनाये जायँ—

१—प्रोफ़ेसर इंस्टीन

२—यूप्टन सिन्क्लेयर

३—जार्ज बर्नार्ड शॉ

४—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

५—रोम्या रोलाँ

६—मैक्सिम गोर्की

७—मोहनदास कर्मचन्द गान्धी

८—गिलबर्टमरे

९—सिडनी वेब

१०—हैराल्ड लास्की

इन सदस्यों को यह भी अधिकार दिया जाय कि वे अपने सदस्य बढ़ा सकें; परन्तु वे किसी राजनीतिक-दल से सम्बन्ध न रखते हों।

न्याय-सभा में १३ से अधिक सदस्य न हों। यदि किसी सदस्य का स्थान मृत्यु के कारण रिक्त हो जाय, तो उसकी नियुक्ति सभा करे।

यदि विविध राष्ट्रों में कोई संघर्ष उपस्थित हो जाय, तो वह शीघ्र ही न्याय-सभा (Board of Judges) में भेज देना चाहिए। यदि सभा यह उचित समझे कि उसे संघर्ष-स्थल पर जाकर उसका अध्ययन करना चाहिए, तो वह, एक अपनी उपसमिति नियुक्त कर सकती है और उसकी सहायता के लिए दो विशेषज्ञ World Peace Committee की सम्मति से नियुक्त किये जा सकते हैं। इस उप-समिति की रिपोर्ट पर न्याय-सभा को अपना निर्णय देना चाहिए और यह निर्णय विश्व-शान्ति सभा में विचार के लिए पेश किया जाय वह

उस पर सम्मति ली जाय। यदि वह बहु सम्मति से पास हो गया, तो दोनों पक्षों पर वह लागू होगा।

यदि इस निर्णय को कोई पक्ष न माने, तो उसके विरुद्ध आर्थिक-राजनीतिक वहिष्कार घोषित किया जाय।

इन दोनों संस्थाओं के विधान की भूमिका में यह स्पष्ट घोषित किया जाना चाहिए कि प्रत्येक देश को विदेशी शासन से मुक्ति पाने का अधिकार है। इसका निश्चय लोकमत (Referendum) से होना चाहिए।

इन संस्थाओं के व्यय का भार प्रत्येक देश पर होना चाहिए।

अपनी योजना की रूप-रेखा दे देने के उपरान्त योग्य लेखक ने अपने मूल सिद्धान्त को बड़े ज़ोरदार शब्दों में लिखा है।

'But world peace should no longer be entrusted to politicians & war-lords who have shown a special liking for human slaughter. And it is now time for lovers of peace to make a last & desperate attempt.'

विद्वान लेखक की योजना पर एक दृष्टि डालने से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है, कि वह राजनीतिज्ञों और राजदूतों में बिलकुल विश्वास नही रखते ; इसलिए वह शान्ति स्थापन के प्रयत्न में उनको कोई स्थान देना भी नहीं चाहते। हम लेखक महोदय के इस मन्तव्य से पूर्णतः सहमत हैं ; परन्तु फिर भी हमें इसमें सन्देह है, कि संसार की राष्ट्रीय सरकारों के सहयोग के बिना यह योजना क्रियात्मक रूप में सफल बन सकेगी।

यदि ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय सरकारों ने 'विश्व-शान्ति-सभा' से असहयोग किया, तो बड़ी भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी और शान्ति-सभा का प्रयत्न विफल हो जायगा।

राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति

हमारी अनुमति में राष्ट्र-संघ के संगठन में क्रान्तिकारी परिवर्तन की अतीव आवश्यकता है। उसका संगठन प्रत्येक राष्ट्र की स्वाधीनता, समता और स्वभाग्य-निर्णय की योग्यता के आधार पर किया जाय। सबल-राष्ट्रों (Great Powers) और छोटे राष्ट्रों के अवांछनीय भेद का अन्त कर उन्हें समान पद और अधिकार दिये जायँ। प्रत्येक राष्ट्र की स्वाधीनता के अधिकार को स्वीकार किया जाय।

राष्ट्र-संघ में प्रतिनिधि-मण्डल की पद्धति में भी परिवर्तन किया जाना उचित है। अब तक प्रतिनिधियों की नियुक्ति राष्ट्र की सरकारों द्वारा होती है। यह निर्वाचन का सबसे बड़ा दोष है। इस पद्धति के कारण ही राष्ट्र-संघ में राष्ट्रीय-सचिवों (Ministers) और राजदूतों की तूती बोलती है। अतः राष्ट्र-संघ को राजदूतों के कुचक्र से बचाने के लिए तथा सच्चे अर्थों में राष्ट्र का प्रतिनिधि नियुक्त करने के लिए यह आवश्यक है, कि प्रत्येक राष्ट्र के प्रतिनिधि का निर्वाचन जनता-द्वारा किया जाय।

राष्ट्र-संघ की कौंसिल और असेम्बली में राष्ट्र और शासन (Nation & Government) दोनों के समान संख्या मेंप्रतिनिधि होने चाहिएँ। उनको समान ही अधिकार भी प्राप्त हों, जो सदस्य सरकार-द्वारा नियुक्त हो, वह तत्कालीन मंत्रि-मण्डल (Ministry) से अपना सम्पर्क न रखता हो।

इसके अतिरिक्त यूरोप के राष्ट्रों को साम्राज्यवाद की लिप्सा का परित्याग कर अपने अधीनस्थ राज्यों को स्वतन्त्रता दे देनी चाहिए। जब यूरोप के राष्ट्र स्वतः ऐसा करने लगेंगे, उस समय यह स्पष्ट प्रमाणित हो जायगा, कि यूरोप विश्व में सच्ची शान्ति स्थापित करना चाहता है।

आदेशयुक्त शासन-प्रणाली की स्वाधीनता के सिद्धान्त के विपरीत है; इसलिए इसका भी अन्त होना श्रेयस्कर है।

परिशिष्ट

संसार के समस्त राष्ट्रों को अपने सम्बन्ध शान्तिमय तथा विश्वास पूर्ण बनाने चाहिए। पारस्परिक भय, आशंका और अविश्वास ही शान्ति के लिए ख़तरनाक है।

दूसरी ओर विश्व-संस्कृति के प्रचार तथा प्रसार के लिए मानसिक सहयोग की आवश्यकता है। लोकमत को शान्ति-प्रिय बनाने के लिए सार्वजनिक शिक्षण ही एकमात्र सफल साधन है। परस्पर राष्ट्रों के साहित्य, संस्कृति, धर्म, आचार-विचार, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान का सहानुभूति-पूर्वक अध्ययन ही मानसिक-सहकारिता की भावना पैदा कर सकता है।

राष्ट्रीय-शिक्षणालयों में विश्व-शान्ति के समर्थक साहित्य को स्थान मिलना आवश्यक है। हमारे साहित्य में ऐसे भावों और विचारों का समावेश हो, जो हमें अन्तर्राष्ट्रीयता विश्व-बन्धुत्व की ओर ले जाय। युद्ध, सैनिकता, अस्त्र-विज्ञान और कूटनीतिज्ञता के विज्ञान का विनाश किया जाना ही उचित है। इनके जीते-जी शान्ति की समस्या हल होनी मुश्किल है।

जब राष्ट्र-संघ अपनी मृत्यु-शैया पर जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है—जब यूरोप के संकुचित राष्ट्रीयता के पुजारी राष्ट्र और उनके अधिनायक (Dictators) संसार को युद्ध की ओर शीघ्रतम गति से ले जा रहे हैं, ऐसे समय में संसार के प्रतिभाशाली महापुरुषों—वैज्ञानिकों, शिक्षकों, दार्शनिकों, राजनीतिक-विचारकों, लेखकों—का यह कर्तव्य है कि वे इस बढ़ती हुई अराजकता के प्रति विद्रोह करें; इस अन्तर्राष्ट्रीय-अराजकता का नाश करने के लिए कर्म-क्षेत्र में अग्रसर हों, अपने संगठन को शक्तिशाली बनावें। The International Committee on Intellectual Cooperation (अन्तर्राष्ट्रीय मानसिक सहयोग समिति) को जाग्रत होकर इस ओर अपना क़दम

बढ़ाना चाहिए। भारत के विश्व-विख्यात् दार्शनिक-प्रवर श्री० एस० राधाकृष्णन के शब्दों में हमें अपने जीवन का ध्येय यह बनाना चाहिए—

'So long as one man is in prison, I am not free ; so long as one nation is sutject, I belong to it.'

यही विश्व-बन्धुत्व और स्थायी शान्ति का सच्चा मार्ग है।

२

राष्ट्र-संघ का विधान

प्रस्तावना

हम प्रतिज्ञा करनेवाले बड़े-बड़े राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता बढ़ाने और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था करने के लिए युद्ध न करने के बन्धन को स्वीकार कर, परस्पर राष्ट्रों में प्रकाश्य रूप से न्यायपूर्ण और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को सुरक्षित रखकर विभिन्न सरकारों के परस्पर व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय विधान के प्रयोग में व्यावहारिकता है, यह बात विश्वास-पूर्वक ध्यान में रखकर सुसंगठित राष्ट्रों की पारस्परिक सन्धियों की प्रतिज्ञाओं का पूरा आदर करते हुए न्याय-बुद्धि को जाग्रत रखकर राष्ट्र-संघ की इस योजना को स्वीकार करते हैं।

धारा १

१—राष्ट्र-संघ के मूल सदस्य वे ही राष्ट्र होंगे, जिन्होंने योजना पर अपने हस्ताक्षर कर दिये हैं, जिनकी सूची विधान के अन्त में दी हुई

है और वे राज्य भी इसके सदस्य हैं, जिन्होंने बिना किसी संरक्षण के इस विधान को स्वीकार कर लिया है, जो इस विधान को स्वीकार करते हैं, उन्हें इस विधान के कार्यान्वित होने के दो मास पूर्व अपनी घोषणा सेक्रेट्रियेट (Secretariate) में भेज दें। उस घोषणा की सूचना राष्ट्र-संघ के अन्य सब सदस्यों को दी जायगी।

२—कोई स्वाधीन राष्ट्र, उपनिवेश, संरक्षित राज्य जिनके नाम सूची में नहीं दिये गये हैं, राष्ट्र-संघ के सदस्य उसी समय हो सकते हैं, जब असेम्बली ने $\frac{2}{3}$ सम्मति से स्वीकार कर लिया हो। उन राज्यों ने अपनी सद्-भावना प्रकट की हो कि अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों को सचाई के साथ प्रयोग में लाने की वे प्रतिज्ञा करेंगे। यह भी स्वीकार करेंगे, कि राष्ट्र-संघ सेना, नाविक-सेना, आकाश-सेना और शस्त्रास्त्रों के सम्बन्ध में जो नियम बनायेगा, उनका वे पालन करेंगे।

३—सदस्य-राष्ट्र, संघ से प्रथकता की सूचना देने के दो वर्ष उपरान्त, राष्ट्र-संघ से सम्बन्ध त्याग कर सकता है; परन्तु सम्बन्ध-त्याग से पूर्व उसे विभिन्न राष्ट्रों के साथ जो अन्तर्राष्ट्रीय समझौते हुए हों, उन्हें पूरा कर देना चाहिए।

धारा २

राष्ट्र-संघ अपना समस्त काम-काज इस विधान के अनुसार असेम्बली, कौंसिल और स्थायी मन्त्रि-मण्डल-कार्यालय के द्वारा करेगा।

धारा ३

१—असेम्बली में राष्ट्र-संघ के सदस्यों के प्रतिनिधि होंगे।

२—असेम्बली के अधिवेशन समय-समय पर आवश्यकतानुसार नियत समय पर राष्ट्र-संघ के केन्द्र में अथवा अन्य नियत स्थान पर होंगे।

परिशिष्ट

३—असेम्बली अपने अधिवेशनों में उन कार्यों का सम्पादन करेगी, जो उसकी मर्यादा के अन्तर्गत हैं अथवा जिनका विश्व-शान्ति से सम्पर्क है।

४—असेम्बली के प्रत्येक अधिवेशन में प्रत्येक सदस्य (Member) एक सम्मति दे सकेगा और प्रत्येक राष्ट्र अपने तीन प्रतिनिधि (Represantatives) भेज सकेगा।

धारा ४

१—कौंसिल में प्रमुख मित्र-राष्ट्रों (Principal Allied powers)* और सहकारी-राष्ट्रों के एवं संघ के चार अन्य प्रतिनिधि होंगे। राष्ट्र-संघ के यह चार सदस्य असेम्बली अपनी इच्छानुसार समय-समय पर नियुक्त करेगी। जब तक असेम्बली-द्वारा यह ४ प्रतिनिधि नियुक्त नहीं किये जायँगे, तब तक बेलजियम, ब्रेजिल, स्पेन और ग्रीस इन चार राष्ट्रों के प्रतिनिधि कौंसिल के सदस्य होंगे।

२—असेम्बली की बहुसम्मति की स्वीकृति से, कौंसिल राष्ट्र-संघ के ऐसे अतिरिक्त सदस्यों को मनोनीत कर सकती है, जिनके प्रतिनिधि सदैव कौंसिल के सदस्य रहेंगे। †

ऐसी ही स्वीकृति से कौंसिल अपने उन सदस्यों की संख्या में वृद्धि कर सकती है, जो असेम्बली से चुनकर भेजे जाते हैं। ‡

---

* प्रमुख मित्र-राष्ट्र और सहकारी-राष्ट्र ये हैं—

१ संयुक्त-राष्ट्र-अमेरिका, २ ब्रिटिश, ३ फ्रान्स, ४ इटली, ५ जापान।

† इसके अनुसार ८ सितम्बर १९२६ को जर्मनी कौंसिल का स्थायी सदस्य बनाया गया।

‡ असेम्बली के २५ सितम्बर १९२२ ई० के प्रस्तावानुसार कौंसिल के सदस्य की जगह ६ कर दिये गये। ८ सितम्बर १९२६ के प्रस्तावानुसार असेम्बली द्वारा निर्वाचित सदस्यों की संख्या ९ कर दी गई।

२—(अ) असेम्बली दो-तिहाई सम्मति से अस्थायी सदस्यों के निर्वाचन-नियम तैयार करेगी। इन नियमों में कार्य-काल, मर्यादा, पुनर्निर्वाचन की शर्तों का स्पष्ट उल्लेख होगा।×

३—कौंसिल के अधिवेशन समय-समय पर आवश्यकतानुसार राष्ट्र-संघ के केन्द्र में अथवा अन्य नियत स्थान में होंगे। प्रति वर्ष एक अधिवेशन तो अनिवार्यतः होगा।

४—कौंसिल अपने अधिवेशन में उन्हीं कार्यों का सम्पादन करेगी, जो उसकी कार्य-सीमा के अन्तर्गत हैं। अथवा जिनका सम्पर्क विश्व-शान्ति से है।

५—यदि राष्ट्र-संघ के किसी सदस्य के हितों से विशेष रूप से संबंधित विषयों पर कौंसिल में विचार किया जायगा और कौंसिल में उस सदस्य-राष्ट्र का कोई प्रतिनिधि न होगा, तो कौंसिल उसके प्रतिनिधि को आमंत्रित करेगी।

६—कौंसिल के प्रत्येक सदस्य को एक सम्मति देने का अधिकार होगा। और एक से अधिक प्रतिनिधि न भेजा जायगा।

धारा ५

१—इस विधान की किसी धारा में या वर्त्तमान सन्धि की किसी शर्त में यदि स्पष्ट उल्लेख किया गया हो, तो उन अपवादों को छोड़ कर असेम्बली और कौंसिल के सब निर्णय सर्व-सम्मति से होंगे।

२—असेम्बली या कौंसिल के अधिवेशनों में समस्त कार्य-क्रम के विषय (Matters of Procedure) जिनमें उन समितियों की नियुक्ति भी सम्मिलित है, जो किसी विषय की जाँच के लिए नियुक्त की जाती हैं—का नियम और संचालन असेम्बली या कौंसिल-द्वारा

× यह संशोधन २१ जुलाई १९२६ को प्रयोग में लाया गया।

होगा। और अधिवेशन में उपस्थित सदस्यों की बहु सम्मति से निर्णय किया जा सकता है।

३—असेम्बली और कौंसिल के प्रथम अधिवेशन संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति (President) द्वारा आमंत्रित होंगे।

धारा ६

१—राष्ट्र-संघ का स्थायी-मंत्रिमंडल-कार्यालय संघ के केन्द्र-स्थान में होगा। कार्यालय में प्रधान-मंत्री, एवं मंत्री और कार्यकर्त्ता रहेंगे।

२—प्रथम् प्रधान-मंत्री वह होगा, जिसका नाम परिशिष्ट में दिया गया है। तत्पश्चात् प्रधान-मंत्री की नियुक्ति कौंसिल-द्वारा होगी; परन्तु उसके लिए कौंसिल के बहुमत की सहमति आवश्यक है।

३—कार्यालय के मंत्रियों और कर्मचारियों की नियुक्ति प्रधान-मंत्री-द्वारा होगी; परन्तु कौंसिल की सहमति आवश्यक है।

४—असेम्बली और कौंसिल के अधिवेशनों में प्रधान-मंत्री अपने पद की मर्यादा के अनुसार काम करेगा।

५—राष्ट्र-संघ के व्यय के लिए धन राष्ट्र-संघ के सदस्यों को उस अनुपात के अनुसार देना होगा; जिसे असेम्बली नियत कर देगी।

धारा ७

१—राष्ट्र-संघ का केन्द्र जिनेवा में स्थापित किया गया है।

२—कौंसिल को यह पूर्ण अधिकार होगा कि वह केन्द्र-स्थान में परिवर्तन कर दे।

३—राष्ट्र-संघ के अन्तर्गत तथा उससे सम्बन्धित समस्त पद (Positions) स्त्री और पुरुषों के लिए समान रूप से प्राप्य हैं।

४—राष्ट्र-संघ के सदस्यों के प्रतिनिधि (Representatives) और संघ के कर्मचारी (officials) जब राष्ट्र-संघ के कार्यों में संलग्न होंगे, तब वे उन अधिकारों का भोग कर सकेंगे, जो दूतों को प्राप्य हैं।

५—भवन तथा अन्य सम्पत्ति जो राष्ट्र-संघ के अधीन होगी अथवा जिसका प्रयोग उसके कर्मचारी तथा प्रतिनिधि करते होंगे विनष्ट न की जा सकेगी।

धारा ८

१—राष्ट्र-संघ के सदस्य यह अनुभव करते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र को उतने ही शस्त्रास्त्र रखने चाहिएँ, जितने उसकी रक्षा और शान्ति के लिए आवश्यक हैं। यह कार्य सब राष्ट्रों को समान रूप से अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञा समझकर करना चाहिए।

२—कौंसिल, प्रत्येक राष्ट्र की परिस्थितियों और भौगोलिक स्थिति का विचार कर, विविध शासकों के विचार तथा प्रयोग के लिए, शस्त्रास्त्रों को न्यून करने की योजनाएँ बनायेगी।

३—ऐसी योजनाओं पर प्रति दस वर्ष बाद पुनर्विचार किया जायगा तथा संशोधन भी किये जायँगे।

४—जब ये योजनाएँ विविध शासनों-द्वारा स्वीकार कर ली जायँगी, तो उनमें निश्चित शस्त्रास्त्रों की मर्यादा में कौंसिल की सम्मति के बिना वृद्धि नहीं की जा सकेगी।

५—राष्ट्र-संघ के सदस्य इस बात को स्वीकार करते हैं कि युद्धोपयोगी शस्त्रास्त्र और गोला-बारूद आदि का गुप्त कम्पनियों (Private Companies) द्वारा तैयार करना आपत्ति-जनक है। कौंसिल यह परामर्श देगी कि ऐसे शस्त्र-निर्माण से प्रति-फलित दुष्परिणाम कैसे

दूर किये जा सकते हैं। कौंसिल उन सदस्य-राष्ट्रों की आवश्यकताओं का पूरा विचार रक्खेगी, जो अपनी देशरक्षार्थ पर्याप्त शस्त्रास्त्र तैयार करने में असमर्थ हैं।

६—राष्ट्र-संघ के सदस्य स्वीकार करते हैं कि वे युद्ध-काल के समय उपयोगी युद्ध-सामग्री-निर्माता कारखानों की परिस्थिति, अपने शस्त्रास्त्रों की क्षमता एवं सेना, नौ-सेना आकाश-सेना के कार्यक्रम का परिज्ञान पूर्ण तथा स्पष्ट रूप से एक दूसरे को करा देंगे।

धारा ९

एक स्थायी कमीशन नियुक्त किया जायगा, जो कौंसिल को धारा १ और ८ में प्रतिपादित विषयों को कार्यान्वित करने तथा सैनिक, नौ-सेना-सम्बन्धी और आकाश-सेना सम्बन्धी प्रश्नों पर परामर्श देगा।

धारा १०

राष्ट्र-संघ के सदस्य यह स्वीकार करते हैं कि राष्ट्र-संघ के समस्त सदस्यों की वर्तमान राजनीतिक स्वतंत्रता और दैशिक सीमा की वाह्य आक्रमण से रक्षा की जाय। यदि कोई ऐसा आक्रमण हो, अथवा ऐसे आक्रमण की धमकी दी गई हो, या ऐसे आक्रमण का खतरा हो, तो कौंसिल परामर्श देकर ऐसे साधन जुटावेगी, जिनसे यह प्रतिज्ञा पूरी हो जाय।

धारा ११

१—यदि कोई युद्ध या युद्ध की धमकी, जिसका राष्ट्र-संघ के सदस्य पर तुरन्त परिणाम होना संभव हो अथवा न हो, तो यह समस्त राष्ट्र-संघ के हित का विषय (Matter of concern) घोषित किया जाता है और संघ इस विषय में कोई भी ऐसा कार्य करेगा, जो

राष्ट्रों की शान्ति-रक्षा के लिए विवेकपूर्ण और प्रभावकारी माना जायगा। यदि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय, तो संघ के किसी सदस्य-राष्ट्र की प्रार्थना पर प्रधान-मंत्री तुरन्त कौंसिल का अधिवेशन बुलावेगा।

२—यह प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र का मित्रवत अधिकार घोषित किया जाता है कि वह उन परिस्थियों की ओर असेम्बली और कौंसिल का ध्यान आकर्षित करे, जिनका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता है और जो परस्पर राष्ट्रों के सद्भाव तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को आघात पहुँचाती हैं।

धारा १२

१—राष्ट्र-संघ के सदस्य यह स्वीकार करते हैं कि यदि उनमें कोई विवाद उठ खड़ा हो, जिससे राष्ट्रों में परस्पर युद्ध की सम्भावना हो, तो वे पंचायत (Arbitration), न्यायालय (Judicial Settlement) अथवा कौंसिल-द्वारा जाँच-पड़ताल के लिए उसे सौंप देंगे।

वे यह भी स्वीकार करते हैं कि पंचायत के निपटारे, न्यायालय के निर्णय अथवा कौंसिल की रिपोर्ट के बाद तीन मास तक किसी भी दशा में युद्ध न छेड़ेंगे।

२—इस धारा के अन्तर्गत प्रत्येक दशा में, पंचों का निपटारा या न्यायालय का निर्णय यथासंभव शीघ्र हो जाना चाहिए। और कौंसिल की रिपोर्ट विवाद के जाँच के लिए सौंपने के छः मास के अन्दर प्रकाशित हो जानी चाहिए।

धारा १३

१—राष्ट्र-संघ के सदस्य यह स्वीकार करते हैं कि जब उनमें कोई संघर्ष उत्पन्न हो जाय, जो उनके मत से पंचायत निर्णय या न्यायालय

निर्णय को सौंपे जाने के योग्य हो, और जो राजदूतों की कूटनीतिज्ञता से संतोष-पूर्वक तय न हो सकता हो, तो उस विवाद को वे पंचायत या न्यायालय के निर्णय के लिए सौंप देंगे।

२—सन्धि की व्याख्या, अन्तर्राष्ट्रीय विधान का कोई प्रश्न, किसी ऐसे सत्य (Fact) का अस्तित्व, जिसके प्रमाणित होने पर, वह अन्तर्राष्ट्रीय-प्रतिज्ञा का भंग माना जाय, अथवा इस प्रकार की प्रतिज्ञा-भंग पर जो क्षति पूर्ति की जाय, उसका स्वरूप व मर्यादा, उन विषयों में घोषित किये गये हैं, जो सामान्यतया पंचायती-निर्णय अथवा न्यायालय-निर्णय के योग्य हैं।

३—इस प्रकार के विवाद विचारार्थ जिस न्यायालय को सौंपे जायँगे, वह धारा १४ के अनुसार स्थापित, अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय होगा, या कोई अस्थायी न्यायालय (Tribunal) जिसे उभय पक्ष स्वीकार करें अथवा ऐसा अस्थायी न्यायालय, जिसका उल्लेख उन दोनों पक्षों की सन्धियों में हुआ हो।

४—राष्ट्र-संघ के सदस्य यह स्वीकार करते हैं कि वे किसी भी निर्णय या निपटारे को पूरी सचाई के साथ प्रयोग में लावेंगे और वे संघ के किसी भी सदस्य के विरुद्ध युद्ध नहीं छेड़ेंगे, जो उसके अनुसार व्यवहार करेगा। यदि किसी अवस्था में ऐसे निपटारे या निर्णय को प्रयोग में नहीं लाया गया, तो कौंसिल उन साधनों पर विचार करेगी, जिनसे निपटारा या निर्णय कार्य-रूप में लाया जा सके।

धारा १४

कौंसिल ऐसी योजनाएँ तैयार करेगी और उन्हें संघ के सदस्यों की स्वीकृति के लिए सौंप देगी, जिसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय स्थापित किया जा सके। इस न्यायालय को अधिकार

होगा कि वह अन्तर्राष्ट्रीय किसी भी विवाद का निपटारा करे, जो उभय पक्षों द्वारा उसे सौंपा गया हो। यदि असेम्बली या कौंसिल कोई विवाद या प्रश्न न्यायालय को सौंपे, तो उसे अपनी परामर्श-युक्त सम्मति देनी चाहिए।

धारा १५

१—यदि राष्ट्र-संघ के सदस्यों में ऐसा कोई विवाद उत्पन्न हो जाय, जो उनके लिए संबंध-विच्छेदकारी सिद्ध हो और जो धारा १३ के अनुसार पंचायती निपटारे या न्यायालय के निर्णय के निमित्त न सौंपा गया हो, तो राष्ट्र-संघ के सदस्य यह स्वीकार करते हैं कि वे उस विवाद को कौंसिल को सौंप देंगे। विवादी राष्ट्रों में से कोई भी प्रधान-मंत्री को विवाद की सूचना देकर उसे कौंसिल को सौंप सकता है और वह (Secretary-General) उस विवाद-पूर्ण जाँच-पड़ताल तथा विचार के लिए आवश्यक प्रबन्ध करेगा।

२—इस उद्देश्य के पूत्यार्थ विवाद के पक्ष यथा शीघ्र प्रधान-मंत्री को विवाद के संबंध में अपने-अपने वक्तव्य देंगे, जिनके साथ सभी प्रासङ्गिक तथ्य और काग़ज़ात भी दिये जायँगे अथवा बतलाये जायँगे, कौंसिल उनके प्रकाशन के लिए शीघ्र आदेश करेगी।

३—विवाद के निपटारे के लिए कौंसिल पूरा प्रयत्न करेगी, यदि ऐसे प्रयत्न सफलीभूत हुए, तो कौंसिल जैसा समुचित समझेगी, वैसा एक वक्तव्य प्रकाशित करेगी, जिसमें ऐसे तथ्यों और घटनाओं और निष्कर्षों एवं निर्णय की शर्तों का समावेश होगा।

४—यदि विवाद इस प्रकार तय नहीं हुआ, तो कौंसिल सर्व-सम्मति या बहुसम्मति से रिपोर्ट तैयार करेगी और प्रकाशित करेगी, जिसमें विवादों के तथ्यों और सिफारिशों का उल्लेख होगा, जो उसके संबंध में समुचित और उपयुक्त होंगे।

५—राष्ट्र-संघ का कोई भी सदस्य, जिसका कौंसिल में प्रतिनिधि होगा, विवाद के तथ्यों, घटनाओं और उनके निष्कर्षों के संबंध में एक वक्तव्य प्रकाशित करेगा।

६—यदि कौंसिल की रिपोर्ट, विवादी-पक्षों के अतिरिक्त, सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुई, तो संघ के सदस्य यह स्वीकार करते हैं कि वे विवाद के उस पक्ष के विरुद्ध युद्ध नहीं करेंगे, जिसने रिपोर्ट की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है।

७—यदि कौंसिल सर्व-सम्मति से रिपोर्ट तैयार करने में सफल न हुई, तो राष्ट्र-संघ के सदस्यों को यह अधिकार सुरक्षित है कि वे कोई ऐसा कार्य करें, जिसे वे न्याय और स्वत्व की सुरक्षा के लिए आवश्यक समझें।

८—यदि कोई विवाद किसी एक पक्ष द्वारा सर्वथा राष्ट्र का आन्तरिक विवाद माना जाता है और कौंसिल-द्वारा भी जाँच करने पर ऐसा ही पाया जाता है, तो कौंसिल ऐसी ही रिपोर्ट देगी और उसके निर्णय के लिए कोई सिफ़ारिश न करेगी।

९—इस धारा के अन्तर्गत कौंसिल किसी दशा में, विवाद को असेम्बली को सौंप सकती है। विवाद के उभय-पक्षों में से किसी एक की प्रार्थना पर विवाद इस प्रकार सौंप दिया जायगा; किन्तु इस प्रकार की प्रार्थना विवाद को कौंसिल के सुपुर्द करने के १४ दिन के भीतर की जानी चाहिए।

१०—इस प्रकार जो विवाद असेम्बली को सौंपा जायगा, उसके संबंध में असेम्बली को कार्यवाही करने के वही अधिकार होंगे, जो धारा १२ के अनुसार कौंसिल को प्राप्त है। यदि असेम्बली की रिपोर्ट को उन सदस्य-राष्ट्रों ने स्वीकार कर लिया, जिनके प्रतिनिधि कौंसिल में भी हों और संघ के सदस्यों के बहुमत से वह स्वीकृत हो गई हो तथा

विवादी पक्ष उसे स्वीकार भी न करें, तो उस रिपोर्ट का उतना ही मूल्य होगा, जितना कौंसिल की सर्व-सम्मति रिपोर्ट का हो सकता है।

धारा १६

१—यदि राष्ट्र-संघ का कोई सदस्य धारा १२, १३ या १५ की उपेक्षा कर युद्ध छेड़ दे, तो समझा जायगा कि उसने संघ के सब सदस्यों के विरुद्ध युद्ध छेड़ा है। राष्ट्र-संघ उस राष्ट्र को तुरन्त ही व्यापारिक या आर्थिक संबंधों से बहिष्कृत कर देगा; अपने नागरिकों और उस राष्ट्र के नागरिकों के सब संबंध परित्यक्त कर दिये जावेंगे, एवं अन्य राष्ट्रों के नागरिकों तथा उस विद्रोही राष्ट्रों के नागरिकों के बीच आर्थिक, व्यापारिक तथा व्यक्तिगत सभी संबंध त्याग दिये जावेगें, चाहे राष्ट्र राष्ट्र-संघ के सदस्य हों या न हों।

२—ऐसी अवस्था में, राष्ट्र-संघ के विधान की सुरक्षा के लिए संघ के सदस्य राष्ट्र जल-स्थल, आकाश-सेना के द्वारा किस प्रकार सशस्त्र-सेना की सहायता करें, विभिन्न राष्ट्रों को इसकी रिफारिश करना कौंसिल का कर्त्तव्य होगा।

३—संघ के सदस्य यह भी स्वीकार करते हैं कि वे उन आर्थिक और राजस्व-संबंधी साधनों में परस्पर सहायता करेंगे, जो इस धारा के अन्तर्गत प्रयोग में लाये जावेंगे, जिससे उपर्युक्त साधनों से उत्पन्न क्षति और असुविधाएँ कम हो जायँ। और वे परस्पर एक दूसरे की सहायता करेंगे और वे राष्ट्र-संघ के किसी भी सदस्य की सेनाओं को अपने प्रदेश से गुजरने के लिए सुविधा देंगें, जो राष्ट्र-संघ के विधान की रक्षा में सहायता दे रहा हो।

४—यदि संघ का कोई सदस्य विधान को भङ्ग करे, तो कौंसिल की सम्मति से, जिस कौंसिल में संघ के सब संदस्यों के प्रतिनिधि हों,

उस राष्ट्र को कौंसिल से बहिष्कृत कर दिया जायगा और वह संघ का सदस्य नहीं माना जायगा।

धारा १७

१—यदि किसी अवस्था में, किसी राष्ट्र या राष्ट्रों के साथ, जो संघ के सदस्य नहीं हैं, संघ के किसी सदस्य के साथ विवाद छिड़ जाय, तो संघ उन असदस्य राष्ट्रों को केवल उस विवाद के लिए संघ की सदस्यता स्वीकार करने के लिए अनुरोध करेगा। यह सदस्यता उन शर्तों के अनुसार स्वीकृत होगी, जो शर्तें कौंसिल को उचित जान पड़ेगी। यदि ऐसा नियन्त्रण स्वीकार कर लिया गया, तो धारा १२ से १६ तक का उपयोग, ऐसे परिवर्तनों और संशोधन के साथ किया जायगा, जिन्हें कौंसिल योग्य समझे।

२—ऐसा नियन्त्रण दिये जाने के उपरान्त, कौंसिल शीघ्र ही विवाद को परिस्थितियों की जाँच प्रारम्भ कर देगी और वह ऐसे कार्य के लिए सिफारिश करेगी, जो स्थिति के अनुकुल सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक कार्यकुशल होगा।

३—यदि कोई राष्ट्र ऐसे नियंत्रण को अस्वीकृत करे और राष्ट्र-संघ के विरुद्ध युद्ध छेड़े, तो उस राष्ट्र के विरुद्ध धारा १६ के अनुसार काम किया जायगा।

४—यदि विवाद के उभय पक्ष राष्ट्र-संघ का नियन्त्रण स्वीकार न कर उसकी अस्थाई सदस्यता ग्रहण करने के लिए तैयार न हों, तो कौन्सिल ऐसे साधनों का प्रयोग करेगी और ऐसी सिफ़ारिशें करेगी, जिससे वैमनस्यता का विनाश हो जाय और विवाद का निपटारा हो जाय।

धारा १८

प्रत्येक सन्धि या अन्तर्राष्ट्रीय-प्रतिज्ञा इस विधान के बाद सदस्य

राष्ट्रों में होंगे, वे तुरन्त रजिस्ट्री के लिए मंत्रि-मण्डल-कार्यालय (Secaretariate) में भेज देने होंगे और कार्यालय यथासम्भव शीघ्र उन्हें प्रकाशित कर देगा। जब तक किसी सन्धि या प्रतिज्ञा की कार्यालय में रजिस्ट्री नहीं होगी, तब तक वह बन्धन-कारक (Binding) नहीं समझी जायगी।

धारा १९

समय-समय पर असेम्बली संघ के सदस्यों की ऐसी परामर्श युक्त सिफ़ारिशें करेगी कि जिससे जो सन्धियाँ परस्पर राष्ट्रों में होकर भी प्रयोग में न लाई जाती हों, वह भी प्रयोग में लाई जायँ और वह उन अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों पर भी विचार करेगी, जिनसे संसार की शान्ति खतरे में हो।

धारा २०

१—संघ के सदस्य यह स्वीकार करते हैं कि यह विधान स्वीकार किया जाता है और वे समस्त समझौते या प्रतिज्ञाएँ रद्द समझी जायँगी, जिनका इस विधान से सामंजस्य नहीं होता और धर्मतः यह स्वीकार करते हैं कि वे इस विधान के प्रतिकूल ऐसी कोई भी परस्पर प्रतिज्ञा न करेंगे।

२—यदि संघ के किसी सदस्य के संघ की सदस्यता स्वीकार करने से पूर्व किसी राष्ट्र से ऐसी प्रतिज्ञा की हो, जो इस विधान के विरुद्ध हो, तो उन्हें वापस ले लेना चाहिए।

धारा २१

विधान का अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञाओं की नियमितता पर कोई प्रभाव न पड़ेगा, यथा मध्यस्थ की सन्धियाँ या दैशिक समझौते (Regional

understandings) जैसे मुनरो-सिद्धान्त। जिनका उद्देश्य शान्ति-स्थापन होगा।

धारा २२

१—जो छोटे-छोटे प्रदेश और उपनिवेश जो महासमर के परिणाम-स्वरूप उन राज्यों के प्रभुत्व के अधीन नहीं रहे हैं, जो पहले उनका शासन करते थे और जिनमें ऐसे नागरिक रहते हैं, जो आधुनिक संसार की विकट परिस्थितियों में अपने पावों पर खड़े होने की योग्यता नहीं रखते। ऐसे नागरिकों के उत्कर्ष, विकास और हित के लिए प्रयत्नशील होना सभ्य-जगत् का पवित्र कर्त्तव्य है और इस कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए विधान में सुरक्षाओं (Securities) का सन्निवेश होना चाहिए।

२—इस सिद्धान्त को कार्य रूप में परिणत करने की सर्वश्रेष्ठ पद्धति यह है, कि ऐसे छोटे राज्यों का संरक्षण उन उन्नत राष्ट्रों के हाथों में सौंप दिया जाय, जो अपने साधनों, अपने अनुभव या अपने भौगोलिक स्थिति के कारण भली प्रकार इस उत्तरदायित्व को ग्रहण कर सकते हैं और जो उसे ग्रहण करने के इच्छुक हैं। इस प्रकार के संरक्षण का कार्य वे राष्ट्र-संघ की ओर से करेंगे।

३—आदेशयुक्त शासन का स्वरूप नागरिकों की उन्नति, प्रदेश की भौगोलिक स्थिति, उसकी आर्थिक अवस्थाओं और दूसरी परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होना चाहिए।

४—(अ) शासनादेश

कुछ ऐसी जातियाँ हैं, जो पहले तुर्की-साम्राज्य के अधीन थीं; परन्तु अब वे इतनी उन्नत हो गई हैं, कि उन्हें स्वाधीन राष्ट्र स्वीकार किया जा सकता है; परन्तु उन्हें केवल राज्य-प्रबन्ध सम्बन्धी परामर्श

देने की आवश्यकता है। ऐसी सलाह के राष्ट्र, जिनके अधिन वे जातियाँ अपने पैरों पर खड़ी होने में समर्थ न हो जायँ। आदेशयुक्त-शासक (Mandatory) की नियुक्ति करते समय उन जातियों की इच्छाओं का प्रमुख विचार रखा जायगा।

५—(ब) शासनादेश

अन्य लोग, विशेषतया मध्य अफ्रीका की प्रजा, जिनकी वर्त्तमान परिस्थिति ऐसी है, कि उनका राज्य-प्रबन्ध उन्हीं राष्ट्रों के द्वारा होना चाहिए, जिन राष्ट्रों को इस प्रकार का अधिकार राष्ट्र-संघ ने दे रखा है। प्रदेशों का राज्य-प्रबन्ध ऐसी स्थितियों में होना चाहिए कि जिनके धर्म और बुद्धि की स्वतंत्रता सुरक्षित रहें; परन्तु केवल सार्वजनिक शान्ति और सदाचार, दूषणों का अवरोध, यथा दास-व्यापार, शस्त्रास्त्रों, मदिरा का यातायात, क़िलाबन्दी, सेना और नव-सेना के अड्डे, देश-वासियों की सैनिक-शिक्षा (पुलिस तथा आत्मरक्षा के उद्देश्य से सैनिक-शिक्षण के अतिरिक्त) के लिए नियंत्रण हो। राष्ट्र-संघ के अन्य सदस्य राष्ट्रों के वाणिज्य-व्यापार के लिए समान सुविधाएँ सुरक्षित रखनी चाहिए।

६—(स) शासनादेश

कुछ ऐसे छोटे देश हैं, जैसे दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका के देश तथा दक्षिण प्रशान्त द्वीप, जहाँ जन-संख्या अल्प है और जिनका क्षेत्रफल छोटा है तथा भौगोलिक परिस्थिति ऐसी है कि उनका संरक्षण करने योग्य बड़े राष्ट्र उनसे बहुत दूर हैं, और सभ्यता के केन्द्र भी बहुत दूर हैं। इनको तथा ऐसी ही अन्य स्थितियों को दृष्टि में रखकर यही प्रतीत होता है कि उनका राज्य-प्रबन्ध शासनादेश के नियमों के अनुसार

आदेशयुक्त-शासक के प्रदेश का उन्हें प्रमुख अंग बना दिया जाय; परन्तु उपर्युक्त वर्णित आदिम प्रजा के अधिकारों की रक्षा के लिए संरक्षण हों।

७—हर अवस्था में आदेशयुक्त-शासक (Mandatory) को आवश्यक होगा कि वह प्रतिवर्ष उन अधीन प्रदेशों की रिपोर्ट कौंसिल को भेजा करे।

८—आदेशयुक्त-शासक अपने अधीनस्थ प्रदेशों पर किस मात्रा में अधिकार, नियंत्रण और राज्य-प्रबन्ध करेगा—यह यदि राष्ट्र-संघ के द्वारा पहले से निश्चय न कर लिया गया हो, प्रत्येक दशा में कौंसिल द्वारा स्पष्ट-रूप से निश्चय कर दिया जायगा।

९—एक स्थायी कमीशन की नियुक्ति की जायगी, जो आदेशयुक्त-शासकों की रिपोर्टों की जाँच किया करेगा और शासनादेश के संबंध के हर मामले में वह कौंसिल को परामर्श देगा।

धारा २३

अन्तर्राष्टीय प्रतिज्ञाएँ या समझौते (Conventions) हो चुके हैं या जो भविष्य में किये जायँगे, उनके अनुसार राष्ट्र-संघ के सदस्य—

१—पुरुषों, स्त्रियों और बालकों के लिए अपने देशों में तथा उन सब देशों में जिनसे उनका व्यापारिक या औद्योगिक सम्पर्क स्थापित है, मजदूरी की मानवीय और उत्तम अवस्थाओं की सुरक्षा के लिए प्रयत्न करेंगे, और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे आवश्यक अन्तर्राष्ट्रीय-संस्थाएँ स्थापित करेंगे।

२—अपने अधीनस्थ प्रदेशों के निवासियों के साथ समुचित व्यवहार करने का प्रयत्न करेंगे।

३—स्त्रियों, बच्चों, अफ़ीम तथा विषैले द्रव्यों के क्रय-विक्रय के

सम्बन्ध में परस्पर राष्ट्रों में जो प्रतिज्ञाएँ हुई हैं, वे कहाँ तक व्यवहार में लाई जाती हैं, इसकी जाँच करने का भार राष्ट्र-संघ पर छोड़ेंगे।

४—जिन देशों में शास्त्रास्त्र और बारूद गोले की खरीद-बिक्री होती है, उन देशों में इस सम्बन्ध में सर्व-साधारण के हित की दृष्टि से राष्ट्र-संघ का नियंत्रण होगा।

५—यातायात और पत्राचार के सब प्रकार के सुभीते परस्पर राष्ट्रों में कर दिये जायँगे और संघ के सदस्य राष्ट्रों में न्याययुक्त सुभीते कर दिये जायँगे। इस सम्बन्ध में ध्यान में रखने योग्य बात यह है कि सन् १६१४ से १६१८ ई० तक जो महासमर हुआ, उसमें जो देश नष्ट हो गये, उनकी ओर इस संबन्ध में विशेष ध्यान दिया जायगा।

६—अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में रोगों को रोकने का ध्यान रखा जायगा।

धारा २४

१—जो सर्व-साधारण प्रतिज्ञाएँ परस्पर राष्ट्रों में हुई हैं, उनके अनुसार विभिन्न देशों में कई (ब्यूरो) केन्द्र स्थापित हुए हैं। वे ब्यूरो, यदि चाहें, तो राष्ट्र-संघ के अन्तर्गत रह सकेंगे। सब अन्तर्राष्ट्रीय ब्यूरो और कमीशन, जो अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए स्थापित हुए हैं, वे इस धारा के अनुसार संघ की अधीनता में रहेंगे।

२—अन्तर्राष्ट्रीय हित के सब मामलों में, जिनका नियम साधारण समझौतों से होता है ; परन्तु वे किसी अन्तर्राष्ट्रीय ब्यूरो या कमीशन के नियन्त्रण में नहीं रखे गये हैं, राष्ट्र-संघ का स्थायी मंत्रि-मण्डल-कार्यालय, कौंसिल की सम्मति तथा पक्षों के अनुसार, आवश्यक सूचानाएँ संग्रह करेगा तथा वितरण करेगा और अन्य आवश्यक एवं वांछनीय सहायता भी देगा।

३—जो ब्यूरो या कमीशन राष्ट्र-संघ के संचालन में कार्य करेंगे, उनका व्यय कौंसिल-कार्यालय के व्यय में सम्मिलित करेगी।

धारा २५

राष्ट्र-संघ के सदस्य उन अधिकार-प्राप्त राष्ट्रीय रेड क्रास संस्थाओं की सहकारिता और स्थापना को प्रोत्साहन देना स्वीकार करते हैं, जिनका उद्देश्य विश्व में स्वास्थ्य-सुधार रोग-निवारण और कष्टों का निवारण है।

धारा २६

इस विधान में संशोधन उसी समय हो सकेंगे, जब वे राष्ट्र-संघ की कौंसिल तथा असेम्बली-द्वारा बहुमत से स्वीकृत कर लिये जावेंगे।

यदि राष्ट्र-संघ का कोई सदस्य किसी संशोधन के विरुद्ध है, तो वह ऐसे संशोधन को मानने के लिए वाध्य न होगा; परन्तु उस दशा में वह राष्ट्र-संघ का सदस्य न रहेगा।

३

राष्ट्र-संघ के सदस्यों की सूची

१ संयुक्तराष्ट्र अमेरिका
२ वेलज़ियम
३ बोलिविया
४ ब्रजिल
५ ब्रिटिश साम्राज्य
   कनाडा
   आस्ट्रेलिया
   दक्षिण अफ्रीका
   न्यूज़ीलैण्ड
   भारत
६ चीन
७ क्यूबा
८ इक्यूडर
९ फ्रान्स
१० ग्रीस
११ गोटेमाला
१२ हेटी
१३ हेडजाज़
१४ होण्डूरास
१५ इटली
१६ जापान
१७ लिबेरिया
१८ निकारागुआ
१९ पनामा
२० पेरू
२१ पोलैण्ड
२२ पुर्तगाल
२३ रूमानिया
२४ सर्व-क्रोटस्लोवेनराज्य
२५ श्याम
२६ जेकोस्लाविय
२७ यूरोगुओ

परिशिष्ट

राष्ट्र-संघ के निमंत्रित सदस्य

१ अरजेन्टाइना प्रजातंत्र
२ चिली
३ कोलम्बिया
४ डेनमार्क
५ नेदरलेण्ड
६ नॉरवे
७ पैरागुवे
८ फारस
९ सालवेडर
१० स्पेन
११ स्वीडेन
१२ स्विटज़रलेण्ड
१३ वेनेजुला

४

सदस्यों का चन्दा

(राष्ट्र-संघ का कुल कोष १,३४७,५२० पौंड ९९९½ इकाइयों में बाँट दिया गया है । प्रत्येक इकाई १३४८ पौंड के बराबर है ।)

सं०	राज्य	इकाई	पौंड
१	निकारागुआ	½	६७४
२	डोमोनिकन रिपबलिक		
३	गोटेमाला		
४	हेटी		
५	होण्डूरास		
६	लिवेरिया	१	१३४८
७	लक्समवर्ग		
८	पनामा		
९	पैरागुवे		
१०	सालवेडर		

परिशिष्ट

सं०	राज्य	इकाई	पौंड
११	अबीसीनिया—	२	२६९६
१२	इटेनिया	३	४०४५
१३	लेटविया		
१४	बोलिविया	४	५३९३
१५	लिथूनिया		
१६	बलगेरिया	५	६७४१
१७	फ़ारस		
१८	वेनेजुएला		
१९	कोलम्बिया	६	८०८९
२०	पुर्तगाल		
२१	ग्रीस	७	९४३७
२२	यूरूगुवे		
२३	आस्ट्रिया	८	१०७८६
२४	हन्गेरी		
२५	क्यूबा	९	१२१३४
२६	नॉरवे		
२७	पेरू		
२८	श्याम		
२९	फिनलैण्ड	१०	१३४८२
३०	आयरिश स्वतंत्र-राज्य		
३१	न्यूज़ीलैण्ड		
३२	डेनमार्क	१२	१६१७८

सं०	राज्य	इकाई	पौंड
३३	चिली	१४	१८८७५
३४	मेक्सिको		
३५	दक्षिणी अफ्रीका	१५	२०२२३
३६	स्विटज़रलैण्ड	१७	२२९२०
३७	बेलजियम	१८	२४२६७
३८	स्वीडेन		
३९	यूगोस्लाविया	२०	२६९६४
४०	रूमानिया	२२	२९६६०
४१	नीदरलैण्ड	२३	३१००८
४२	आस्ट्रेलिया	२७	३६४०१
४३	अरजेन्टाइना	२९	३९०९८
४४	जेकोस्लावेकिया		
४५	पोलेण्ड	३२	४३१४२
४६	कनाडा	३५	४७१८७
४७	स्पेन	४०	५३९२८
४८	चीन	४६	६२०१७
४९	भारतवर्ष	५६	७५४९९
५०	इटली	६०	८०८९२
५१	जापान		
५२	फ्रान्स	७९	१०६५०७
५३	जर्मनी		
५४	ग्रेटब्रिटेन	१०५	१४१५६०
		९९९१/३	१३४७५२० पौंड

५

इटली-अबीसीनिया का युद्ध

आजकल इटली और अबीसीनिया में भयंकर युद्ध हो रहा है। इटली यूरोप का एक अत्यन्त शक्तिशाली राष्ट्र है। उसके पास युद्ध के सभी आधुनिक उपकरण बहुत अधिक परिमाण में हैं। दूसरी ओर अबीसीनिया अफ्रीका का एक पिछड़ा हुआ स्वाधीन राष्ट्र है। उसके पास इटली के समान विशाल सेना और आधुनिक युद्ध-विज्ञान में निपुण सैनिक कहाँ! अबीसीनिया के पास न हवाई जहाज़ हैं और न विशाल मनुष्य विनाशक युद्धोपकरण।

अबीसीनिया अफ्रीका का एक-मात्र स्वाधीन राज्य है। संसार में केवल यही एक ऐसा देश है, जहाँ कृष्णांग और भूरे लोग श्वेतांग पुरुषों के साथ उसी प्रकार की समानता का उपभोग करते हैं, जैसे गौरांग महाप्रभु अपने साम्राज्यों में। अबीसीनिया को स्वाधीन राष्ट्र

होने का गौरव प्राप्त है। पृथ्वीतल पर यही एक ऐसा देश है, जिसने गौराङ्गों को अपनी स्वाधीनता समर्पित नहीं की। अपने देश की स्वतंत्रता के लिए वे बराबर यूरोप के 'सभ्य' राष्ट्रों से सामना करते रहे, और यह उनके स्वाधीनता, प्रेम, वीरता और अनन्य देश-भक्ति का ही प्रताप है कि वे अपने देश को अब भी स्वतंत्र देश बनाये हुए हैं।

अबीसीनिया अफ्रीका के उत्तरीय भाग में स्थित है। उसके चारों ओर इटली, फ्रांस और इंगलैण्ड के उपनिवेश हैं। अबीसीनिया के उत्तर में इरीट्रिया प्रदेश है, जो इटली के अधिकार में है। इरीट्रिया प्रदेश और अबीसीनिया के बीच दोनों प्रदेशों की सीमा निश्चित नहीं है। पूर्व में एक छोटा-सा फ्रेंच शुमालीलैंड है, जो फ्रांस के अधीन है। इसके निकट ही ब्रिटिश शुमालीलैंड है, यह इंगलैण्ड के अधीन है। पूर्व और दक्षिण में इटेलियन शुमालीलैंड है। इस पर इटली का अधिकार है। इटली शुमालीलैंड और अबीसीनिया के बीच में दोनों प्रदेशों की सीमाएँ अनिश्चित (Undefinade) है। इसी अनिश्चित सीमा से थोड़ी दूर पर 'वलवल' नामक नगर है, जो अबीसीनिया—राज्य के अन्तर्गत है। अनिश्चित सीमा होने के कारण इटली का यह दावा है कि 'वलवल' इटली शुमालीलैंड का ही भाग है। इटली और अबीसीनिया में जो वर्तमान संघर्ष उत्पन्न हुआ है, उसका निकट कारण 'वलवल' पर इटली का सैनिक-आक्रमण (Mililary occupation) बतलाया जाता है। इसके सम्बन्ध में हम यथा स्थान प्रकाश डालेंगे। अबीसीनिया के पश्चिम की ओर अंग्रेजी मिश्र सूडान स्थित है और दक्षिण में ब्रिटिश यूंगाडा और ब्रिटिश कुछ उपनिवेश है।

अबीसीनिया का क्षेत्रफल ३॥ लाख वर्गमील है; अर्थात्—उसका क्षेत्रफल बंगाल, बिहार-उड़ीसा और यू० पी० के क्षेत्रफल से भी अधिक है; परन्तु उसकी जन-संख्या केवल १ करोड़ ही है। इतने विशाल

प्रदेश में इतनी कम जन-संख्या होने का कारण यह है कि वहाँ का अधिकांश प्रदेश पहाड़ी है। बड़े-बड़े ऊँचे पहाड़ और पठार हैं। उत्तर में पर्वतों की गगन-चुम्बी चोटियाँ हैं, जो सर्वदा हिमाच्छादित रहती हैं। सबसे ऊँची चोटी १५१६० फुट ऊँची है। इसमें नदियों ने बहुत गहरी घाटियाँ काट दी हैं। ऐसा कहा जाता है कि यह पठार ज्वालामुखी पर्वतों से बने हैं; परन्तु अब वहाँ कोई ज्वालामुखी नहीं है, गरम पानी के सोते अवश्य हैं।

अबीसीनिया में अनेकों नदियाँ हैं। उत्तर और पश्चिम की नदियाँ प्रसिद्ध नील नदी में गिरती हैं और शेष सब नदियाँ रेगिस्तान में ही विलीन हो जाती हैं। टाना झील अबीसीनिया के उत्तर-पश्चिम में दनकाज के निकट स्थित है। यह झील साठ मील लम्बी है और यही झील सबसे बड़ी एवं उपयोगी है और भी अनेकों छोटी-छोटी झीलें हैं; परन्तु उनका पानी खारा है। यहाँ बड़े-बड़े रेगिस्तान हैं, जिनमें मीलों तक एक बूँद पानी नहीं मिलता। यहाँ के जंगल बहुत घने हैं, जिनमें जंगली जानवर बहुतायत से पाये जाते हैं। यहाँ की मरुभूमि प्रसिद्ध है; परन्तु यहाँ के सुन्दर बगीचे तथा वाटिकाएँ भी बहुत प्रसिद्ध हैं। यहाँ वर्षा, शीत और ग्रीष्म तीनों ऋतुएँ होती हैं। यहाँ गरमी बहुत ज्यादा पड़ती है; क्योंकि अबीसीनिया उष्ण कटिबंध में स्थित है।

परमात्मा ने अबीसीनिया को प्राकृतिक देन दी है। वहाँ सोना और नमक बहुत मिलता है। कुछ खानें लोहा, चाँदी और कोयले की भी हैं। * नारंगी, अनार, अंजीर, केला, रूई, नील, गन्ना, खजूर और

* अदीसअबाबा में स्थित 'हिन्दोस्तान टाइम्स' (देहली) के संवाददाता का कथन है कि—'अबीसीनिया में खनिज-पदार्थ प्रचुर-मात्रा में हैं। इसी कारण इटली की इसे हस्तगत करने की इच्छा तीव्र हो गई है। मैं स्वयं पैंतीस-चालीस खानों को जानता हूँ, जिनमें गन्धक, साल्ट पीटर, निटरोजन, पोटाश, ताँबा, एन्टीमनी, पेट्रोल,

शहद बहुत होता है। यहाँ का कहवा तो संसार-प्रसिद्ध है; परन्तु यहाँ आवागमन के साधन उन्नत नहीं हैं; इसलिए प्रकृति की देन का पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। सड़कें बहुत खराब हैं। केवल एक ही रेलवे लाइन है, जो डजीबूटी (यह लालसागर के तट पर बंदरगाह है, जो फ्रेंच शुमालीलैंड में स्थित है) से अदीसअबाबा तक जाती है। बंदरगाह से अदीसअबाबा, जो राजधानी है, ४८५ मील दूर है। यहाँ से अदीसअबाबा तक सफर करने में तीन रात और दो दिन लगते हैं। जहाँ रात हो जाती है, वहाँ गाड़ी ठहर जाती है। रात में गाड़ी नहीं चलती; क्योंकि रेल-मार्ग खतरनाक है और यात्रियों के लूट-पाट का भी डर रहता है। सिदायो, जिम्भा, गोजभवाले तक मोटर जाने लायक सड़क बन गई है। अफडम से वालो और उस्सा तक तथा हरार तक भी अच्छी सड़कें बन गई हैं।

प्रिय पाठकों को एक बड़ी मनोरंजक बात बतलाकर इस प्रसंग को समाप्त कर दिया जायगा। अबीसीनिया-देशवासी को 'अबीसीनियन' कहा जाता है, तो वह बड़ा रोष प्रकट करता है; क्योंकि 'अबीसीनिया' शब्द अरबी के हबशी शब्द से बना है, जिसका अर्थ है—मिश्रित जाति। वे अपने देश को अबीसीनिया नहीं—'इथीओपिया' (Ethiopia) कहते हैं। इनमें निपट काले लोगों से लेकर यूरोपियन लोगों के समान गोरे भी पाये जाते हैं। इथीओपियन (Ethiopian) अपने को गोरी जाति मानते हैं।

जस्ता, संगमरमर और लोहा मिलता है। टीन, चाँदी और सोना तो बहुत ही ज्यादे हैं। अच्छी सड़कें न होने के कारण आवागमन बहुत व्यय-साध्य है। अबीसीनियों ने इटली, ब्रिटिश और फ्रांस को रियायतें नहीं दी हैं; क्योंकि इनके प्रदेशों से अबीसीनिया घिरा हुआ है; पर अमेरिका की एक कम्पनी को Pickett रियायतें दे दी थीं; परन्तु अब वह भी अस्वीकार कर दी हैं।'

परिशिष्ट

युद्ध का मूल कारण इटली का साम्राज्यवाद

जब से रोम-साम्राज्य का पतन हुआ, तब से इटली का यूरोपीय-राष्ट्रों में स्थान बहुत ही असमानता का रहा है। इटली अपने अतीत कालीन गौरव को पुनः प्राप्त करने के लिए अनवरत और अथक प्रयत्न करता रहा; परन्तु उसे इस ओर अधिक सफलता न मिली। विगत यूरोपीय महायुद्ध से पूर्व इटली वहाँ के राष्ट्रों में बहुत ही पिछड़ा हुआ था। महायुद्ध से पूर्व उसकी गणना महान् राष्ट्रों (Great powers) में नहीं थी।

विगत महासमर ने इटली के भाग्योदय और राष्टीय-उत्थान का मार्ग प्रशस्त कर दिया। महायुद्ध से पूर्व की इटली और आज की इटली में वैसा ही अन्तर है, जैसा महायुद्ध के बाद की जर्मनी और आज की जर्मनी में है; परन्तु वर्सेल्स की संधि (Treaty of Versailles) से जो प्रदेश उसे लूट में मिले, उनसे उसे निराशा हुई। इटली को यह आशा थी कि महायुद्ध में मित्र-राष्ट्रों (Allies) का साथ देकर वह दूसरे शक्तिशाली राष्ट्रों की भाँति अपना भी सुदृढ़ और विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित कर सकेगा। इटली का साम्राज्य मुख्यतः अफ्रीका में है। अफ्रीका के इटेलियन उपनिवेशों में २० लाख की जन-संख्या है। यह उपनिवेश अपने प्राकृतिक देन में बहुत उपयोगी और आर्थिक-दृष्टि से लाभप्रद नहीं है। G. D. H. Cole महोदय का कथन है।

"Italy's Tripoli adventure has been up to the present time an expensive business from which she has reaped little by way of economic reward. But her colonial empire, relatively poor though it is, counts for much in her eyes as a symbol of national greatness and

of imperial claimes corresponding to those of Great-Briten & France' *

इटली की अधिकांश भूमि उपजाऊ नहीं है। उसका बहुत बड़ा भाग पहाड़ी है, जिस पर खेती नहीं हो सकती। बड़े-बड़े दलदल भी हैं, जिनको खेती के योग्य बनाने के लिए बड़ी पूँजी की आवश्यकता है। इटली के पास कच्चा माल भी अधिक नहीं है, जिससे पूँजीवाद की उन्नति हो। वहाँ कोयला तो बिलकुल नहीं है; इसलिए लोहा और कोयला उसे विदेशों से मँगाना पड़ता है।

इटली में जो औद्योगिक-उन्नति हुई है, वह छोटे-छोटे उद्योग-व्यवसायों में ही हुई है। वह मोटरकार बनाकर विदेशों में भेजता है। इटली में वस्त्र-व्यवसाय ही एक ऐसा व्यापार है, जिससे उसे विशेष लाभ है और वह अपने यहाँ के सूती वस्त्र बाहर भी भेजता है। इसके लिए भी रूई विदेशों से मँगानी पड़ती है। रेशमी वस्त्रों का उत्पादन प्रचुरता से होता है और बाहर भी रेशमी कपड़ा भेजा जाता है। कृषि की वस्तुओं में फल, शाक, तरकारियाँ, जैतून का तेल और पनीर बहुत ज्यादा पैदा होते हैं। यह विदेशों में भेजे जाते हैं। गेहूँ और मक्का की पैदावार कम होती है; इसलिए यहाँ अनाज भी विदेशों से मँगाये जाते हैं।

कृषि-उद्योग में इटली की फासिस्ट गवर्नमेण्ट ने बहुत सुधार किये हैं। पैदावार की वृद्धि के लिए भी बहुत प्रयत्न किया है। हाल में इटली की जन-संख्या में वृद्धि हो रही है। ५ लाख व्यक्ति प्रतिवर्ष बढ़ते हैं। जन-संख्या की वृद्धि के लिए इटली की फासिस्ट सरकार यथेष्ट प्रोत्साहन दे रही है; क्योंकि इटली की यह धारणा है, कि उसे

---

* Review of Europe To-day By G. D. H. Cole. (1933) p. p. 327.

शक्तिशाली राष्ट्रों में उचित स्थान प्राप्त करने के निमित्त मानव-शक्ति की वृद्धि करनी चाहिए। इटली के लोगों को इस बात का गौरव है, कि आज इटली की जन-संख्या महायुद्ध से पूर्व फ्रांस की जन-संख्या से बहुत अधिक हो गई है। इटली की जन-संख्या ४ करोड़ २० लाख है।

इसलिए फासिस्ट इटली का यह दावा है, कि उसे अपनी जन-संख्या के निवास या प्रवास के लिए उपनिवेशों की आवश्यकता है। इटली दूसरी शक्तिशाली राष्ट्र-शक्तियों का मुकाबला उसी समय कर सकेगा, जब वह अपने देश की बढ़ती हुई जन-संख्या के भोजन के लिए अन्न, शरीर रक्षा के लिए वस्त्र और रहने के लिए गृह देखने में समर्थ होगा। इटली, जापान, जर्मनी आदि सभी साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने राज्य-विस्तार के प्रयत्न के समर्थन में यही तर्क देते हैं। इन सब साम्राज्यवादी राष्ट्रों का यह कहना है, कि हमारे पास कोई उपनिवेश ऐसे नहीं हैं, जिनसे हम कच्चा माल मँगा सकें अथवा अपने यहाँ का तैयार माल वहाँ भेज सकें। हमारे देश में आबादी बढ़ती जाती है; इसलिए हमें अधिक स्थान चाहिए। इन्हीं कारणों से आर्थिक-संकट और अशांति रहती है। ऐसी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति के राष्ट्रों से हम यह पूछना चाहते हैं, कि यदि आर्थिक-संकट और देश की दुर्दशा का यही उपर्युक्त कारण है, तो फिर संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका, जो सबसे अधिक उन्नतिशील देश है, जहाँ आर्थिक-साधन पर्याप्त हैं, कच्चे माल की भी कमी नहीं है तथा जहाँ जन-संख्या-वृद्धि का प्रश्न ही नहीं है—में आर्थिक-संकट (Economic depression) बहुत ही भयंकर रूप में क्यों विद्यमान है! फ्रान्स में अधिक जन-संख्या का कोई प्रश्न ही नहीं है, प्रत्युत् वहाँ तो दिन-पर-दिन जन-संख्या में आश्चर्य-जनक कमी होती जा रही है और फ्रान्स के पास विगत कुछ वर्षों में उपनिवेश भी अधिक बढ़

गये हैं, तथा कच्चे माल की प्राप्ति के साधन भी यथेष्ट हैं, ऐसे समृद्धिशाली देश में भी आर्थिक-संकट बड़े भयावह रूप में विद्यमान है। यह क्या कारण है कि फ्रान्स और अमेरिका, जिनके पास सभी आर्थिक-साधन मौजूद हैं और जहाँ अधिक जन-संख्या की समस्या ही नहीं है, में उतनी आर्थिक-दृढ़ता (Economic Stability) नहीं है, जितनी स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, स्विटजरलेण्ड, फिनलेण्ड आदि छोटे राष्ट्रों में है, जिनके कोई साम्राज्य नहीं है और न उन्हें उनकी आवश्यकता ही है।

सत्य तो यह है कि फासिस्ट इटली ने वर्सेल्स की संधि से निराश होकर उन राष्ट्रों से उस अन्याय का प्रतिशोध लेने के लिए यह पाखंड रचा है, जो लूट का बँटवारा करते समय इटली के साथ किया गया। इटली संसार में अपने विशाल साम्राज्य के स्वप्न देख रहा है और उसी की प्राप्ति के लिए मुसोलिनी ने फासिस्टवाद को जन्म दिया है। फासिस्टवाद क्या है?—यह आप इटली के अधिनायक मुसोलिनी के शब्दों में सुनिए—

'फासिस्टवाद शान्ति के सिद्धान्त को अस्वीकार करता है—जिसका विकास संघर्ष के परित्याग के फल-स्वरूप हुआ है और जो बलिदान के सामने एक कायरता का काम है। युद्ध—केवल युद्ध ही मानव की समग्र शक्तियों को चेतनता और दृढ़ता प्रदान करता और उस जाति पर श्रेष्ठता और कुलीनता की मुहर लगाती है, जिसमें इतना साहस होता है कि वह उसका मुकाबिला कर सके; इसलिए जो सिद्धान्त शान्ति के हानिप्रद सिद्धान्त पर आश्रित है, वह फासिस्टवाद के विरुद्ध है।'

× × ×

'फासिस्टवाद के लिए साम्राज्य का विकास—अर्थात्—राष्ट्र का विस्तार-शक्ति का एक आवश्यक प्रदर्शन है और उसका विपरीत पतन

का लक्षण है। जो राष्ट्र उन्नति की ओर पग बढ़ा रहा है या जो अधःपतन के बाद फिर से उन्नति के पथ पर अग्रसर है, वह सर्वदा साम्राज्यवादी होता है। साम्राज्यवाद का परित्याग पतन और मृत्यु का लक्षण है।' *

× × ×

इटली के अधिनायक मुसोलिनी के उपर्युक्त वाक्यों से इटली की संकुचित और विश्व-शान्ति-विघातिनी राष्ट्रीयता का स्वरूप स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। इटली साम्राज्य की स्थापना के लिए ही अबीसीनिया में युद्ध हो रहा है, इसे अब समझना मुश्किल न होगा।

इटली उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से अफ्रीका में अपना साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है। सन् १८७० में इटली देश की एक कम्पनी ने लालसागर के दक्षिण में असाव की छोटी-सी खाड़ी में, बन्दरगाह के लिए जगह मोल ली थी। इटालियन लोगों ने धीरे-धीरे लालसागर के तट पर अपना अधिकार कर लिया और 'इरिट्रिया' नाम से एक उपनिवेश बसाया। लालसागर के तट पर मसावा बन्दरगाह भी सन् १८८५ में अपने अधीन कर लिया। इस कारण अबीसीनिया और इटली में सन् १८८७ में युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में इटली की पराजय हुई। इटली से संधि हो गई, उसके अनुसार अबीसीनिया पर इटली का संरक्षण स्वीकार किया गया। पहला राजा मर गया था और स्वाधीनता-प्रिय अबीसीनियन कब किसी के पराधीन रहना पसन्द करते। समस्त देश में एक नवीन उत्साह और जागृति का उदय

---

* The political & Social doctrine of fascism By Benite Mussolini.

यह अवतरण मुसोलिनी के 'इटैलियन विश्वकोष' में प्रकाशित उपर्युक्त लेख के अंग्रेजी अनुवाद से लिये गये हैं।—लेखक

हुआ और अबीसीनियन लोगों ने अपनी स्वाधीनता प्राप्ति के लिए सन् १८६५ में युद्ध आरम्भ कर दिया। इस बार इटली की बुरी तरह हार हुई। उसके १०,००० सैनिक रणभूमि में सदा के लिए भूमि-शायी हो गये। मार्च १८६५ में अबीसीनिया फिर स्वतंत्र हो गया।

बस इसी समय से इटली की प्रतिशोध लेने की इच्छा बलवती होने लगी। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, महायुद्ध के बाद विजेता राष्ट्रों में उपनिवेशों का जो विभाजन हुआ, उसमें इटली को आशाजनक भाग न मिला। इससे प्रतिशोध की अग्नि और भी अधिक भड़क गई।

वलवल पर बलात्कार

'वलवल' अबीसीनिया के पूर्वी भाग में उसकी अनिश्चित सीमा के कुछ दूर पर स्थित है। यह अबीसीनिया राज्य के भीतर है। इसी स्थान पर विगत ५ दिसम्बर १६३४ ई० को इटली और अबीसीनिया के सैनिकों में संघर्ष हो गया। १४ दिसम्बर १६३४ ई० को अबीसीनिया के पर-राष्ट्र-विभाग के सचिव ने एक नोट राष्ट्र-संघ के सेक्रेटरी जनरल के पास भेजा, जिसमें राष्ट्र-संघ का ध्यान वलवल की घटना की ओर आकर्षित किया गया था। इस नोट में लिखा है—

'वलवल में जहाँ यह घटना हुई है। सीमा के अन्तर्गत सौ किलो-मीटर की दूरी पर स्थित है। ५ दिसम्बर को इटली की सेना-टैंक और सैनिक हवाई जहाज़ों से एँग्लो अबीसीनियन कमीशन के अबीसीनियन रक्षकों पर अकस्मात् हमला किया। ६ दिसम्बर को अबीसीनिया की सरकार ने इसका प्रतिवाद किया। प्रतिवाद करने पर भी इटली के लड़ाई के हवाई जहाजों ने तीन दिन के बाद उसी प्रान्त के एडो और गर्लोगुवी पर बम-वर्षा की। ६ दिसम्बर के प्रतिवाद और ६ दिसम्बर के पंच-

निपटारे के लिए प्रार्थना (जो २ अगस्त १६२८ ई० की इटली अबीसीनिया की संधि के अनुसार की गई थी) के उत्तर में इटली की ओर से यह माँग पेश की गई कि हर्जाना और नैतिक क्षतिपूर्ति दी जाय और १४ दिसम्बर के नोट में इटली ने यह विघोषित किया कि उसकी सरकार की समझ में नहीं आता कि इस प्रकार का विवाद पंच-निपटारे के लिए कैसे सौंपा जा सकता है।'

इस नोट के उत्तर में १६ दिसम्बर को इटली की सरकार ने राष्ट्र-संघ को तार दिया। तार में कहा कि अबीसीनिया ने जो दोषारोपण किये हैं, वे निराधार हैं, आक्रमण अबीसीनिया ने किया और उसकी ज़िम्मेदारी उसी पर है।

इटली की सरकार ने 'वलवल' की घटना का जो वृत्तान्त राष्ट्र-संघ को भेजा था, उसका सारांश निम्न-लिखित है—

'अंगरेजी अबीसीनियन कमीशन, जो ओगडेन में चरागाह-सम्बन्धी अधिकारों की जाँच कर रहा था, २३ नवम्बर को वलवल में आया। वलवल इटली-सुमालीलेण्ड के अधीन है और उसमें कई वर्षों से इटली के सैनिकों का कैम्प है। इटली की सेना के कमांडर का ब्रिटिश और अबीसीनियन कमिश्नरों से मुलाकातें भी हुईं तथा पत्र-व्यवहार भी हुआ। अबीसीनिया के कमिश्नर का कथन है कि वलवल अबीसीनिया का प्रदेश है; इसलिए अबीसीनिया के सैनिकों को उसमें प्रवेश करने का अधिकार है। कमांडिंग ऑफिसर ने उत्तर दिया, कि वह इटली के सुमालीलैंड में अबीसीनिया के सैनिक-दल को प्रवेश करने की आज्ञा नहीं दे सकता। वलवल पर कब्जे का प्रश्न ऐसा है, जिस पर दोनों सरकारें हल कर सकती हैं। तब ऐंग्लो अबीसीनियन कमीशन ने वह प्रदेश छोड़ दिया; परन्तु अबीसीनिया का सैनिक दल इटली के सैनिक दल के सामने ही मौजूद रहा।

इसके बाद इटली सेना के कमांडर ने, वलवल में दुर्घटना को दूर करने की दृष्टि से, अबीसीनिया के सैनिकदल के कमांडर से यह प्रस्ताव किया कि दोनों सेनाओं के बीच में पिलेट नियत कर दिये जायँ और सेना पीछे को हटा दी जाय। अबीसीनियन कमांडर ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार दोनों दल सामने मिले हुए रहे। अबीसीनियनों ने तब इटली के नेटिव सैनिक-दल में भगदड़ मचाने का प्रयत्न किया। ५ दिसम्बर को अबीसीनियन-सेना ने इटली-सेना के पड़ाव पर धावा बोल दिया। इटलो सुमालीलैंड की सरकार से जो सूचना मिली है, उससे यह प्रतीत होता है कि अबीसीनिया के एक सिपाही ने संकेत के पहले हवा में बन्दूक चलाई। अबीसीनियन सैनिक-दल ने गोली चलाना आरम्भ किया, जिससे इटैलियन सैनिक के दल में यथेष्ट जन-हानि हुई। इटैलियन पड़ाव (Post) इसी स्थिति में आत्म-रक्षा करता रहा। इसके बाद जब काफी सैनिक-सहायता आ गई, तब इटैलियन सैनिकों ने आक्रमणकारियों को भगा देने के लिए कोशिश की। तदनुसार इटली की सरकार ने अदीसअबाबा की सरकार से इस आक्रमण के खिलाफ़ प्रतिवाद किया। इटली सरकार ने क्षति-पूर्ति का प्रस्ताव रखने की बात को गुप्त रक्खा। यह प्रस्ताव बाद में इस प्रकार प्रकट किया गया—'हरार का गवर्नर-द्वारा क्षमा याचना, इटली की राष्ट्रीय पताका को नमस्कार, अपराधियों को दण्ड और जो घायल हुए हैं, अथवा मारे गये हैं, उनके लिए मुआवज़ा।'

इसके उत्तर में १८ दिसम्बर को अबीसीनिया की सरकार ने कहा—'इटली सरकार का तार अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन के दस्तावेजों के विपरीत है। वलवल में इटली के ऑफिसर ने इस प्रश्न पर विचार-विनिमय करने से साफ जवाब दे दिया कि वलवल इटली प्रदेश में है, अथवा नहीं—इसका निर्णय दोनों सरकारों पर है। इटली के ऑफिसर ने अन्त-

राष्ट्रीय कमीशन को भ्रमण करने का अधिकार देना अस्वीकार किया। जब कमिश्नर इटली के ऑफिसर से विचार-विनिमय कर रहे थे, तब इटली के वायुयान कमीशन पर उसे भयभीत करने के लिए उड़ रहे थे। अबीसीनिया के प्रदेश में जो इटली के सैनिकों ने फौजी प्रदर्शन किया, उसके विरुद्ध ब्रिटिश और अबीसीनियन कमिश्नरों ने सम्मिलित प्रतिवाद किया था।

अबीसीनिया के सैनिक-दल और इटली के सैनिक-दल के बीच पृथक्कता करने के लिए दो कमिश्नरों की उपस्थिति में प्रयत्न किया गया था। कमीशन की रिपोर्ट से यह पता चलता है, कि वह दो कमिश्नर इटली के ऑफिसर की माँग को अस्वीकार योग्य—अनुचित—मानते थे। आक्रमण के लिए जो संकेत किया गया था, वह इटली के सैनिक दल की ओर से 'Terra Fuoco' शब्दों के साथ किया गया था। दो वायुयान अकस्मात् आये और उन्होंने बम बरसाना शुरू किया। तीसरा वायुयान और एक टैंक भी घटनास्थल पर आ गये। इटली के आक्रमण के समय अबीसीनियन की केवल दो मशीनगन अभी बन्द रक्खी थी; वे उस स्थिति में नहीं थीं, जिस हालत में लड़ाई के समय होती हैं। ऑफिसर और सिपाही भी अपने-अपने कैम्प में थे। अबीसीनियन सैनिक रक्षक (Escort) का दूसरा कमाण्डर ज्यों ही अपने कैम्प से बाहर निकला, घायल कर दिया गया। इटली सरकार ने अपना यह मन्तव्य प्रकट किया है कि वह विवाद को पंचायती फैसले के लिए सौंपने की सम्भावना नहीं देखती; इसलिए अबीसीनियन-सरकार यह स्पष्ट कर देना चाहती है—

(१) वलवल में इटली ने पहला आक्रमण किया और तीन दिन के बाद ओगडेन के भीतर एडो और गर्लोगुवी में आक्रमण किया।

(२) वलवल अबीसीनिया का प्रदेश है, जिस पर इटली की सेना

का गैर कानूनी काबू है। यह दो मुख्य प्रश्न हैं, जिनका निर्णय होता है। इटली की सरकार ने ता० २६ दिसम्बर सन् १६३४ को अबीसीनिया के दोषारोपणों का उत्तर देते हुए लिखा कि बम-वर्षा नहीं की गई थी। इटली की सरकार सीमा-निर्द्धारण (Foontres delimitation) का काम शुरू करने को तैयार है। इस प्रकार इटली और अबीसीनिया में पत्र-व्यवहार चलता रहा। अन्त में यह सब व्यर्थ जानकर अबीसीनिया ने राष्ट्र-संघ से ३ जनवरी १६३५ ई० को राष्ट्र-संघ के विधान की ११ वीं धारा के अनुसार कार्य करने की प्रार्थना की। यह प्रार्थना प्रधान-मन्त्री ने लीग-कौंसिल के सदस्यों को तुरन्त ही सूचित कर दी।

अबीसीनिया और राष्ट्र-संघ

पाठकों को यह तो ज्ञात ही होगा, कि अबीसीनिया राष्ट्र-संघ का सदस्य है; इसलिए स्वभावतः उसे यह अधिकार प्राप्त है, कि वह इस मामले को राष्ट्र-संघ के समीप रक्खे। विधान (Covenant) की धारा ११, (२) के अनुसार अबीसीनियन प्रतिनिधि ने, जिनेवा में सेक्रेटरी जनरल के पास एक मेमोरण्डम भेजा, जिसमें यह प्रार्थना की गई थी कि इस प्रश्न को कौंसिल के कार्य-क्रम में रक्खा जाय। १७ जनवरी १६३५ ई० को यह प्रश्न कौंसिल के विचारणीय विषयों में रक्खा गया, दो दिन के बाद कौंसिल को प्रधान-मन्त्री ने वह दो पत्र दिये, जो उसे दोनों सरकारों से मिले थे और जिनका आशय यह था, कि दोनों देशों ने सीधे समझौते का प्रयत्न अभी त्याग नहीं दिया है, इटली के पत्र में यह भी लिखा था—

राष्ट्र-संघ की कौंसिल में अबीसीनिया की प्रार्थना पर विचार-विनिमय दोनों देशों के पारस्परिक समझौते के प्रयत्न के लिए सुविधा-जनक न

होगा। घटना का निर्णय इटली और अबीसीनिया की १९२८ ई० की संधि की शर्तों के अनुसार भली-भाँति हो सकेगा, जब तक समझौता हो, तब तक कोई और घटना न होने पावे, इसके लिए प्रयत्न किया गया।

अबीसीनिया की सरकार से भी उसी तारीख का एक पत्र मिला, जिसका आशय यह था कि सरकार सन् १९२८ की संधि के अनुसार समझौता करने को तत्पर है और इटली की सरकार ऐसी दुर्घटनाओं की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए आदेश देने के लिए तत्पर है ; अतः अबीसीनिया-सरकार ने इस प्रश्न पर विचार करना आगामी कौंसिल-अधिवेशन तक स्थगित रखा। इस प्रकार कौंसिल ने इस प्रश्न पर विचार करना आगामी अधिवेशन तक स्थगित कर दिया।

सन् १९२८ की इटली-अबीसीनिया की संधि की शर्तों के अनुसार यदि कोई विवाद उत्पन्न हो जाय, तो दोनों सरकार को युद्ध न छेड़ देना चाहिए। यदि वे सीधे समझौते में सफल नहीं हो सकते, तो उन्हें अपने विवाद के निर्णय के लिए चार निर्णायक नियत कर देने चाहिए। प्रत्येक दो निर्णायक नियुक्त करे। यदि इस प्रकार का निर्णय (Conciliation) संभव न हो ; तो उन्हें पंचायती निर्णय (Arbitration) का आश्रय लेना चाहिए। उस दशा में चार निर्णायक एक पाँचवाँ पंच नियुक्त करेंगे। १९ जनवरी १९३५ ई० से १६ मार्च १९३५ ई० तक दोनों सरकारों में समझौते के लिए प्रयत्न होता रहा।

समझौता नहीं हुआ

१६ और १७ मार्च को अबीसीनिया की सरकार ने जो पत्र राष्ट्र संघ के प्रधान-मंत्री को भेजे, उनसे यह प्रकट होता है कि अबीसीनिया-सरकार की सम्मति में सीधे समझौते के प्रयत्न का अंत हो गया।

अबीसीनियन सरकार ने इटली के खिलाफ जो शिकायतें पेश कीं, उनका सार यह है—

(१) इटली समझौते की कोई बात न कर अबीसीनिया के लिए Injuctons भेजता है। वह घटना की जाँच से पूर्व ही क्षति-पूर्ति की माँग पेश करता है।

(२) उसने तीसरे राष्ट्र के इस दिशा में प्रयत्न को अस्वीकार किया है।

(३) अबीसीनिया ने बार-बार पंचायती फैसले (Arbitration) के लिए प्रार्थना की; परन्तु इटली मंजूर नहीं करता।

(४) इटली में एक वर्ग सैनिक प्रदर्शन कर रहा है, जिससे परिस्थिति और भी बिगड़ गई है।

(५) अफ्रीका में इटली के उपनिवेशों में लगातार युद्ध की सामग्री भेजी जा रही है; अतः अबीसीनिया की सरकार राष्ट्र-संघ के सम्मुख विधान की धारा १५ के अनुसार यह माँग प्रस्तुत करने को वाध्य हुई है कि राष्ट्र-संघ-विधान की १५वीं धारा के अनुसार पूर्ण जाँच-पड़ताल और विचार किया जाय। यह कार्य बराबर होता रहे।*

इटली की सरकार ने उत्तर दिया कि इटली में जो सैनिक-प्रदर्शन

* 'Trusting in the justice of its cause, it demands full investigation and consideration as provided in Article to, pending the arbitration contemlated by the Treaty of 1928. and the Geneva Agreement of 19th Jan. 1935. It solemly undertake the accept any arbitral award immediality and unreservedly, and to act in accordance with the counsels and dicisions of the League of Nations'

—*Official Journal (Geneva) May, 1935, p. p, 571-2*

हो रहा है, वह बिलकुल असत्य है। इटली से अफ्रीका के सुमालीलैण्ड में जो सेना आदि भेजी जा रही है, वह उपनिवेशों की रक्षा के लिए ही भेजी जा रही हैं। इटली ने यह कार्य आत्म-रक्षा के उद्देश्य से किया है; क्योंकि अबीसीनिया अपनी फौजी तैयारियाँ बहुत ही बड़े पैमाने पर कर रहा है, तथा सीमाओं पर स्थिति बहुत नाजुक है। इटली की सरकार ने कहा कि विधान की १५वीं धारा का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। जनवरी १९, सन् १९३५ को जो पत्र-व्यवहार हुआ है, उससे यहीं निश्चय किया गया है कि समझौते का प्रयत्न सन् १९२८ की संधि के अनुसार किया जाय। इटली की सम्मति में (Direct Negotiotiou) सीधे समझौते का प्रयत्न समाप्त नहीं हो चुका है। यदि यह समझौते का प्रयास सफल नहीं हुआ और अबीसीनिया की सम्मति हुई, तो १९२८ की संधि के अनुसार कमीशन की रचना के लिए तुरन्त प्रयत्न किया जायगा।

अबीसीनिया-सरकार का एक नवीन प्रयत्न

मार्च के अन्त में अबीसीनियन सरकार ने इटली की सरकार को यह सुयोग दिया कि वह तीस दिन की अवधि के भीतर जिनेवा, पेरिस पर लन्दन में समझौते के लिए सम्मति दे। इटली-सरकार पंचायती फैसले को चाहती है; इसलिए पंचायत की नियुक्ति, उसके नियम तथा कार्य-पद्धति का निश्चय कर लिया जाय। यदि इस अवधि के भीतर पंचों की नियुक्ति नहीं की गई तथा पंचायत के सब नियम व कार्य-पद्धति तय नहीं किये गये, जिससे पंच लोग अपने कार्य को तुरन्त कर सकें, तो राष्ट्र-संघ की कौंसिल को आमन्त्रण दिया जायगा कि वह पंचों की नियुक्ति करे, कार्य-पद्धति नियत करे, उन प्रश्नों को निश्चय करे, जिनका निर्णय किया जायगा और विशेष रूप से, सन्धियों के अनुसार इटली

अबीसीनिया की सीमा का प्रश्न और अंत में पंचों को यह आदेश दिया जाय कि वे नवम्बर २३ सन् १६३४ ई० से वलवल और इटैलियन सुमालीलैंण्ड की सीमा पर जो घटनाएँ हुई हैं, किस-किस का उत्तर-दायित्व है। यह स्पष्ट रूप से तय हो जाना चाहिए कि जब तक समझौते का प्रयत्न होगा अथवा पंचायत अपना कार्य करेगी, दोनों सरकारें किसी प्रकार की सैनिक तैयारी न करेंगी न सैनिकों का एकत्रीकरण ही। कोई ऐसा काम नहीं किया जायगा, जो सैनिक तैयारी में सम्मिलित होगा। पंचों का निर्णय एक बार घोषित होने पर अन्तिम होगा। दोनों सरकारें उसका हर प्रकार से पालन करेंगी।

राष्ट्र-संघ की कौंसिल के प्रस्ताव

मई १६३५ में राष्ट्र-संघ की कौंसिल का साधारण अधिवेशन हुआ। २५ मई की बैठक में कौंसिल ने एक प्रस्ताव पास किया, जिसका आशय यह था, कि तीन मास की अवधि तक समझौते (Conciliation) और पंच-निर्णय (Arbitration) द्वारा विवाद का फैसला किया जायगा। सीधे समझौते का प्रयत्न विफल रहा। दोनों दलों ने अपने-अपने पंचों को मनोनीत कर दिया है। इटली और अबीसीनिया ने यह भी तय किया है, कि यह (Conciliation & arbitration Commission) कमीशन उस विवाद की जाँच करेगा, जो पाँच दिसम्बर को वलवल में हुआ तथा उस समय से अब तक इटली और अबीसीनिया की सीमा पर जो घटनाएँ हुई हैं, उनका निर्णय भी करेगा। कमीशन का कार्य २५ अगस्त १६३५ तक समाप्त हो जाना चाहिए। कमीशन में से इटालियन तथा अबीसीनिया की ओर से एक फ्रांसीसी और एक अमेरिकन सम्मिलित होंगे।

दूसरे प्रस्ताव में यह स्वीकार किया गया, कि कौंसिल यद्यपि दोनों

सरकारों को अपना विवाद २ अगस्त की इटली-अबीसीनिया-सन्धि की धारा ५ के अनुसार निर्णय करने की स्वतन्त्रता देती है तथापि साथ ही यह भी निश्चय करती है, कि यदि चारों पंचों में विवाद के निर्णय पर सहमति नहीं हुई और उस दशा में २५ जुलाई १६३५ तक वे निर्णय न कर सके या पाँचवाँ पंच नियुक्त न कर सके, (पंचायत (Arbitration) में जिसकी नियुक्ति आवश्यक होती है) तो राष्ट्र-संघ की कौंसिल स्थिति पर विचार करने के लिए संयोजित होगी।

इस दशा में कौंसिल परिस्थिति पर विचार करने के लिए बैठेगी, यदि २५ अगस्त तक समझौते और पंचायत-द्वारा निर्णय नहीं हो सका।

जब कमीशन की नियुक्ति का प्रश्न तय हो गया, तब भयभीत अबीसीनिया के प्रतिनिधि ने याद दिलाया, कि २ अगस्त १६२८ की सन्धि यह निश्चय करती है, कि 'वे किसी बहाने एक दूसरे की स्वतन्त्रता को हानि पहुँचाने के लिए कोई काम न करेंगे।' इसके अनुसार उसने इटली-सरकार से यह प्रार्थना की, कि (१) इटली को पूर्वी अफ्रीका में अपने अतिरिक्त सैनिक दल (Troops) और युद्धोपकरण भेजना बन्द कर देना चाहिए।

(२) जो सेना या युद्ध की सामग्री पूर्वी अफ्रीका में भेज दी गई है, उसे अबीसीनिया पर आक्रमण करने की तैयारी में प्रयोग न किया जाय। इसके उत्तर में इटली के प्रतिनिधि ने कहा कि हम वर्तमान परिस्थितियों में अपने प्रदेशों की कानूनी वैध-रक्षा के लिए किये गये कार्यों पर किसी को टीका-टिप्पणी करने का अवसर देना नहीं चाहते। और न हम यह चाहते हैं कि इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत को उत्तेजित करने के लिए ऐसा किया जाय। इटली के प्रभुत्व (Sovereignty) पर कोई शक्ति हस्तक्षेप करने की इच्छा न करेगी।

कुछ दिन पूर्व इटली शासन के प्रमुख ने जो शब्द इस सम्बन्ध में कहे थे, वह यहाँ उल्लिखित करना उचित होगा—

'By accepting the arbitration procedure, it had demonstrated its determination to respect the undertaking entered into by the two Governments. If the Italion Government accepted the "conciliation and arbitration procedure, it did so because it intended to conform thereto.'

इटली के अधिनायक वनितो मुसोलिनी ने जो यह शब्द कहे हैं, उनपर टीका-टिप्पणी करना व्यर्थ है। वास्तव में यह कूट-नीतिज्ञों और युद्ध-कुशल सेनापतियों की भाषा है, जिसका छिपे शब्दों में अर्थ होता है—युद्ध, संघर्ष और आक्रमणकारी सैनिक प्रदर्शन। ३ अक्टूबर १९३५ के अडोवा में जो भीषण हृत्कम्पनकारी जन-संहारक बम-वर्षा और रक्तपात हुआ, वही इस वक्तव्य पर सबसे उत्तम प्रामाणिक टीका है।

भय का राज्य

निर्बल अबीसीनिया दिसम्बर १९३४ से अब तक बार-बार राष्ट्र-संघ का ध्यान इटली के सैनिक-प्रदर्शन और विशाल फौजी तैयारी की ओर आकर्षित करता रहा और यह प्रार्थना करता रहा कि इटली को इस प्रकार की तैयारी करने से रोका जाय। वास्तव में इटली ने आतंकवादी प्रदर्शन कर अबीसीनिया में भय का आतंक जमा दिया। इटली के प्रेसों में बड़े उत्तेजित और युद्ध के लिए प्रोत्साहन देनेवाले लेखों का प्रकाशन तथा राजनीतिज्ञों के भाषण, जिनमें अबीसीनिया की स्वाधीनता अपहरण की धमकियाँ दी जाती हैं, इस बात को सिद्ध करते हैं कि

इटली शक्ति-हीन राष्ट्र के कुचलने और उनका सर्वनाश करने के लिए कितनी जबर्दस्त तैयारियाँ कर रहा है। हज़ारों टन युद्ध की सामग्री, रायफल, तोप, मशीनगन, टेंके और सैकड़ों लड़ाई के वायुयान, पनडुब्बी जहाज इरीट्रिया में संग्रह किये जा रहे हैं।

यह सब कार्य इटली अफ्रीका में अपने प्रदेशों की रक्षा के लिए कर रहा है। अबीसीनियन सरकार का यह कथन है, कि विगत दिसम्बर से अब परिस्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया है। स्थिति दिन-पर-दिन भयंकर होती जाती है। अबीसीनिया की स्वतन्त्रता और राज्य पर निकट-भविष्य में आक्रमण होनेवाला है; इसलिए राष्ट्र-संघ को अपनी ओर से अबीसीनिया में तटस्थ-निरीक्षक (Ventral Ovserver) अबीसीनिया-इटली सोमालीलैंड की सीमा पर घटनाओं के निरीक्षण के लिए भेज देने चाहिए। यह निरीक्षक निष्पक्षता से परिस्थितियों और घटनाओं का निरीक्षण करेंगे और राष्ट्र-संघ की कौंसिल को अपनी रिपोर्ट दे सकेंगे। अबीसीनिया की सरकार इस जाँच के भार को वहन करने के लिए तैयार है और जो राष्ट्र-संघ के निरीक्षक भेजे जायँगे, उनको हर प्रकार की सहायता और सुविधा दी जा सकेगी।

६ जुलाई १९३५ को अबीसीनिया-सरकार के एजेण्ट ने कौंसिल को यह सूचना दी, कि Conciliation Commission का कार्य रुक गया है। अबीसीनिया की सरकार के एजेण्ट ने वलवल की प्रादेशिक स्थिति के विषय में अपना वक्तव्य दिया, तो इटली सरकार के एजेण्ट ने उसपर इस आधार पर आक्षेप किया कि पंचायत की शर्त्तें जो दोनों सरकारों ने तय की हैं, उनके अनुसार वलवल की घटना की जाँच के लिए संकेत है, तथा और दूसरी घटनाएँ, जो २५ मई १९३५ तक घटित हुई हैं। सीमा पर जो घटनाएँ हुई हैं, उनकी जाँच करना इस कमीशन का कार्य नहीं है। इटली के दो कमिश्नरों ने इटली के

एजेएट के इस आक्षेप को स्वीकार कर लिया। जो दो कमिश्नर अबीसीनिया की ओर से नियुक्त किये गये थे, उनका यह कथन है, कि अबीसीनिया की सरकार के एजेएट को उन कारणों के बतलाने से रोकना असम्भव है, जिनके कारण उसे यह विचार करने की प्रेरणा मिली है कि कमीशन, जो घटना की सभी परिस्थितियों की परीक्षा करने में स्वतन्त्र है, उन परिस्थितियों ने 'वलवल' के स्वामित्व की परिस्थिति को भी शामिल कर सकेगा। इटली के कमिश्नरों ने यह प्रस्ताव किया कि जब तक दोनों में इस विषय में एकमत न हो जाय, तबतक कार्यवाही को रोक दिया जाय। अबीसीनियन कमिश्नरों ने घोषित किया कि अब पाँचवाँ पंच नियुक्त करने की स्थिति उत्पन्न हो गई है।

इस स्थिति की सूचना राष्ट्र-संघ की कौंसिल को दी गई। ३ अगस्त १६३५ को कौंसिल का विशेष अधिवेशन हुआ। सबसे पूर्व कौंसिल ने कमीशन का कार्य फिर से संचालन करने का प्रयत्न किया। जो घोषणाएँ की गई थीं, तथा जो नोट परस्पर भेजे गये और जो वक्तव्य कौंसिल के सम्मुख दिये गये, उन सभी पर विचार करते हुए कौंसिल ने निश्चय किया कि—

'दोनों पक्ष इस बात पर सहमत नहीं थे, कि कमीशन सीमा की घटनाओं की जाँच करेगा, या सीमा-सम्बन्धी सन्धियों और समझौतों (Agreements) की कानूनी व्याख्या करेगा। इसलिए यह कार्य कमीशन की कार्य-सीमा के अन्तर्गत नहीं आता। कमीशन को यह अधिकार प्राप्त है कि वह उस धारणा पर विचार करे—इस विषय में किसी प्रकार का वाद-विवाद न किया जाय, जो दोनों पक्षों के स्थानीय अधिकारियों ने घटना-स्थल के स्वामित्व के सम्बन्ध में बना रक्खी हैं। यदि कमीशन ने अपना निर्णय इस मत के आधार पर किया कि वलवल इटली या अबीसीनिया के प्रदेश में है, तो वह उन

प्रश्नों के समाधान के विरुद्ध वातावरण पैदा करेगा, जो उसकी जाँच सीमा से परे है।

इस प्रकार ता० २० अगस्त को पाँचवाँ पंच एम० निकोलस पोलीटस नियुक्त किया गया।

पंच-निर्णय

३ सितम्बर १९३५ ई० को पंच-निर्णय (Arbitral Award) सर्व-सम्मति से घोषित किया गया, जो इस प्रकार है—

दोनों पक्षों के वक्तव्य और घटना के वर्णन सुनने के बाद कमीशन इस निर्णय पर पहुँचा है कि—

(१) 'वलवल' की घटना के लिए न तो इटली की सरकार और न घटना के समय घटना स्थल पर उपस्थित उसके एजेंट उत्तरदायी हैं।

(२) अँग्रेजी अबीसीनियन कमीशन के वलवल से प्रस्थान कर जाने के बाद भी अबीसीनियन सेना वलवल में विद्यमान रही। इससे इटली ने यह अर्थ लगाया कि अबीसीनियन आक्रमण का विचार करते हैं; परन्तु यह सिद्ध नहीं किया गया है कि वे ५ दिसम्बर की घटना के लिए जिम्मेदार ठहराये जायँ।

इटली का रणोन्माद

'वलवल" की घटना पर कमीशन ने अपना निर्णय ता० ३ सितम्बर को दे दिया। उसने इटली और अबीसीनिया दोनों ही को निर्दोष ठहराया। इस निर्णय से इटली को सन्तोष कैसे होता। वह तो यह चाहता था कि अबीसीनिया को दोषी ठहराया जाय, तो इटली को युद्ध करने का बहाना मिल जायगा; परन्तु जब इटली पहले से ही

युद्ध करने के लिए तैयारी कर रहा था, तब वह इस निर्णय से कैसे प्रभावित होता !

ता० ४ सितम्बर को अबीसीनिया की स्थिति पर इटली के प्रतिनिधि ने एक मेमोरियल राष्ट्र-संघ की कौंसिल-बैठक में प्रस्तुत किया और यह स्पष्ट रूप से कहा कि—'यदि इटली अबीसीनिया के साथ समानता के व्यवहार से राष्ट्र-संघ में विचार -विनिमय करता रहा, तो सभ्य-राष्ट्र होने के कारण इटली का गौरव नष्ट हो जायगा।' *

इस प्रकार इटली अबीसीनिया के उस अधिकार—समानता के अधिकार—को अस्वीकार करता है, जो राष्ट्र-संघ के सदस्य को प्राप्त है। क्या सभ्यताभिमानी इटली का यह कथन राष्ट्र-संघ के गौरव के अनुकूल है !

'इटली अब सन् १९२८ की संधि के आश्रय बिलकुल नहीं रहना चाहता और न वह किसी क़ानूनी गारण्टी पर ही विश्वास करता है। इटली के उपनिवेशों के लिए जो इस समय खतरा है, उसे वह सर्वदा के लिए दूर कर देने में उपर्युक्त संधि या गारण्टी की परवा नहीं करेगा। यह प्रश्न इटली की रक्षा और सभ्यता के लिए अतीव महत्त्व-पूर्ण है। यदि इटली ने अबीसीनिया में किसी प्रकार का विश्वास करना सर्वदा के लिए नहीं त्याग दिया, तो इटली की सरकार अपने प्राथमिक कर्त्तव्य के पालन में विफल होगी। इसलिए इटली की सरकार अपने उपनिवेशों और हितों की रक्षा के लिए, जब आवश्यकता होगी, पूरी स्वतंत्रता से कोई भी कार्य कर सकेगी।'

अब इटली को खुल्लमखुल्ला सैनिक तैयारी करने का सुयोग हाथ

* 'Italy's dignity as a civilised nation would be deeply wounded were she to continue and discuss in the League on the footing of equality with Ethiopia.'

लग गया। वह ऐसे ही सुवर्ण अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। सितम्बर मास में उसने अपनी तैयारी पूरी कर ली और अक्टूबर की तीसरी तारीख को अडोवा में रण-भेरी गुंजायमान् हो गई!

शक्ति-हीन राष्ट्र-संघ इटली के मुँह की ओर ताकता ही रह गया। उसने राष्ट्र-संघ के आदेश और विधान को किस दुःसाहस और निर्भीकता से ठुकराया, यह सभी राष्ट्र जानते हैं।

इसके बाद राष्ट्र-संघ की कौंसिल ने पाँच सदस्यों की एक समिति (The committee of five) नियुक्त की, जिसके सदस्य स्पेन, ब्रिटेन, फ्रांस, पोलेंड, और टर्की बनाये गये। इस कमेटी का कार्य यह निश्चय किया गया कि वह इटली-अबीसीनिया के सम्बन्धों की जाँच करेगी और शान्ति-पूर्ण समझौते के लिए प्रयत्न करेगी। कमेटी ने अपनी सूचनाएँ (Suggestions) दोनों सरकारों के लिए भेजीं। इन्हीं सूचनाओं के आधार पर समझौता होना चाहिए, ऐसा कमेटी का विचार था। कमेटी की यह सूचनाएँ अबीसीनिया ने मान ली; परन्तु इटली ने उनको ठुकरा दिया। रणोन्माद में मस्त इटली शांति और समझौते की बातें कैसे सुनने लगा!

युद्ध की ओर

२५ सितम्बर को अबीसीनिया के सम्राट् ने कौंसिल को एक तार दिया। जिसमें यह लिखा था—'कई मास हुए सीमा-प्रांत पर जो हमारी सेना थी, उसे हमने यह आज्ञा दी कि वह सीमा से तीस किलोमीटर पीछे वापस आ जाय और वहीं रहे, जिससे वह इटलीवालों को आक्रमण करने का कोई अवसर न दे। आज्ञा का पूरी तरह पालन किया गया। हम आपको अपनी पूर्व-प्रार्थना की याद दिलाते हैं, जिसके-द्वारा निष्पक्ष निरीक्षकों को सीमा पर घटनाओं की जाँच कर कौंसिल

को रिपोर्ट देने को कहा गया था। हम कौंसिल से पुनः प्रार्थना करते हैं कि कोई और समुचित कार्य करे, जिससे खतरा दूर हो जाय। कौंसिल ने इसका उत्तर दिया—'निष्पक्ष-निरीक्षक (Impartial observer) भेजने की प्रार्थना पर कौंसिल बहुत ही होशियारी से विचार कर रही है। वह यह विचार कर रही है कि ऐसी परिस्थितियाँ इस समय हैं, उनमें निरीक्षक अपना कार्य अच्छी प्रकार पूरा कर सकेंगे अथवा नहीं।'

दुर्भाग्य है कि कौंसिल इस प्रश्न पर विचार करती ही रही और इधर इटली आक्रमण के लिए तैयार हो गया। अकर्मण्यता और शक्ति-हीनता का प्रमाण इससे अधिक और क्या हो सकता है! यदि राष्ट्र-संघ चाहता, तो इटली अपनी आक्रमणकारी नीति को बदल सकता था; परन्तु राष्ट्र-संघ भी तो इटली के समान साम्राज्यवादी राष्ट्रों का एक समूह है, जो साम्राज्यवाद के नियम पालन के लिए सदैव तैयार रहता है।

चीन-जापान युद्ध के समय जो अकर्मण्यता और शक्ति-हीनता का परिचय राष्ट्र-संघ ने दिया, उससे यह स्पष्ट प्रकट हो गया कि राष्ट्र-संघ यूरोपीय राष्ट्रों का एक समुदाय है, जो संसार में अपना आतंक डालने के लिए स्थापित किया गया है। वर्तमान इटली के आक्रमण ने तो इस बात में संदेह की बिलकुल गुंजाइश नहीं रहने दी है।

३ अक्टूबर १९३५ को इटली सरकार ने कौंसिल को सूचना दी कि अबीसीनिया में सामरिक और आक्रमणकारी भावना इटली के विरुद्ध युद्ध छेड़ने में सफलीभूत हो गई है। ता० २८ सितम्बर को अबीसीनिया के सम्राट् ने फौजी-प्रदर्शन के लिए आज्ञा निकलवा दी है। इसी तारीख को अबीसीनिया की सरकार ने कौंसिल को यह सूचना दी कि आज इटली के सैनिक वायुयानों से अडोवा और अडीग्रेट पर बम

वर्षा की और अगमे प्रांत में युद्ध हो रहा है। यह बम-वर्षा तथा युद्ध अबीसीनिया प्रदेश में हो रहे हैं; इसलिए इटली ने साम्राज्य की सीमा में अनुचित प्रवेश किया है और विधान को भंग किया है।

अडोवा पर आक्रमण

कमीशन के निर्णय के ठीक एक मास बाद ३ अक्टूबर १६३५ को इटली की सेना ने अबीसीनिया के उत्तरीय प्रदेश के अडोवा नगर पर आक्रमण शुरू कर दिया। जिस समय इटली ने आक्रमण शुरू किया, उस समय युद्ध के लिए दो लाख सैनिक, तीस हजार मजदूर (जो मार्ग साफ़ करने के लिए बुलाये गये थे।) ३५० सैनिक हवाई जहाज़ और २५० टैंक (बड़ी तोपें) रणभूमि में विद्यमान थीं। अदीसअबाबा का ८ अक्टूबर का रूटर का समाचार है कि इटली ने एडीग्रेट अडोवा और एक्सम को अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार ७० मील लम्बी पंक्ति पर इटली का अधिकार हो गया। इटली के अधिकारियों का यह विचार है कि जब तक इन तीनों नगरों को इटली के प्रदेश इरीट्रिया से सड़क द्वारा न मिला दिया जाय, आगे सेना कूच न करे। इटली के सैनिक वायुयान आकाश से बम-वर्षा करते हैं। अबीसीनिया के पास केवल तीन हवाई जहाज़ हैं और फिर बर्छी, भाले, तलवारों से पुराने ढंग के सिपाही, आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से शिक्षित इटालियन सैनिकों की वैज्ञानिक युद्ध-प्रणाली से कैसे टक्कर ले सकते हैं। यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि अबीसीनिया पार्वतीय प्रदेश है। वहाँ बड़ी-बड़ी घाटियाँ हैं। ऐसे पहाड़ी प्रदेश में अबीसीनियन केवल एक ही रीति से अपनी रक्षा कर सकते हैं। अबीसीनिया 'गुरीला' युद्ध-पद्धति का व्यवहार कर रहे हैं। सौभाग्य से प्रकृति ने उनके शत्रुओं से रक्षा करने के लिए चार प्राकृतिक साधन दिये हैं—पर्वत, वन, मरुभूमि और वायु।

अबीसीनियन पर्वतों की कन्दराओं और गुफाओं में छिपकर आक्रमण करते हैं। रूटर के एक समाचार से ज्ञात हुआ है कि अबीसीनियन सेना ने अडोवा में प्रवेश कर वहाँ के सैनिकों तथा युद्ध की सामग्री तोप, बन्दूक, मशीनगन आदि को अपने अधीन कर लिया है।

इटली के आक्रमण से अबीसीनिया की राजधानी अदीसअबाबा में बड़ा आतंक छा गया है। जनता में भय का राज्य है। उनको यह भय है कि इटली के सैनिक वायुयान अदीसअबाबा पर बम-वर्षा करेंगे; इसलिए अदीसअबाबा में रात को बिलकुल अंधकार कर दिया जाता है। कोई व्यक्ति प्रकाश नहीं करता। मोटरें भी बिना 'हैंडलाइट' के सड़कों पर घूमती हैं। अदीसअबाबा और हरार में विदेशी (जिनमें भारतीय व्यापारियों की संख्या बहुत अधिक है) लोग अपने-अपने व्यापार व्यवसायों को छोड़-छोड़कर अपने देशों को वापस आ रहे हैं। अदीसअबाबा बिलकुल खाली कर दिया गया है। राजधानी के अबीसीनियन स्त्री-बच्चे पार्वतीय प्रदेशों में भेज दिये गये हैं, जिससे उनकी आक्रमणों से रक्षा हो सके। ११ नवम्बर के भारतीय समाचार-पत्रों में प्रकाशित अदीसअबाबा के एक संवाद से यह विदित हुआ है कि एक इटालियन वायुयान अदीसअबाबा में सबसे प्रथम बार पहुँच गया। वह बहुत ऊँचाई पर उड़ रहा था।

इटली की सेना ने इस समय तक (८ नवम्बर १९३५ तक) उत्तरीय अबीसीनिया के अगमे, एर्डाग्रेट, अडोवा, एक्सम, मकाले और दनकिल अपने अधीन कर लिये हैं। पूर्वी अबीसीनिया में ओगडेन प्रान्त के गोराही और Dudgubleh भी इटली के अधीन हो गये हैं। दक्षिणी प्रदेश में 'डोला' पर इटली ने आक्रमण कर दिया और यह भी उसके कब्जे में आ गया है। इस प्रकार इटली की सेनाएँ उत्तर, पूर्व और दक्षिण—तीनों ओर से अबीसीनिया पर आक्रमण कर रही हैं।

परिशिष्ट

अदीसअबाबा का ७ नवम्बर का संवाद है कि अबीसीनियन इटली के आक्रमणों का प्रतिकार करने के लिए बहुत जोरदार तैयारी कर रहा है। अबीसीनिया की सेनाएँ तीन भागों में विभाजित कर उत्तर, दक्षिण और पूर्व से भेजने की व्यवस्था की जा रही है। यह सैनिक बड़े भयावह हैं और इनकी युद्ध-प्रणाली सर्वथा जंगली है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह अपने युद्ध-कौशल से इटालियन सैनिकों के छक्के छुड़ा देंगे। ४०,००० जंगली शिकारी डोलो की ओर जा रहे हैं। सेना का एक भाग ओगडेन की ओर जा रहा है। ३०,००० गोफा (Creeping Gofas) जिनके पास भाले-बर्छी होते हैं, इटली के सन्तरियों के पास रेंगकर जाते हैं और हमले करते हैं। डायरडावा में यह सब एकत्र हो रहे हैं।

हेली सेलासी का देश-द्रोह

हेली सेलासी टिगरे (Tigre) जो अबीसीनिया के उत्तर का एक प्रान्त है, वह एक राज-परिवार का राजकुमार है। इसके पिता का नाम रास गुग्सा अराया और चाचा का नाम रास सैयूम है। हेली सेलासी की आयु २५ वर्ष की है। सम्राट् हेली सेलासी ने कुछ वर्ष पूर्व अपनी राजकुमारी का विवाह राजकुमार हेली सेलासी के साथ कर दिया। जब राजकुमार के पिता रास गुग्सा का देहान्त हो गया, तो वह राजगद्दी पर बैठा, जब वह राज्य का स्वामी बना, तो सम्राट् ने एक शर्त यह लगा दी कि राजकुमार को अपने चाचा रास सैयूम के नियंत्रण में रहना चाहिए, राजकुमार को यह बात बुरी लगी। ऐसा कहा जाता है कि हेली सेलासी के इटली की ओर जा मिलने का यह एक ही कारण है।

कारण चाहे कुछ भी हो; परन्तु देश की स्वाधीनता का शत्रु बनकर एक शासन की प्रभुता स्वीकार करना दासत्व से कम नहीं। एक ऐसे

अवसर पर जब अबीसीनिया घोर संकट में है—उसकी स्वाधीनता और पराधीनता का निर्णय होने जा रहा है—उत्तरी प्रान्त टिगरे (जिसमें, अडोवा, अक्सम तथा मकाले नगर स्थित है, जो इटली के अधिकार में आ चुके हैं) के शासक का देशद्रोह अबीसीनिया के लिए बड़े दुर्भाग्य की बात है। असमारा (इरीट्रिया-इटली का उपनिवेश) का ८ नवम्बर का यह संवाद है कि मैकाले के राजप्रासाद पर इटली की राष्ट्रीय पताका फहराई गई। किसी प्रकार का विरोध प्रदर्शन नहीं हुआ—देशद्रोही हेली सेलासी इटली की ओर से मैकाले का गवर्नर घोषित किया गया।

राष्ट्र-संघ की विफलता

लार्ड सीसिल ने ब्रिटेन की 'लीग आफ़ नेशन्स यूनियन' की समस्त शाखाओं के नाम एक पत्र भेजा है, जिसके प्रारम्भ में लिखा है—

'The whole cause of the League of Nations is at stake. Unless the League takes vigorous and effective measures to put an end to Italy's flagrant violation of the covenant, no nation will believe that the covenant offers it any security in the future, and the League's moral authority will be destroyed.'

आज राष्ट्र-संघ के जीवन और मरण का प्रश्न है। सारा संसार यह जानता है कि इटली ने राष्ट्र-संघ के विधान (covenant) को भंग कर युद्ध-नीति ग्रहण की है ; परन्तु कोई भी राष्ट्र उसका क्रियात्मक विरोध करने का साहस नहीं करता। क्यों ? इसका उत्तर आगे दिया जायगा।

परिशिष्ट

जब विगत चीन-जापान युद्ध हुआ, तब राष्ट्र-संघ ने जापान के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया। जापान ने सहस्रों निरीह चीनियों की हत्या की, उनके प्रान्त मंचूरिया को अधीन कर लिया; परन्तु राष्ट्र-संघ मौन होकर यह सब देखता रहा। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यूरोपियन राष्ट्रों का चीन में कोई विशेष हित नहीं था। इसके लिए यूरोप की महाशक्तियाँ व्यर्थ में जापान—शक्ति-शाली सैनिकवादी जापान से झगड़ा करना नहीं चाहती थीं। यह बात मान ली जायगी क्योंकि राष्ट्र-संघ की नीति के संचालक यूरोप के बड़े-बड़े राष्ट्र ही हैं। इसलिए जो कुछ वे करते हैं, उसमें अपने हितों की रक्षा का प्रश्न पहले सोच लेते हैं।

परन्तु आज यूरोप का एक शक्तिशाली राजा अफ्रीका में साम्राज्य की स्थापना के लिए युद्ध कर रहा है। यह युद्ध यूरोपीय राष्ट्रों के हितों से सम्बन्ध रखता है। फिर भी राष्ट्र-संघ से बड़े-बड़े राष्ट्र-सदस्य कोई प्रभावकारी विरोध क्यों नहीं करते?

अफ्रीका में इटली, फ्रांस, ब्रिटेन इन तीनों के उपनिवेश हैं, केवल अबीसीनिया ही एक स्वाधीन राज्य है, जिसमें वहाँ के निवासियों का शासन है, इन सभी साम्राज्यों में ब्रिटिश का साम्राज्य बहुत विशाल है; इसलिए उसका हित भी बहुत महत्त्व-पूर्ण है। फ्रांस का उपनिवेश बहुत थोड़ा है, इसके अतिरिक्त मिश्र भी एक प्रकार से ब्रिटिश के संरक्षण में है। इस कारण ब्रिटिश लोगों को अपने साम्राज्य की रक्षा की चिन्ता है।

विगत महायुद्ध से पूर्व अफ्रीका में जर्मन उपनिवेश थे, ब्रिटेन को मिल जाने से अब वहाँ जर्मनी का कोई हित नहीं है; परन्तु नाज़ी जर्मनी अपने खोये हुए उपनिवेशों को पुनः प्राप्त करने के लिए तैयार बैठा है। इस प्रकार यूरोप के चार महाराष्ट्रों—ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और

जर्मनी—के हितों में परस्पर विरोध है। ब्रिटेन पर सभी का दाँत है; क्योंकि उसके पास सबसे अधिक उपनिवेश हैं। इन उपनिवेशों से ब्रिटेन का प्रतिवर्ष साठ करोड़ पौंड का व्यापार होता है।

इटली यह चाहता है कि यदि उसका अबीसीनिया पर अधिकार हो जायगा, तो इटली ब्रिटेन के व्यापार को छीन लेगा। इटली का अबीसीनिया पर अधिकार हो जाने से टाना झील, जो अबीसीनिया की सबसे बड़ी और उपयोगी झील है, पर उसका क़ाबू हो जायगा। इस झील के पानी से ही नील नदी का प्रवाह जारी रहता है। नील नदी ब्रिटिश सूडान में होकर बहती है और उसी के पानी से सूडान की सिंचाई होती है। सूडान के व्यापार में ७६% भाग रूई का है। सूडान में होनेवाली रूई का ५८% प्रेजीरा प्रदेश में पैदा होती है। यदि इटली का टाना झील पर अधिकार हो गया, तो वह इरीट्रिया को सींचकर वहाँ रूई पैदा करेगा और प्रेजीरा प्रदेश मरुस्थल बन जायगा। सूडान से अँगरेजों को ६२,०००,००० पौंड प्रति वर्ष का लाभ है।

इसी विशाल हित की रक्षा का प्रश्न ब्रिटेन के सामने है। अबीसीनिया में क्या हो रहा है, वहाँ की क्या स्थिति है, वहाँ कितने स्त्री-पुरुषों का बलिदान हो चुका है, उसकी कितनी सम्पत्ति नष्ट हो चुकी है और सबसे अधिक प्रिय वस्तु उसकी स्वाधीनता पर कैसा घातक प्रहार किया जा रहा है, यह प्रश्न किसी राष्ट्र के सामने नहीं है। सभी अपने-अपने हितों की रक्षा का पृथक्-पृथक् उपाय सोच रहे हैं। क्या इसी का नाम Collective security है?

राष्ट्र-संघ क्या है। यह राष्ट्रों के समूह से भिन्न कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। राष्ट्र जैसे होंगे, वैसा ही राष्ट्र-संघ होगा। राष्ट्र-संघ में इस समय ५६ राष्ट्र सम्मिलित हैं। जापान, जर्मनी, संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका—यह तीन बड़े-बड़े राष्ट्र उसके सदस्य नहीं हैं। इन सदस्य राष्ट्रों में भी यूरोप के

बड़े-बड़े राष्ट्रों का ही बोल-बाला है। यथार्थ में राष्ट्र-संघ के संचालक और नीति-निर्माता ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और रूस ही हैं। इनमें ब्रिटेन सबका नेता है; इसलिए राष्ट्र-संघ पर ब्रिटिश राजनीति—जो उग्र साम्राज्यवादी है—का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता।

विगत दिसम्बर १९३४ से अबीसीनिया बराबर राष्ट्र-संघ से प्रार्थना और अपील करता आ रहा है। उसकी यह अपील है कि अबीसीनिया निर्धन देश है, उसके पास युद्ध की सामग्री नहीं है, वह शक्तिशाली इटली से कैसे मुकाबिला कर सकता है। अबीसीनिया यह चाहता है कि उसका इटली से समझौता करा दिया जाय; परन्तु राष्ट्र-संघ अब तक कानों में तेल डाले सोता रहा। उसने अबीसीनिया की अपील पर कुछ ध्यान नहीं दिया। राष्ट्र-संघ की दृष्टि में अबीसीनिया प्रारम्भ से शांति का पोषक रहा है; उसने अपनी ओर से कोई ऐसा अवसर नहीं दिया, जिससे इटली को युद्ध की तैयारी करनी पड़े।

राष्ट्र-संघ ने इटली को विधान (covenant) भंग करनेवाला और दोषी ठहराया है।

जिनेवा के २० अक्टूबर के रूटर के समाचार से यह विदित हुआ है कि दण्डाज्ञाओं (sanctions) को प्रयोग में लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस उद्देश्य से ५२ सदस्यों की एक संचालक-समिति (Coordinating Committee) भी बना ली गई है। इस समिति में इंगलैंड के प्रतिनिधि श्री एन्थोनी इडेन का यह प्रस्ताव सर्व-सम्मति से स्वीकार हो गया, जिसमें इटली के आर्थिक बहिष्कार की योजना निश्चित की गई है। इस प्रस्ताव के विरुद्ध आस्ट्रिया, हंगरी और अलबेनियाँ ने अपनी सम्मति प्रकट की।

यह स्ताव सदस्य राष्ट्रों की सरकारों की सम्मति के लिए भेजा गया। प्रायः सभी राष्ट्रीय सरकारों ने प्रस्ताव का समर्थन किया है।

जर्मनी ने भी प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है। रूस ने भी अपनी स्वीकृति दे दी है ; परन्तु साथ ही यह भी कहा है कि यदि सभी राष्ट्र इसका पालन नहीं करेंगे, तो रूस अपनी नीति में परिवर्तन कर सकेगा। ता० ३१ अक्टूबर को जिनेवा में संचालक-समिति का अधिवेशन हुआ, जिसमें यह निश्चय किया गया कि इटली के विरुद्ध आर्थिक-दण्डाज्ञाओं (Economic Sanctions) का प्रयोग आगामी १८ नवम्बर से किया जायगा।

हमारी समझ में नहीं आता कि दण्डाज्ञाओं के प्रयोग में यह अनावश्यक विलम्ब क्यों किया जा रहा है।

पाठकों के ज्ञान-वर्द्धन के लिए यह आवश्यक होगा कि हम यहाँ संक्षेप में 'दण्डाज्ञाओं' (Sanctions) पर थोड़ा विचार कर लें।

दण्डाज्ञाएँ क्या हैं ?

दण्डाज्ञाएँ दो प्रकार की होती हैं। एक प्रतिबन्धात्मक (Preventive) और दूसरी दण्डात्मक (Punitive)। प्रतिबन्धात्मक Sanctions प्रभावकारी नहीं होते। दण्डात्मक Sanctions बहुत ही प्रभावकारी होते हैं। यह राष्ट्र-संघ को युद्ध-संचालन की बहुत विशाल शक्तियाँ प्रदान करते हैं।

राष्ट्र-संघ के विधान की १६वीं धारा के अन्तर्गत जिस दण्ड-व्यवस्था का उल्लेख है, वह पाँच प्रकार की है—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय बहिष्कार, (२) राजस्व उपाय (financial measure), (३) आर्थिक बॉयकाट, (४) आर्थिक अवरोध (Economic Blockade), (५) युद्ध।

इन दण्ड-व्यवस्थाओं का प्रयोग क्रमशः किया जाता है और यह उसी समय किया जाता है, जब 'अन्तिम समझौते' भंग हो जाते हैं।

परिशिष्ट

१—अन्तर्राष्ट्रीय बहिष्कार

यह बहुत ही व्यापक है, जो राष्ट्र राष्ट्र-संघ के सदस्य हैं और जो उसके सदस्य नहीं हैं उन सभी को उस राष्ट्र से व्यापारिक सम्बन्ध न रखना चाहिए, जिसने राष्ट्र-संघ के विधान का उल्लंघन किया है।

२—राजस्व बहिष्कार

इसका तात्पर्य यह है कि विधान के उल्लंघन करनेवाले राष्ट्र को युद्ध के लिए धन न दिया जाय—धन-ऋण न दिया जाय, धन की सहायता न दी जाय।

३—आर्थिक बहिष्कार

इसका अर्थ यह है कि आक्रमणकारी राष्ट्र के साथ व्यापार बंद कर दिया जाय। कोई माल न उसे भेजा जाय और न उससे माल मँगाया जाय। अस्त्र-शस्त्र, युद्ध की सामग्री, युद्ध उपयोगी कच्चा माल भी न भेजा जाय।

४—आर्थिक अवरोध (Economic Blockade)

५—युद्ध

सबसे अन्तिम उपाय है। जब तक राष्ट्र-संघ के अधीन कोई अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस न हो, तब तक इस दण्डाज्ञा का प्रयोग राष्ट्र-संघ के लिए अत्यन्त कठिन प्रश्न है।

अभी से बहुत राजनीतिज्ञों का यह विचार है कि यदि Sanctions का प्रयोग किया गया तो उसका अर्थ होगा इटली से युद्ध; इसलिए यह भी निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि Sanctions का प्रयोग प्रभावकारी ढंग से हो सकेगा।

राष्ट्र-संघ और विश्व-शान्ति

मुसोलिनी की धमकी

लन्दन के 'डेलीमेल' (Daily mail) समाचार-पत्र के संवाद-दाता मि० जी० वार्ड प्राइस से भेंट करते हुए सिग्न्योर मुसोलिनी ने अपने वक्तव्य में कहा—

'यदि जिनेवा में इटली के विरुद्ध दण्डाज्ञाएँ प्रयोग करने का निश्चय किया गया, तो इटली राष्ट्र-संघ को तुरन्त ही त्याग देगा और जो कोई उसके खिलाफ़ दण्डाज्ञाओं का प्रयोग करेगा, उसे इटली की सशस्त्र शत्रुता का सामना करना पड़ेगा।

'यदि राष्ट्र-संघ एक औपनिवेशिक प्रयास (Compaign) को योरोपीय युद्ध का रूप देना चाहता है, तो इससे प्रत्येक असन्तुष्ट राष्ट्र को अपनी इच्छा पूरी करने का अवसर मिल जायगा और यह भी सम्भव है कि यह विश्व-युद्ध का रूप ग्रहण कर ले, जिसमें १ करोड़ व्यक्तियों का सर्वनाश हो जायगा। इस सब का दोष लीग पर ही होगा।

'यूरोप के राष्ट्रों को संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका का अनुसरण करना चाहिए। और इटली को अपना मनोरथ पूर्ण करने के लिए छोड़ देना चाहिए। इटली अपना रुख उस समय तक नहीं बदलेगा, जब तक अबीसीनिया हार न मान ले।'

यह केवल मुसोलिनी के शब्द मात्र नहीं हैं। इनके पीछे इटली राष्ट्र की शक्ति, सेना और राष्ट्रीय जोश है; इसलिए मुसोलिनी के उपर्युक्त शब्द सारगर्भित और महत्त्व पूर्ण हैं। इस घोषणा ने दण्डाज्ञा प्रयोग के भविष्य को अन्धकार मय बना दिया है।

क्या हम यह आशा कर सकते हैं कि यूरोप के राष्ट्र प्रकाश में आकर संसार को एक भारी संकट से बचाने के लिए तत्पर होंगे?

९

सहायक ग्रन्थ-सूची

(BIBLIOGRAPHY)

1. India Analysed Vol I By freda M. Houlston & B. P. L. Bedi.
2. Intelligent Man's way to Prevent War—Edited Leonard Woolf.
3. Property or Peace By H. N. Brailsford.
4. Review of Europe to-day (1934) G. D. H. Cole.
5. Disarmament P. J. Noel Barker.
6. Ten years of world cooperation (League of Nations Geneva)
7. International conciliation (Monthly journal) (New-York U. S. A.)

8. League from year to year. (Geneva)
9. Official journal (Monthly) League of Nations Geneva.
10. Scientific Solialism By Dr. Bhagwan Das.
11. Young India (Weekly) By M. K. Gandhi.
12. Covenant of the League Explained (League of Nations Union)
13. India & the World (Monthly journal) Dr. Kali Das Nag.
14. The World crisis & the Problem of Peace, By S. D. chitali.
15. Society of Nations—By Felix Morley.
16. Looking forward—N. M. Butler.
17. Between Two worlds—Same.
18. The path to peace—Same.
19. India & the League of Nations By Sir J. C. Coyaji.
20. Despute between Ethiopia & Italy—Reports.
21. एशिया की क्रान्ति—ले० डॉ० सत्यनारायण पी० एच्० डी०
22. राष्ट्र-संघ का विधान—(लखनऊ)
23. विश्वमित्र—(मासिक) संपादक, डॉ० हेमचन्द्रजी जोशी (कलकत्ता)
24. आज—(दैनिक) काशी ।
25. मौर्य साम्राज्य का इतिहास—लेखक, प्रो० सत्यकेतु विद्यालङ्कार (हरिद्वार)

शुद्धि-पत्र

प्रथम भाग

अशुद्धि		शुद्धि		पंक्ति		पृष्ठ
महात्मा ईसा	—	भारत महात्मा ईसा	—	१७	—	५
और शान्ति	—	और वे शान्ति	—	१८	—	६
आज्ञाओं	—	दण्डाज्ञाओं	—	६	—	१६
उसकी	—	इसकी	—	१६	—	२०
का	—	को	—	२०	—	२०
सोवियट ... अफगानिस्तान रूस.		सोवियट और अफगानिस्तान सदस्य बन गये हैं	—	१०	—	२२
से	—	के	—	६	—	२७
'प्रत्येक वर्ष'	—	'कौंसिल प्रत्येक वर्ष'	—	१	—	२८
साम्राज्यवादी	—	साम्राज्यवाद	—	६	—	४०
Pall	—	Poll	—	२	—	४३
Soar	—	Sarr	—	०२	—	५०
Mentat	—	Mental	—	१५	—	५०
Setting	—	Sitting	—	२२	—	५१
अपने	—	उसके	—	११	—	५४
पत्नि	—	पति	—	२२	—	६०
later	—	latter's	—	१७	—	६५
राजपूत	—	राजदूत	—	२१	—	७७
वर्हिकार	—	बहिष्कार	—	११	—	७८
के	—	ने	—	१६	—	७८
सम्मति	—	सम्पत्ति	—	२	—	८३
का	—	के	—	१८	—	६३

अशुद्धि		शुद्धि		पंक्ति		पृष्ठ
Ovidence	—	Evidence	—	२३	—	९४
Sums	—	Seems	—	१५	—	९५
औ	—	और	—	८	—	९६
का	—	कार्य	—	१०	—	९७
सिपुर्द	—	सुपुर्द	—	१८	—	१००
स्वेच्छा	—	सद्भाव	—	४	—	१०४
गुप्त-समर	—	गुप्त-समिति	—	३	—	१०७
के	—	ने	—	१०	—	१०८
कोई	—	किसी	—	८	—	१०९
जो	—	जिसने	—	११	—	११०
के	—	ने	—	९	—	११३
सहायता	—	सदस्यता	—	१६	—	१२२
सहायता	—	सदस्यता	—	१८	—	१२२
कर्म-काल	—	कार्य-काल	—	७	—	१२३

द्वितीय भाग

अशुद्धि		शुद्धि		पंक्ति		पृष्ठ
राष्ट्र विभाग	—	राष्ट्र भावना	—	३	—	१३०
News	—	New	—	८	—	१४८
शान्ति-संघ	—	शान्ति सन्धि	—	शीर्षक	—	१५०
करना चाहिए	—	किया जाय	—	६	—	१५१
के	—	ने	—	२	—	१६२
करना	—	करना चाहिए	—	३	—	१६५
४५	—	१५	—	१०	—	१७२
किसान	—	विकास	—	२	—	१७९
धारण	—	धारणा	—	१०	—	१७९

अशुद्धि	शुद्धि	पंक्ति	पृष्ठ
सूर्योदय होनेवाला	सूर्योदय होने लगा	७	१८०
यूलेण्ड	इंग्लेण्ड	११	१८१
Organized by hy-pocricy	Organized hypo-cricy	१२	१८३
भारती	भारतीय	४	२०१
पति	प्रति	१८	२०१
सुरक्षा	सुरक्षा (१)—सातवाँ अध्याय (शीर्षक)		२०६
युद्ध मौलिक	युद्ध का मौलिक	१	२०७
Clausd	Clause	१६	२०९
निःशस्त्रीकरण	सुरक्षा (२)—आठवाँ अध्याय (शीर्षक)		२१४
मौका	गुंजाइश	२२	२१६
हम...करेंगे	(इसे न पढ़ें)	१७	२१८
राज्य	राज्यों को	२१	२१८
अल्प संख्यकवाली	अल्प-संख्यक	२१	२१८
अल्प	अल्प-संख्यक	[illegible]४	२[illegible]८
एक	(इसे न पढ़ें)	१६	२२०
सहायता-समझौता	सहायता के लिए समझौता	१६	२२०
शान्ति का अग्रदूत भारत	निःशस्त्रीकरण—नवाँ अध्याय (शीर्षक)		२२१
अपन	अपने	१	२२३
यह	इस	५	२२४
राष्ट्र-संघ का भविष्य	शान्ति का अग्रदूत भारत—दसवाँ अध्याय (शीर्षक)		२३१
शान्तिवादी भारत	शान्ति का अग्रदूत भारत	२५	२३२
यूनान	भारत	१७	२४०
भारत	यूनान	१८	२४०

अशुद्धि		शुद्धि		पंक्ति		पृष्ठ
अमेरिका और रूस राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं हैं ।	—	अमेरिका राष्ट्र-संघ का सदस्य नहीं है ; परन्तु रूस अब सदस्य बन गया है	—	२१	—	२४५
कुत्सिक	—	कुत्सित	—	१	—	२४७

तृतीय भाग

का	—	में	—	२	—	२४८

परिशिष्ट

इटली-अबीसीनिया संघर्ष	—	राष्ट्र-संघ का भविष्य	—	१(शीर्षक)		२५५
सिद्धान्त की संघर्ष	—	सिद्धान्त की उत्पत्ति संघर्ष	—	६	—	२५६
के	—	ने	—	२३	—	२५६
विश्वास	—	विनाश	—	१	—	२५७
देखने	—	देने में	—	१०	—	२६३
टेक	—	टैंक	—	१४	—	२६९
Foonteres	—	Frontier	—	४	—	३००
पर	—	या	—	१६	—	३०३
Ventral	—	Neutral	—	१०	—	३०९

सहायक ग्रन्थ-सूची

Bcdi	—	Bedi	—	२	—	३२३
Leonand walfe	—	Leonard woolf	—	३	—	३२३
Revied	—	Review	—	६	—	३२३
Nall	—	Noel	—	७	—	३२३
Tand	—	two	—	१४	—	३२४
Coyaju	—	Coyajii	—	१६	—	३२४